महाकविकालिदासकृत

मालविकाग्निमित्र

मूल, संस्कृत-व्याख्या, हिन्दी-टीका, अन्वय, श्लोक-सूची और विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका सहित

भूमिका ले०: डॉ० संसारचन्द्र

तथा

लेखक: प्रिंसिपल मोहनदेव पंत

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली · वाराणसी पटना

बंगलौर मद्रास

नवीन संस्करण : दिल्ली, १९७५
पुनर्मुद्रण : दिल्ली, १९८१, १९८७

मुख्य कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली ११० ००७
शाखाएँ : चौक, वाराणसी २२१ ००१
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
२४ रेसकोर्स रोड, बंगलौर, ५६० ००१
१२० रायपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, मद्रास ६०० ००४

मूल्य : रु० ३८

नरेन्द्रप्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ७
द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, ए-४५
फेज़-१, नारायणा, नई दिल्ली २८ द्वारा मुद्रित।

दो शब्द

देश को स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही शिक्षा-प्रणाली का माध्यम हिन्दी बन जाने से यह आवश्यक हुआ कि संस्कृत के सभी पाठ्य-ग्रन्थों का सम्पादन उसी आलोचनात्मक ढंग से हो जैसे अंग्रेजी माध्यम-प्रणाली से हुआ करता था। लेखक और डा० संसारचन्द्र ने मिलकर सबसे पहले कालिदास का 'मेघदूत' लिया और उसका विस्तृत आलोचनात्मक संस्करण निकाला। छात्र-वर्ग एवं विद्वानों द्वारा आदृत होने से हमें प्रोत्साहन मिला कि हम कालिदास की अन्य कृतियों के भी ऐसे ही संस्करण निकालें। इसलिए हम कवि के नाटकों में से सबसे पहला नाटक 'मालविकाग्निमित्र' ले रहे हैं। इसकी स्वरचित 'सरलार्थ-दीपिका' व्याख्या में लेखक ने वही आलोचनात्मक शैली अपनाई है। शब्दों का विश्लेषण करते हुए उसका कोई भी व्याकरणीय अंश नहीं छोड़ा है। पाठकों के सौकर्य के लिए पाणिनीय सूत्रों के आवश्यक संकेत भी यत्र-तत्र दे दिए हैं। धातुओं के सम्बन्ध में उनके 'गण' और 'परस्मैद' 'आत्मनेपद' आदि का भी उल्लेख कर दिया है। प्रत्येक समस्त पद का विश्लेषण करके समास या नाम तक भी बता दिया है। नाट्य-विधान के पारिभाषिक शब्दों एवं ग्रन्थ में आए हुए सभी पौराणिक तथा ऐतिहासिक संकेतों को विस्तृत टिप्पणों द्वारा स्पष्ट कर दिया है; साथ ही जहाँ-जहाँ कालिदास का भाव और विचार-साम्य उसकी अन्य कृतियों में मिला है, तुलनात्मक अध्ययन के लिए वहाँ के उद्धरण भी दे दिए हैं। जहाँ तक अनुवाद का प्रश्न है, उसे पाठकों—विशेषतः विद्यार्थियों को मूल संस्कृत के सरल, सुबोध और हृदयंगम बनाने के लिए यद्यपि शाब्दिक ही रखा है, फिर भी उसे भाषा का चलता रूप देने का पूरा प्रयत्न किया है, उसमें 'पण्डिताऊपन' नहीं आने दिया जो संस्कृत-अनुवादों में प्रायः दिखलाई देता है। इन सभी बातों को हमने मूल-पाठ के साथ देना ही ठीक समझा, अंग्रेजी संस्करणों की तरह ग्रन्थ के अन्त में या परिशिष्ट-रूप में

दूसरी दन्त-कथा के अनुसार इनका सम्बन्ध लंका के राजा कुमारदास (५०० ई०) से स्थापित किया गया है। यहाँ पर कालिदास राजा कुमारदास के अतिथि थे। उन्हीं दिनों इनकी मृत्यु एक लालची वेश्या के हाथों हुई। एक अन्य जन-श्रुति कालिदास को महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों में गिनती है। यह जन-श्रुति अधिक विश्वसनीय भी हो सकती है, क्योंकि कालिदास ने अपनी कृतियों में कई जगह 'विक्रम' शब्द का साभिप्राय प्रयोग करके प्रशंसा के रूप में अपने आश्रयदाता विक्रमादित्य की ओर संकेत किया है। इसके अतिरिक्त कालिदास के ग्रन्थ ही इस बात पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं कि उनका जीवन अवश्य ही किसी राज-सभा में व्यतीत हुआ होगा।

एक और जनश्रुति इन्हें राजा भोज का आश्रित कवि मानती है। भोज का काल १०५०—१०५४ ई० है। अतः यह जनश्रुति मान्य नहीं।

इन जनश्रुतियों के अतिरिक्त कालिदास के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में, उनके माता-पिता के सम्बन्ध में, उनके जन्म-स्थान आदि किसी के सम्बन्ध में भी हमें कुछ ज्ञात नहीं। हाँ, कालिदास की रचनाओं के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर हम उनके जीवन, मत, एवं विश्वासों के सम्बन्ध में कुछ अनुमान लगाने में समर्थ हुए हैं। वे बड़े सम्पन्न घर के थे। लक्ष्मीदेवी नित्यप्रति उन पर मुस्कराती रहती थी। दरिद्रता के कुटिल कटाक्ष का इन्होंने अपने जीवन में कभी अनुभव नहीं किया। ऐसी सम्पन्नता राजाश्रय के बिना कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकती। अतः स्पष्ट है कि वे अवश्य ही किसी राजा के आश्रय मे रहे होंगे। यह राजा अवश्य ही विक्रमादित्य होगा।

कालिदास जाति के ब्राह्मण थे। वे शिव के उपासक होते हुए भी साम्प्रदायिक संकीर्णता से बहुत ऊपर थे। उन्होंने त्रिमूर्ति के शेष दो देवता ब्रह्मा तथा विष्णु के प्रति बड़ा सम्मान प्रदर्शित किया है शैवधर्म से सम्बन्धित ग्रन्थ कुमारसम्भव में जब ऋषि आदि तारकासुर के ध बके उपाय के लिए उनके पास पहुँचते हैं, उन्होंने ब्रह्मा की निम्नलिखित श्लोक में प्रशंसा की है :—

अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम्।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे॥ २—५

यही नहीं, उन्होंने सभी देवताओं को एक ही शक्ति का पृथक्-पृथक् रूप बताया है। उदाहरणस्वरूप रघुवंश के निम्नलिखित श्लोक में शिव समेत सभी देवताओं को उन्होंने विष्णु का रूप बताया है। देखिये—

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने। १०—१

कुछ विद्वानों के अनुसार उपर्युक्त ब्रह्मा तथा विष्णु की स्तुति विषय की आवश्यकता के कारण हो सकती है। यदि ऐसा स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी उक्त रूप में की गई प्रशंसा किसी कट्टर शैव-पन्थी की लेखनी से सम्भव नहीं, अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचना न्याय-संगत है कि कालिदास धार्मिक विषयों मे संकुचित हृदय नहीं रखते थे।

महान् यात्री—कालिदास एक महान् यात्री थे। उन्होंने देश के प्रायः सभी भागों में—विशेष कर उत्तर भारत में, खूब भ्रमण किया था। उत्तर में होने वाला काश्मीर का केशर पुष्प, हिमालय के देवदारु-वृक्ष और हिम-धवलित चोटियाँ, कलिंग देश के नारिकेल वृक्ष, ताम्रपर्णी की मोतियों की सीपियां समुद्र तथा इसी तरह अन्य कई स्थान तथा पदार्थ इनकी सूक्ष्मस्पर्शनी लेखनी द्वारा बड़े भव्य रूप में चित्रित किये गये हैं। रघु-दिग्विजय का वर्णन इतना सजीव एवम् स्वाभाविक है कि उसे पढ़ कर पाठक यह कहे बिना नहीं रह सकता कि कालिदास ने इन स्थलों को अवश्य देखा होगा। कुमारसम्भव मे हिमालय का ठीक-ठीक भौगोलिक वर्णन उपरिदत्त विचार का प्रतिपादन करता है। कोंकण प्रदेश में बीज बोने से पहले जमीन को जलाने की क्रिया भी इस मत की पुष्टि करती है। रघुवंश में पुष्पक विमान द्वारा राम के लङ्का से लौटने के अवसर पर लङ्का से अयोध्या तक समस्त प्रदेशों का सजीव वर्णन भी वही कर सकता है, जिसने उन प्रदेशों को अपनी आँखों से देखा हो। मेघदूत में मेघ की यात्रा-निमित्त मार्ग का

जैसा वर्णन यक्ष ने किया है, वैसा वर्णन कोई भी कल्पनाशील व्यक्ति घर पर बैठ कर नहीं कर सकता, अतः स्पष्ट है कि कालिदास एक महान् पर्यटक होंगे।

कालिदास बड़े जितेन्द्रिय, एक पत्नीव्रत को धारण करने वाले उच्च चरित्रवान् व्यक्ति थे। वे शृंगार सम्बन्धी शिथिलता को सहन नहीं कर सकते। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में कभी भी शृंगार का वर्णन शिष्टता की सीमा से वाहर नहीं गया। स्थान-स्थान पर उन्होंने पर-स्त्री सम्बन्धी अपने जो विचार दिये हैं, वे हमारे इस निष्कर्ष को पुष्ट करते हैं। कुछ उदाहरण देखिये—

१. अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्—(पर-स्त्री को नहीं देखना चाहिए)

२. असंशयं क्षत्र-परिग्रह-क्षमा—(निस्सन्देह क्षत्रिय द्वारा ग्रहण किए जाने जाने के योग्य है।)

३. वशिनां रघूणां मनः परस्त्री-विमुख-प्रवृत्तिः—(जितेन्द्रिय रघुवंशियों का मन परस्त्री की ओर नहीं झुकता।)

ऐसा वर्णन विषय की आवश्यकता के कारण नहीं किया गया। यह तो कालिदास की आत्मा की झलक है। यही कारण है कि वे गान्धर्वविवाह में बड़ी सावधानी वरतने को कहते है।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्॥
(शकुन्तला ३—२४)

कालिदास के ग्रन्थों के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि कालिदास उच्च कोटि के विद्वान् थे। विद्या के विविध अंगों में उन्हें पर्याप्त निपुणता प्राप्त थी। वेद-वेदाङ्गों, उपनिषदों, षड्-दर्शनों, स्मृतियों, पुराणों का पूरा-पूरा ज्ञान तो था ही, पर साथ ही आयुर्वेद, ज्योतिष, कामशास्त्र, नृत्य, संगीत, मृगया और चित्रकला से भी वे पर्याप्त परिचित थे।

कालिदास उच्च कोटि के प्रकृतिप्रेमी भी थे। परन्तु प्रकृति का

कोमल पक्ष ही उन्हें अपनी ओर खींच सका। भवभूति ने प्रकृति के दोनों रूपों का वर्णन किया है, पर उनका अधिक झुकाव प्रकृति के वीभत्स रूप की ओर ही था। कोकिला की मधुर कूक, नदियों का नद-नद शब्द, नृत्य करते हुए अपने प्रेमी समुद्र को मिलने के लिए जाना, उद्यानों का फूल से भरे होना आदि ही कालिदास को अपनी ओर खींच सके।

कालिदास जीवन में सुखी रहे होंगे। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में कहीं भी निराशावाद की, क्षणभंगुरता की झलक नहीं दिखाई पड़ती।

स्थितिकाल—कालिदास का स्थितिकाल संस्कृत-साहित्य के इतिहास में बड़ा विवाद-ग्रस्त विषय है और इस पर आलोचकगण अभी तक एक-मत नहीं हो सके। काल की अवर सीमा का प्रमाण तो हमारे पास ६२० ई० में वर्तमान बाण कवि है, जिसने अपने हर्षचरित ग्रन्थ में कालिदास की प्रशंसा की है और साथ ही एहोल (Aihole) का शिलालेख (६३४ ई०) भी प्राप्त हुआ है, जिसमें कालिदास के नाम का स्पष्ट उल्लेख है। इस आधार पर कालिदास का सातवीं शताब्दी (ई०) या उससे पीछे होना सर्वथा असम्भव है। काल की पूर्ववर्ती सीमा प्रथम शताब्दी (ई० पू०) ठहरती है, क्योंकि कालिदास कृत मालविकाग्निमित्र में वर्णित शुंग-वंश प्रवर्त्तक अग्निमित्र का काल प्रथम शताब्दी ई० पू० का है और साथ ही कवि का आश्रयदाता विक्रमादित्य प्रथम शताब्दी ई० पू० का है, जिसने ५७ ई० पू० में अपना विक्रम सम्वत् चलाया। इन दोनों पूर्वापर सीमाओं के बीच सन्देहदोला में लटकता हुआ कवि का स्थितिकाल भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा अपने-अपने विचारानुसार भिन्न-भिन्न ही नियत किया जाता है। काल के विषय पर प्रचलित निम्नलिखित तीन वाद हैं—

१. छठी शताब्दी वाला कहरूरवाद (The Korur Theory)।

२. पाँचवीं शताब्दी वाला गुप्तकालीन-वाद अथवा संस्कृत का पुनरुज्जीवन-वाद (The Theory of Renaissance)।

३. प्रथम शताब्दी ई० पू० वाला वाद।

छठी शताब्दी वाला वाद—फर्गूसन (Ferguson) महोदय का विचार है कि कहरूर युद्ध भारतीय इतिहास में एक नया युगान्तर उपस्थित करता है, जिसमें उज्जयिनी के राजा हर्ष विक्रमादित्य ने म्लेच्छों को पराजित करके विजय के उपलक्ष्य में स्मारक-स्वरूप विक्रम संवत् चलाया और उसे प्राचीनता देने के लिए ६०० वर्ष पूर्व अर्थात् ५७ ई० पू० माना। इस मत की पुष्टि में कवि की रचनाओं में आए हुए यवन, शक, हूण, पल्लव आदि जातियों का नामोल्लेख किया गया है। हूणों ने ५०० ई० में भारत पर आक्रमण आरम्भ किया था, इस कारण कालिदास का स्थिति-काल उसके पश्चात् सिद्ध होता है और वह छठी शताब्दी ई० है। भारतीयों में के० बी० पाठक भी अभी तक इसी छठी शताब्दी वाले मत के समर्थक हैं।

कुछ समय तो यह मत प्रचलित रहा, क्योंकि तब तक प्राचीन अनुसन्धान के आधार पर कोई भी ऐसा शिला-लेख प्राप्त नहीं हुआ था, जो विक्रम संवत् ६०० से पूर्व का हो, किन्तु हाल ही में मन्दसोर (Mandsor) का शिला-लेख मिला है, जिसमें विक्रम संवत् ४७३ का उल्लेख है। इसमें वत्सभट्टि-रचित कुछ ऐसे पद्य भी हैं, जो कालिदास के ऋतुसंहार और मेघदूत के कुछ पद्यों का बलात् स्मरण करवा देते हैं। कालिदास—जैसे विद्वान् ने इन पद्यों का अनुकरण किया होगा—यह मान्य नहीं। अतः स्पष्ट है कि कालिदास इस शिला-लेख के लिखने की तिथि से पहले हुए होंगे। इसके अतिरिक्त फर्गूसन वाले मत में विक्रम सम्वत् ६०० वर्ष पूर्व क्यों माना गया? इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर नहीं है। रघुवंश में आए हुए हूण आदि को राजा रघु ने अपनी दिग्विजय में भारत की सीमा के बाहर पराजित किया था न कि उन्होंने भारत पर आक्रमण किया था। अब तो प्रो० आप्टे महोदय के अनुसन्धानों ने सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन भारतीय सीमा से बाहर बैक्टरिया से परे तीसरी शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० पू० तक हूणों ने अपना साम्राज्य स्थापित कर रखा था। इन युक्तियों के आगे फर्गूसन का छठी शताब्दी वाला वाद निराधार हो जाता है।

गुप्तकालीनवाद—पाश्चात्य विद्वानों का अधिकतर विचार है कि गुप्त-वंशी राजाओं का शासन-काल भारत के इतिहास का सुवर्ण-युग है। सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को भारत से वाहर निकाल कर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी और अपने से पूर्व प्रकाशित मालव संवत् को विक्रम संवत् के नाम से चलाया था। विक्रमादित्य उपाधि धारण करने के उपलक्ष्य में 'विक्रमोर्वशीय' और चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमार-गुप्त के पैदा होने के उपलक्ष्य में 'कुमारसंभव' की रचना कर कालिदास ने इन दोनों उत्सवों को अमर कर दिया। रघुवंश में वर्णित रघु की दिग्विजय और प्रयाग की हरिषेण-कृत प्रशस्ति में वर्णित समुद्रगुप्त (३३६—३७५ ई०) की दिग्विजय में वड़ी समानता मिलती है। मालविकाग्निमित्र में वर्णित अश्वमेध समुद्रगुप्त-कृत अश्वमेध को ही लक्ष्य करता है। गुप्त-लोगों का सम्पन्न तथा आनन्द-प्रमोदमय जीवन मेघदूत (३०) के उज्जयिनी-वर्णन तथा ऋतुसंहार में भलीभाँति प्रतिविम्बित हुआ है। विक्रम सम्वत् की तरह कवि का 'गुप्' धातु तथा उससे बने 'गुप्त' आदि शब्दों का पुनः पुनः प्रयोग साभिप्राय है और इसमें अपने आश्रयदाता गुप्त-वंशीय सम्राटों की ओर व्यंजना है।

इसके अतिरिक्त मैक्डोनेल (Macdonell) का संस्कृत पुनरुज्जीवन वाद भी कालिदास का गुप्तकालीन होना सिद्ध करता है। मैक्डोनेल के अनुसार वेदों के काल से लेकर प्रथम शताब्दी ई० तक संस्कृत का उन्नति काल है। तत्पश्चात् मध्यान्तर काल आ जाता है, जिसमें विदेशियों के सतत आक्रमण होते रहने के कारण साहित्य-कला प्रसुप्त रही। छठी शताब्दी में विक्रमादित्य के शासन के साथ पुनर्जागरण हुआ और कालिदास इसी नए युग के प्रतिनिधि कलाकार हैं।

इस वाद की पुष्टि में यह भी कहा जाता है कि बौद्ध कवि अश्वघोष (७८ ई०) के और कालिदास के काव्यों में कहीं-कहीं बहुत साम्य है। बुद्ध चरित (सर्ग ३–१३–१९) में सिद्धार्थ का बाजार में पहली वार जलूस और रघुवंश (सर्ग ८–५–१२) में अज का जलूस एक-जैसे हैं। बुद्ध-चरित सर्ग

१३–६ में मार का सिद्धार्थ पर आक्रमण और कुमार-सम्भव सर्ग ३–६ में काम का शिव पर आक्रमण एक-से ही हैं । बुद्ध-चरित में स्तन-तट से गिरे हुए वसन वाली किसी प्रसुप्त स्त्री को, फेन से हँसती हुई तटों वाली नदी से उपमा तथा मेघदूत (६५) में दी हुई उपमा में समानता है । सौन्दरनन्द में 'सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ, तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः" (४, ४२) और कुमारसम्भव में "मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराज-तनया न ययौ न तस्थौ" । (५-८५) की उपमाओं में बड़ा साम्य है । बहुत से अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि कालिदास की कला स्व-पूर्ववर्ती अश्वघोष से बहुत प्रभावित है ।

उपर्युक्त वाद में सन्देह के बहुत स्थान हैं और इसके विरुद्ध कुछ ऐसे प्रश्न भी उपस्थित होते हैं, जिनका हमें संतोष-प्रद उत्तर मिलना चाहिए । सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपना नया सम्वत् न चलाकर अपने से पूर्व प्रचलित मालव संवत् को अपने नाम से क्यों चलाया ? चन्द्रगुप्त के पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपना जो गुप्त-वंश चला रखा था, उसे ही क्यों न प्रचलित रहने दिया ? इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा प्रकाशित किए जाने वाले विक्रम सम्वत् का उसके अनन्तर की शताब्दियों में उल्लेख क्यों नहीं आया ? चन्द्रगुप्त द्वितीय के पौत्र स्कन्दगुप्त के गिरिनार वाले शिलालेख में विक्रमसम्वत् का उल्लेख न आकर गुप्तसम्वत् का ही उल्लेख आया है । इसलिए चन्द्रगुप्त द्वितीय के विक्रम संवत् चलाने की बात ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी कच्ची प्रतीत होती है । साथ ही एक और बात भी ध्यान देने योग्य है और वह यह कि गुप्तवंशीय सम्राटों में से किसी का भी नाम विक्रमादित्य न था—चन्द्रगुप्त द्वितीय की उपाधिमात्र थी । उपाधि लेने के लिए कोई पूर्ववर्ती विक्रमादित्य नामक महान् सम्राट् अपेक्षित है जो कि परवर्ती राजाओं के लिए अनुकरणीय बने; अतः 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी चन्द्रगुप्त से बहुत पूर्व विक्रमादित्य नाम का कोई सम्राट् हुआ होगा और वही कालिदास का असली आश्रय-दाता हो—यही क्यों न

माना जाए ? 'कुमार', 'गुप्त' आदि शब्द व्यङ्ग्य अर्थ में न प्रयुक्त होकर अपने ही मुख्य अर्थ में भी तो प्रयुक्त हुए माने जा सकते हैं। इसी तरह रघुवंश के दिग्विजय का सम्बन्ध समुद्रगुप्त के अश्वमेध से न जोड़कर किसी अन्य सम्राट् के अश्वमेध से भी तो जोड़ा जा सकता है। पुराण-ग्रन्थों में अनेकों दिग्विजयों का वर्णन आता है। मैक्डानल के पुनरुज्जीवन काल से पूर्व का मध्यान्तर काल साहित्यिक रचनाओं से बिल्कुल-शून्य नहीं रहा है जैसा कि डा० पीटरसन (Peterson) और डा० बुहलर (Buhler) ने भी माना है। यदि कालिदास को नव-जागरण-युग का कवि मान भी लिया जाए, तो उन्हें मैक्डानल द्वारा निर्दिष्ट काल से बहुत पहले प्रथम शताब्दी ई० पू० में मानना पड़ेगा, क्योंकि वही नव-निर्माण युग था। बाद के अनुसंधानों ने तो अब मैक्डानल का पाँचवीं शताब्दी वाला पुनरुज्जीवनवाद सर्वथा भ्रान्त सिद्ध कर दिया है। अब रही अश्वघोष के साथ साम्य वाली बात। यह तो सिद्ध ही है कि अश्वघोष एक बौद्ध दार्शनिक था और बौद्ध सिद्धान्तों का जनसाधारण में प्रचार करना चाहता था जैसा कि स्वयं उसने स्वीकार भी किया है। इसी लिए उसने काव्य-कला का आश्रय लिया था। प्रारम्भिक बौद्धसाहित्य पाली प्राकृत में लिखा हुआ मिलता है। अश्वघोष का पाली के स्थान में संस्कृत को अपनाने का यही कारण हो सकता है कि उस समय तक संस्कृत का उत्थान हो चुका था और वह एक लोकप्रिय भाषा बन गई थी, अतएव क्यों न कालिदास को अश्वघोष का पूर्ववर्ती मान लिया जाए, जिनके काव्य से अश्वघोष ने प्रेरणा ली। कालिदास—जैसे विशाल प्रतिभा-सम्पन्न विश्ववन्द्य कलाकार की अपेक्षा काव्यक्षेत्र में अवतीर्ण एक बौद्ध दार्शनिक का ही कालिदास से प्रेरणा लेना अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त अश्वघोष का सम्बन्ध उस समय से है जब कि संस्कृत भाषा में कृत्रिमता आने लगी थी और शैली कालिदास की शैली-जैसी स्वाभाविक न रह कर कुछ जटिल और प्रयाससाध्य बन रही थी। प्रो० झाला महोदय ने अश्वघोष के निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा यह बात सिद्ध कर दी है—

"रामेऽभिरेमे विरराम पापाद् भेजे दमं संविबभाज साधून्

(बुद्ध० २, २३)

"नाध्यैष्ट दुःखाय परस्य विद्यां ज्ञानं शिवं यत्तु तदध्यगीष्ट .

(बुद्ध० २, ३५)

"यत्र स्म मीयते ब्रह्म कैश्चित् कैश्चिन्न मीयते ।
काले निर्मीयते सोमां न चाकाले प्रमीयते ॥ (सौन्दर १, १५)

इन श्लोकों में भट्टि-जैसे परवर्ती श्रेण्य (Classical) ग्रन्थकारों की गन्ध आ रही है।

इन तर्कों के आधार पर छठी शताब्दी वाले कहरूरवाद की तरह पाँचवीं शताब्दी वाला गुप्तकालीन वाद भी निराधार प्रमाणित हो जाता है।

प्रथम शताब्दी ई० पू० वाला वाद—भारतीय विद्वान् प्रायः सभी प्रथम शताब्दी ई० पू० वाले वाद के समर्थक हैं। कवि के विक्रमादित्य से सम्बन्ध का तो कोई प्रत्याख्यान कर भी नहीं सकता, क्योंकि वह अन्तरङ्ग साक्ष्य से भली भाँति सिद्ध ही है, किन्तु वे विक्रमादित्य आदि-विक्रमादित्य ही थे, जो मालव प्रदेश के परमारवंशीय राजा थे और जिनकी राजधानी उज्जयिनी थी। प्रथम शताब्दी ई० में वर्तमान गुणाढ्य-कृत वृहत्कथा में वर्णित विक्रमादित्य वे ही प्रतीत होते हैं। सर्व-प्रथम आक्रमण में शकों को उन्होंने ही परास्त किया था और विजय के उपलक्ष्य में ५७ ई० पू० अपने नाम का विक्रम सम्वत् चलाया। उन्होंने ही म्लेच्छों का ध्वंस करके बौद्ध और जैन धर्मो को हटा कर उज्जैन में महाकाल शिव का मन्दिर बनवाया। यही कारण है कि कालिदास की रचनाओं में शिव का तथा शिव की उपासना का अधिक उल्लेख हैं। इसके अतिरिक्त गुप्तवंशीय सम्राट् वैष्णव थे और उनकी राजधानी पाटलीपुत्र थी, न कि उज्जयिनी। अतः उज्जयिनी के महेन्द्रादित्य के पुत्र परमारवंशीय विक्रमादित्य ही आदि विक्रमादित्य थे—यह आधुनिकतम ऐतिहासिक अनुसन्धानों द्वारा सिद्ध हो गया है। कालिदास उन्हीं आदि-

विक्रमादित्य के आश्रय में रहे थे। विक्रमोर्वशीय नाटक में 'इन्द्र' के स्थान में सर्वत्र 'महेन्द्र' शब्द देकर कवि ने अपने आश्रयदाता के पिता महेन्द्रादित्य के नाम को भी अमर बनाना चाहा। उज्जयिनी की जनता के समक्ष जब यह नाटक खेला गया होगा, तो जनता को विक्रम और महेन्द्र शब्दों का पुत्र और पिता की ओर संकेत समझने में कोई कठिनता नहीं हुई होगी और यह नाटक सम्भवतः महेन्द्रादित्य के राजकार्य से अवकाशग्रहण और विक्रमादित्य के यौवराज्याभिषेक के अवसर पर खेला गया होगा। कालिदास का अपने रघुवंश में सूर्यवंशी राजाओं को कथा-नायक बनाने का कारण भी यही हो सकता है कि महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य उस राजवंश से सम्बन्ध रखते हैं जो आदित्य (सूर्य) से चला हुआ था। रघुवंश में दिलीप और उसके पुत्र रघु का वर्णन तथा बृहत्कथा पर आधारित कथासरित्सागर में आये हुए महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य के वर्णन परस्पर बहुत मिलते-जुलते हैं। इसमें कालिदास उन्हीं आदि-विक्रमादित्य के सम-सामयिक प्रतीत होते हैं। मेघदूत में आया हुआ वत्सराज उदयन का संकेत तथा मालविकाग्निमित्र का अन्तरङ्ग साक्ष्य भी कवि को प्रथम शताब्दी ई० पू० की ही ओर खींचते हैं। इसके अतिरिक्त प्रो० आप्टे महोदय शकुन्तला-नाटक से दो अन्तरङ्ग प्रमाण उद्धृत करते हैं, एक तो शकुन्तला में छटे अंक में निस्सन्तान श्रेष्ठी धनदत्त की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति का उसकी विधवा को न मिल कर राज्य-अधिकार में चला जाना - (राजगामी तस्यार्थसञ्चयः) इससे यह सिद्ध होता है कि कवि के समय में विधवा का पति की सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होता था और ऐसा समय ई० पू० में ही मिलता है जबकि मनु, आपस्तम्ब और वशिष्ठ आदि स्मृतिकारों की ही तूती बोलती थी और बृहस्पति, शंख, लिखित तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ नहीं लिखी गई थीं। दूसरा प्रमाण है शाकुन्तल में अंगूठी चुराने के अपराध में वध-दण्ड देना, ("प्रस्फुरतो मम हस्तावस्य वधस्य सुमनसः पिनद्धुम्" । "नार्हसि भावोऽकारणमारणो भवितुम्" ।) जो रत्न चुराए जाने पर विक्रमोर्वशीय में भी आता है ("आत्मनः वधमाहर्त्ता—") यद्यपि चोर वहाँ पक्षी था। चोरी के लिए कठोर प्राण-

दण्ड का विधान मनु और आपस्तम्ब का किया हुआ हैं जो उत्तरोत्तर हल्का किया जाता हुआ बाद को वृहस्पति-स्मृति में अर्थ-दण्ड के साथ विकल्प रूप में (Optional) रह गया। इन दो घटनाओं से सिद्ध होता है कि कालिदास अवश्य वृहस्पति के पूर्वतन काल से सम्बन्ध रखते हैं और वृहस्पति को सर्वसम्मति से प्रथम शताब्दी का माना गया है। इसके साथ-साथ कालिदास की भाषा और शैली भी मध्ययुगीन दण्डो, बाण, भवभूति आदि की तरह कृत्रिम, समासबहुला और प्रयास-साध्य नहीं है और यह एक ऐसी बात है, जो कालिदास का काल उनसे छः अथवा सात शताब्दी पहले रखती हैं। कालिदास के कुछ अप्रसिद्ध प्रयोग भी, जो पाणिनि-नियमों को तोड़ कर किये गये हैं, उसी काल की ओर संकेत करते हैं। इन सब प्रमाणों और उपपत्तियों से यही सिद्ध होता है कि कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० है। पाश्चात्य विद्वानों में डा० पीटरसन भी इसी मत के समर्थक हैं।

कालिदास का जन्मस्थान—जन्मकाल की तरह कालिदास के जन्मस्थान के सम्बन्ध में भी बड़ा भारी मतभेद चल रहा है। विश्व-विख्यात इस महान् कवि को अपनाने में भारत के विभिन्न प्रदेश प्रयत्नशील हैं। इस सम्बन्ध में बहिरङ्ग साक्ष्य से कोई भी सहायता नहीं मिलती। हाँ, अन्तरंग साक्ष्य के आधार पर विभिन्न प्रदेश-निवासी विद्वानों ने उन्हें विभिन्न प्रदेशों का बताया है। काश्मीरी लोगों का कहना है कि कालिदास काश्मीर-भूमि के थे, क्योंकि इनकी रचनाओं में हिमालय, उसमें होने वाले पदार्थ तथा केशर-पुष्प का वर्णन आता है। 'प्रत्यभिज्ञान' का पुनः पुनः प्रयोग करके कालिदास ने काश्मीर के 'प्रत्यभिज्ञान' शैव सम्प्रदाय की ओर ही संकेत किया है। बंगाल के विद्वान् कालिदास को काली माता की उपासना वाली दन्त-कथा का आश्रय लेकर वंगदेशीय कहते हैं, क्योंकि काली की उपासना का अधिकतर प्रचार वंगदेश में ही है। इसी तरह कुछ विद्वान् वैदर्भी रीति के आधार पर उन्हें विदर्भ (बरार) का निवासी मानते हैं और कुछ लङ्का के राजा कुमारदास के साथ कालिदास के सम्बन्ध के आधार पर लङ्का को

कालिदास का निवास-स्थान मानते हैं। कुछ लोग गुप्तकालीन मगध-नरेश विक्रमादित्य से उसका सम्बन्ध स्थापित करके उसे मगध का निवासी प्रमाणित करते हैं। इसी प्रकार मेघदूत में वर्णित क्रौञ्च पर्वत, हंस, मणितट, मानससरोवर यात्रा, शिवपार्वती के नृत्यों में मणिपुरी नृत्यकला की झलक से कामरूप तथा वहाँ के लोक-गीतों के आधार पर उन्हें आसाम का निवासी मानते हैं और कुछ हिमालय का मूलनिवासी समझते हैं। अधिकांश मत कालिदास को उज्जयिनी का मानने के पक्ष में हैं। मेघदूत में कालिदास ने उज्जयिनी का बड़ा मनोरम एवं सजीव चित्रण किया है। सिप्रा नदी तथा महाकाल के मन्दिर का वर्णन तो बड़ा ही भव्य हुआ है, और फिर जन-श्रुति के आधार पर कालिदास उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के समकालीन रहे हैं, अतः कुछ विद्वानों के अनुसार कालिदास का निवासस्थान उज्जैन भी रहा होगा।

उपरिदत्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर तो पहुँच सकते हैं कि कालिदास का निवास-स्थान उज्जैन होगा, परन्तु उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कह सकते। अतः उनके जन्मस्थान तथा मृत्युस्थान का प्रश्न पूर्णतया अन्धकारावृत है।

कालिदास की रचनाएँ—वैसे तो कालिदास के नाम से रचित ग्रन्थों की प्रचलित संख्या ४० से भी ऊपर जाती है, परन्तु प्रायः सर्वसम्मति से सात ही ग्रन्थ उनके माने जाते हैं। इनमें से दो महाकाव्य हैं—कुमारसम्भव तथा रघुवंश। दो खण्डकाव्य—ऋतुसंहार और मेघदूत और तीन नाटक—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल। इनमें से कुमारसम्भव १७ सर्गों का महाकाव्य है परन्तु विद्वानों के अनुसार प्रथम आठ सर्ग ही कालिदास के हैं। ऋतुसंहार के सम्बन्ध में भी मतभेद है। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत के हैं कि ऋतुसहार कालिदास की सर्व प्रथम रचना है, इसलिए उसकी शैली आदि कालिदास के अन्य ग्रन्थों से नहीं मिलती। सूक्ष्मपर्यवेक्षण के आधार पर हम इनमें कवि की प्रतिभा और कला का

क्रमिक विकास एवं परिपाक स्पष्ट देखते हैं। कोई वाह्य साक्ष्य न होने पर तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इनकी रचनाओं का निर्माण-क्रम इस प्रकार रखा जा सकता है—काव्यों में ऋतुसंहार, कुमारसम्भव, मेघदूत और रघुवंश तथा नाटकों में मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल। सम्मिलित रूप से इनका रचनाक्रम निम्न प्रकार से निश्चित किया गया है—ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र, कुमारसम्भव, विक्रमोर्वशीय, मेघदूत, रघुवंश तथा अभिज्ञानशाकुन्तल (अथवा अभिज्ञान-शाकुन्तल तथा रघुवंश)। उक्त सात रचनाओं के अतिरिक्त अन्य रचनाएँ जो कालिदास के नाम पर मढ़ दी गई हैं, वे उक्त ग्रन्थों के रचयिता कालि-दास की नहीं हो सकती या तो उनका रचयिता कोई और कालिदास होगा या कुछ अप्रसिद्ध कवियों ने अपनी रचनाओं को कालिदास के नाम पर मढ़ दिया होगा। सस्कृत-साहित्य में तीन कालिदास हो चुके हैं। अन्य दो कालि-दासों के सम्बन्ध मे भी हमारा ज्ञान शून्य है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त जितनी भी रचनाएँ कालिदास के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे सब इन दोनों विद्वानों की रचनाएँ हो सकती हैं। इन दो कालिदासों के अस्तित्व का ज्ञान हमें राजशेखर के निम्नलिखित पद्य से होता है :—

एकोऽपि जीयते हन्त! कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥

कालिदास के नाम पर प्रचलित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :—

१. शकुन्तला, २. विक्रमोर्वशीय, ३. मालविकाग्निमित्र, ४. रघुवंश, ५. कुमारसम्भव, ६. मेघदूत, ७. कुन्तेश्वरदौत्य, ८. ऋतुसंहार, ९. अम्बास्तव, १०. कल्याण स्तव, ११. काली स्तोत्र, १२. काव्य-नाटकालंकार, १३. गङ्गाष्टक, १४. गङ्गाष्टक (दूसरा), १५. घटकर्पर, १६. चण्डिका-

दण्डस्तोत्र, १७. चर्चास्तव, १८. ज्योतिर्विदाभरण, १९. दुर्घटकाव्य, २०. नलोदय, २१. नवरत्न माला, २२. पुष्प-वाण-विलास, २३. मकरन्द स्तव, २४. मङ्गलाष्टक, २५. महा-पद्याष्टक, २६. रत्नकोश, २७. राक्षसकाव्य, २८. लक्ष्मीस्तव, २९. लघुस्तव, ३०. विद्वद्विनोद काव्य, ३१. वृन्दावन काव्य, ३२. वैद्यमनोरमा, ३३. शुद्धिचन्द्रिका, ३४. शृङ्गार तिलक, ३५. शृङ्गार-रसाष्टक, ३६. शृंगार-सार-काव्य, ३७. श्यामलादण्डक, ३८. श्रुतवोध नया, ३९. सेतुवन्ध। इनमें से कुन्तेश्वरदौत्य उपलब्ध नहीं है। काश्मीरी पण्डित क्षेमेन्द्र ने इसके एक पद्य को उद्धृत किया है।

ऋतु संहार—संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों में प्रकृति का षड्ऋतुओं के रूप में वर्णन यथास्थान पाया जाता है, पर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकृति का वर्णन करने वाला केवलमात्र एक ग्रन्थ ऋतुसंहार ही है। ऋतुओं के परिवर्तन के साथ-साथ प्रकृति में भी परिवर्तनस्वरूप नवीनता एवं विचित्रता आती है। यह प्राकृतिक विचित्रता केवल प्राकृतिक पदार्थों तक ही सीमित नहीं रहती अपितु पारस्परिक प्रेम-भावनाओं से उद्वेलित प्रेमी और प्रेमिकाओं के हृदयों को प्रभावित करती हुई उनमें परिवर्तित ऋतुओं के अनुसार प्रणय क्रीडाएँ एवं शृंगारिक चेष्टाएँ उत्पन्न करती है। इस प्रकार ऋतुसंहार में प्रकृति के वाह्य सौन्दर्य का मानव के अन्तःकरण में उत्पन्न परम पवित्र प्रेम भावना के साथ एक अलौकिक कान्त संयोग है। ऋतुसंहार छः सर्गों में लिखा गया १४४ पद्यों का एक गीतिकाव्य है, जिसमें ग्रीष्म से आरम्भ करके क्रमशः षड् ऋतुओं का वड़ा स्वाभाविक एवं चित्ताकर्षक वर्णन है। वहुत समय तक कतिपय विद्वान् भाषा, भाव और शृंगार के नैतिक दृष्टि-कोण के अपरिष्कृत होने के कारण इस रचना को कालिदास-कृत नहीं मानते थे, किन्तु वाद के अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो गया है कि कवि का काव्य-निर्माण की ओर यह सर्वप्रथम प्रयास है। इसी कारण इसकी भाषा और भाव परिष्कृत नहीं है और उच्च नैतिक स्तर का अभाव भी पद-पद पर अखरता है। कीथ और मैक्डानल आदि पाश्चात्य समालोचकों

के अनुसार ऋतुसंहार में दिखलाई देने वाला सूक्ष्म प्रकृतिवीक्षण, प्रकृति के प्रति गहरी सहानुभूति एवं प्रसाद गुण की रमणीयता इत्यादि विशेषताएँ इस ग्रन्थ पर कालिदास की अमिट छाप लगाए हुए हैं।

कुमार-सम्भव—कालिदास का यह महाकाव्य है। इसमें तारकासुर से उत्पीड़ित देवताओं का ब्रह्मा से प्रार्थना करना, परिणामतः शिव-पार्वती का विवाह, कार्तिकेय का जन्म तथा तारकासुर का वध वर्णित है। यह महाकाव्य १७ सर्गों में लिखा गया है, परन्तु इसके प्रथम आठ सर्ग ही कालिदास-कृत हैं। इस मत की पुष्टि में यह कहा जाता है कि इन सर्गो पर मल्लिनाथ की टीका है। यदि अन्य सर्ग भी कालिदास-कृत होते, तो इन पर भी मल्लिनाथ अवश्य अपनी टीका लिखते। दूसरे, अन्य सर्गों की भाषा और शैली भी पहले सर्गों की भाषा और शैली से मेल नहीं खाती। यह ग्रन्थ कुमार-कार्तिकेय की उत्पत्ति तक ही सीमित नहीं, अपितु आगे जाकर कुमार द्वारा तारकासुर के वध को भी अपनी कथा का विषय बनाता है। कालिदास जैसे विद्वान् से यह सम्भव नहीं कि वह शीर्षक के अनुसार ही अपने ग्रन्थ को रचना न करे। हो सकता है कि महाकाव्य का लक्षण संगत करने के लिए अपूर्ण कथा को पूर्ण करने के लिए किसी अन्य विद्वान् ने ९—१७ तक के सर्गों को रचना करके उन्हें कालिदास के नाम पर मढ़ दिया हो।

रघुवंश—यह कवि का अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें १९ सर्ग हैं और दिलीप से लेकर सभी रघुवंशी राजाओं यथा—रघु, अज, दशरथ, राम तथा राम के वंशजों का वर्णन है। सारा ग्रन्थ कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा, परिपक्व कला एवं भारतीय संस्कृति का भव्य निदर्शन है।

विक्रमोर्वशीय—विक्रमोर्वशीय कालिदास का दूसरा नाटक है। यह पाँच अंकों का एक त्रोटक है। इसमें राजा पुरूरवा तथा उर्वशी की प्रणय-कथा इस प्रकार वर्णित है—उर्वशी को केशी दैत्य से मुक्त कराने के अवसर पर राजा पुरूरवा उसके सौन्दर्य पर मोहित हो जाते हैं। भरत मुनि के शाप

के परिणामस्वरूप उर्वशी मृत्युलोक में आई और तब वह राजा के साथ कुछ समय व्यतीत करती है। एक बार मन्दाकिनी नदी के तट पर क्रीड़ा में लीन किसी विद्याधर की कुमारी की ओर राजा पुरूरवा के देखने पर रुष्ट हो कर उर्वशी पास के गन्धमादन नाम उद्यान में प्रवेश कर गई। कार्तिकेय के नियम के अनुसार जो भी स्त्री इस वन में प्रवेश करेगी, लता बन जाएगी, अतः उर्वशी भी लता के रूप में परिणत हो गई। इस अवसर पर राजा सच्चे प्रेमी का हृदय लिए हुए, वियोग-पीड़ा से उत्पीड़ित होकर विलाप करता हुआ, इधर-उधर भटकता रहा। यहाँ पर नाटक की कथा कुछ स्थगित सी हो जाती है। सौभाग्य से संगमनीय मणि के प्रभाव से उर्वशी पुनः अपने पूर्वरूप को प्राप्त कर गई। तदनन्तर दोनों राजधानी लौट जाते हैं। कुछ समय पाकर उर्वशी के गर्भ से पुत्र उत्पन्न हुआ, तब उर्वशी इन्द्र की आज्ञा के अनुसार स्वर्ग लौट जाती है। राजा पुनः दुःख के सागर में डूब जाता है। वह राजकुमार का राज्याभिषेक करके स्वयं वनों में जाने की सोचता है। इन्द्र उसे ऐसा करने से रोक देता है और आश्वासन देता है कि उर्वशी जन्मभर उसकी सहधर्मिणी होकर रहेगी।

उक्त नाटक का आधार प्राचीन वैदिक आख्यान है। परन्तु कवि ने अपनी कल्पनाशक्ति से इस आख्यान को एक सुन्दर नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। भरत मुनि का शाप, कार्तिकेय का नियम, उर्वशी का रूप-परिवर्तन, पुरूरवा का पागल की तरह प्रलाप करना तथा समग्र पाँचवाँ अंक कवि का कल्पना-प्रसूत है। इसमें कथानक की शिथिलता कुछ अखरती है। अति-मानवीय दृश्यों का अधिक प्रयोग भी इसकी स्वाभाविकता को हानि पहुँचाता है। इसके अतिरिक्त इसमें कुछ अनावश्यक विस्तार भी हो गया है, जो नाटक की रोचकता को किसी सीमा तक हानि पहुँचाता है। फिर भी इसमें प्रकृति का वर्णन, पात्रों का चरित्र-चित्रण, सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृंगार का उत्तम निर्वहण हुआ है।

अभिज्ञान-शाकुन्तलम्—यह कालिदास का अन्तिम तथा सर्व-श्रेष्ठ नाटक है। यह सात अंकों का संस्कृत-साहित्य में सर्वोत्कृष्ट नाटक माना गया है। इसमें शकुन्तला तथा दुष्यन्त का प्रणय, गन्धर्व-विवाह, वियोग तथा पुनर्मिलन का वर्णन है। हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त मृगया करते हुए संयोग से कण्व ऋषि के आश्रम के पास पहुँचे। दो तापसों के कथनानुसार आतिथ्य प्राप्त करने के लिए वे कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँचे। वहाँ वृक्षों को पानी देती हुई सखियों सहित शकुन्तला को देख कर उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गए। सखियों से शकुन्तला के जन्म की कथा श्रवण करने के उपरान्त प्रणय के बीज एक ओर उनके मन में और दूसरी ओर शकुन्तला के मन में फूट पड़े। उनकी प्रारम्भिक प्रणयवार्ताओं से शकुन्तला की सखियाँ उन दोनों के हृदय में उमड़ते हुए प्रेम को भली भाँति समझ कर किसी बहाने से उन्हें अकेला छोड़ कर चली गईं। इस एकान्त में उनके पारस्परिक प्रेम ने जोर मारा और गान्धर्व विधि से विवाहसूत्र में बँध गए। तदनन्तर किसी आवश्यक कार्यवश राजा दुष्यन्त को एकदम हस्तिनापुर लौटना पड़ा। जाती वार वे अपनी नामांकित अंगूठी शकुन्तला को यह कह कर दे गए कि जितने इसमें अक्षर हैं, उतने दिनों में मैं तुम्हें हस्तिनापुर बुला लूँगा। राजा दुष्यन्त चला गया, शकुन्तला अपने प्राणेश्वर की स्मृति में सदैव डूबी रहती थी। यहाँ तक कि एक दिन दुर्वासा ऋषि उसके आश्रम में पधारे, पर शकुन्तला ध्यान में मग्न रही जिस पर वे शाप दे गए कि जिसको तू अनन्य मन से स्मरण कर रही है, याद दिलाने पर भी वह तुम्हें नहीं पहचानेगा। इधर कण्व ऋषि तीर्थ यात्रा से वापस आ गए। अलौकिक शक्ति से उन्हें पता लग गया कि शकुन्तला गर्भवती है। अतः उन्होंने शकुन्तला को पतिगृह भेजने का निश्चय किया शकुन्तला अपने शैशव के साथियों लता, पादपों, मृगों तथा सखियों से विदा होकर पति-घर के लिए दो ऋषि-कुमारों के साथ चला पड़ी। मार्ग में पानी पीते समय उसकी अगूठी तालाब में गिर पड़ी। शाप के परिणाम-स्वरूप राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला को पहचाना नहीं, याद

दिलाने पर भी उसे शकुन्तला के साथ अपने सम्बन्ध की स्मृति न आई। तब विलाप करती हुई शकुन्तला को एक दिव्य ज्योति उड़ा कर ले गई। तदनन्तर हेमकूट पर्वत पर अपनी माता मेनका के साथ वह अपने वियोग के दिन व्यतीत करने लगी। इधर मछुए को एक मछली के पेट से राजा की वही नामांकित अँगूठी मिल गई। राजा के कर्मचारी मछुए को पकड़ कर राजा के पास ले गए। ज्यों ही राजा ने अंगूठी देखी, उसको शकुन्तला की याद आ गई। वह भी उसके वियोग में तड़पने लगा। दूत के द्वारा इन्द्र के निमन्त्रण पर वह उसकी सहायता करने के लिए स्वर्ग गया। वहाँ से लौटते समय दुष्यन्त का मारीच-आश्रम में अपने पुत्र सर्वदमन और शकुन्तला से पुनर्मिलन होता है। तभी वह उन दोनों को हस्तिनापुर ले आता है और सुखमय जीवन के आनन्द का उपभोग करता है।

विक्रमोर्वशीय की कथा की तरह पद्मपुराण में दी गई सीधी-सादी शकुन्तला की कथा को लेकर अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा कालिदास ने उसे सर्वोत्कृष्ट नाटक के रूप में परिवर्तित कर दिया। महाभारत में शकुन्तला अपने जन्म की कथा स्वयं कहती है, पर इसमें शकुन्तला की सखियाँ कहती हैं। महाभारत की शकुन्तला गन्धर्व-विवाह से पूर्व शर्त रखती है, पर शाकुन्तल में शकुन्तला की सखियाँ शर्त नहीं, विनम्र प्रार्थना करती हैं। महाभारत में शकुन्तला स्पष्टवादिनी, प्रगल्भ तथा निर्भीक कन्या है, पर कालिदास की शकुन्तला लज्जा की साक्षात् मूर्ति है। महाभारत मे कण्व फल-फूल लेने वन में जाते हैं, परन्तु यहाँ लम्बे समय के लिए तीर्थ-यात्रा पर जाते हैं। महाभारत में शकुन्तला बालक को आश्रम में ही जन्म देती है ओर उसके छः वर्ष का हो जाने पर पतिगृह जाती है, पर कालिदास ने प्रसव से पूर्व ही शकुन्तला को पतिगृह में भेज कर भारतीय मर्यादा की रक्षा की है। महाभारत में दुर्वासा के शप की घटना नहीं है।

अतः इस विवरण से स्पष्ट है कि कालिदास ने अपनी अलौकिक कल्पना-शक्ति से साधारण से कथासूत्र को लेकर पूर्ण विकसित नाटक के रूप में परि-

र्वतित ही नहीं किया, अपितु उसमें परिवर्तन एवम् संशोधन करके एक उत्कृष्ट रचना बनाने में भी सफलता प्राप्त की।

मालविकाग्निमित्र कालिदास का सर्वप्रथम नाटक तथा द्वितीय रचना है। मालविकाग्निमित्र से पूर्व कालिदास ने ऋतुसंहार लिखा। ऋतुसंहार की परिपक्व शैली के आधार पर बहुत से विद्वानों ने इसे कालिदास की रचना मानने से इनकार कर दिया, पर अब बहुमत इसे कालिदास की रचना मानने के पक्ष में हैं। यही स्थिति मालविकाग्निमित्र की भी रही। Selected specimens of the Theatre of the Hinds (1826–27) नामक ग्रन्थ में प्रो० विल्सन (Wilson) ने कुछ प्रमाणों के आधार पर प्रस्तुत नाटक को विक्रमोर्वशीय तथा शाकुन्तल के रचयिता कालिदास की रचना नहीं माना। प्रो० वेब्बर (Webur) भी पहले इसी विचार के थे, परन्तु बाद में उन्हें अपना मत बदलना पड़ा और उन्होंने मालविकाग्निमित्र को कालिदास की रचना घोषित कर दिया। प्रो० विल्सन का कथन है कि चाहे प्रस्तावना में इस रचना को कालिदास की रचना कहा गया है, फिर भी कालिदास मालविकाग्निमित्र का रचयिता नहीं हो सकता। अपने इस मत को पुष्ट करने के लिए उन्होंने निम्नलिखित तीन बातें आधार रूप में रखीं :—

१. विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल के पद्यों में जो स्वर की मधुरता एवम् लय् है, उसका मालविकाग्निमित्र के पद्यों में प्रायः अभाव है।

२. मालविकाग्निमित्र में उस कल्पनाशक्ति की उड़ान वैसी नहीं, जैसी विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल में है।

३. मालविकाग्निमित्र में जो आचार-विचार दिखाया गया है, वह हिन्दु-सम्बन्ध की उत्कृष्टता का द्योतक नहीं है।

स्वर्गीय शंकर पांडुरग पण्डित ने विल्सन के इस मत की बड़ी सूक्ष्म जाँच की और यह सिद्ध कर दिया कि प्रो० विल्सन के विचार पूर्णतया निराधार हैं, अतः यह रचना अभिज्ञानशाकुन्तल के रचयिता कालिदास की ही रचना है। प्रो० विल्सन द्वारा दिये गये विचारों का खण्डन करने से पूर्व हमें इस बात का

ध्यान रखना चाहिए कि यह कालिदास की सर्वप्रथम रचना है। मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल नामक तीनों नाटकों की प्रस्तावना को पढ़ने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कालिदास मालविकाग्निमित्र को लिखते समय इस नाटक की सफलता के सम्बन्ध में अधिक शंकित था, तभी तो उसने पारिपार्श्विक के मुख से अपनी शंका को पाठकों के सामने निम्नलिखित शब्दों में रखा—

'मा तावत्! प्रथितयशसां भास-सोमिल्लक-कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः"।

द्वितीय नाटक विक्रमोर्वशीय के लिखने के समय उनके मन में उस ग्रन्थ की सफलता-सम्बन्धी शंका बहुत कम रह गई थी। यह बात सूत्रधार के निम्नलिखित वाक्यों से स्पष्ट हो जाती है—

"मारिष! परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा। अहमस्यां कालिदास-ग्रथित-वस्तुना नवेन नाटकेन उपस्थास्ये"।

अभिज्ञानशाकुन्तल की प्रस्तावना में तो कालिदास को अपनी रचना पर पूर्ण विश्वास था।

अतः स्पष्ट है कि जिस प्रकार कालिदास को क्रमशः अपनी लेखन-शक्ति पर विश्वास होता गया, उसी प्रकार उसी क्रम से उसकी लेखन-कला भी परिष्कृत होती गई और साथ ही साथ उसके विचार भी गम्भीर होते गए। अतः जो लय, गेयात्मकता, कल्पनाशक्ति और विचारों की गम्भीरता पिछली दोनों रचनाओं में देखने को मिलती है, वैसी मालविकाग्निमित्र में नहीं मिल सकती। अतः विचारों आदि की अपरिपक्वता के आधार पर यदि यह कह दिया जाए कि मालविकाग्निमित्र कालिदास की रचना नहीं, तो कालिदास के साथ अन्याय करना होगा।

फिर भी स्वर्गीय शङ्कर पांडुरङ्ग पण्डित ने विल्सन के उपरिदत्त पक्षों का इस प्रकार खण्डन किया है। उनके अनुसार जहाँ तक लय, स्वर की

मधुरता आदि का प्रश्न है, यह कहना न्याय-संगत नहीं कि मालविकाग्नि-मित्र के पद्यों में लय का अभाव है। उनका कथन है कि जब मालविकाग्निमित्र में उन्हीं छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनका प्रयोग विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल में हुआ, फिर यह कैसे सम्भव है कि विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तल के पद्यों में लय आदि है और इसमें नहीं। इस सम्बन्ध में पण्डित जी के शब्दों को उद्धृत कर देना ही श्रेष्ठ होगा—The verse in Malavikagnimitra is as regular & model-like as that in the two sister dramas of the poet. The metres too, are nearly the same in three dramas, so if they are melodious in Sak. and Vikr. they are not less so in the Malavikagnimitra.

जहाँ तक कल्पनाशक्ति की उड़ान का सम्बन्ध है, यह कहना उचित नहीं कि इसमें कल्पनाशक्ति का अभाव है। हाँ, कल्पनाशक्ति उतनी उत्कृष्ट तथा प्रभावोत्पादक नहीं जितनी कि अभिज्ञानशाकुन्तल में है। इसका कारण भी स्पष्ट है। मालविकाग्निमित्र कालिदास का प्रथम नाटक तथा द्वितीय रचना है। जीवन के आरम्भिक दिनों की अपरिपक्वता में बुद्धि के पूर्ण परिपाक की आशा रखना व्यर्थ है। अतः साहित्यिक जीवन में ज्यों-ज्यों कालिदास ने प्रवेश किया, त्यों-त्यों उसकी कल्पनाशक्ति, बुद्धि, परिष्कृत एवं विकसित होती गई। अतः प्रथम रचना में जैसी कल्पनाशक्ति हो सकती थी, वैसी मालविकाग्निमित्र में है। दूसरी बात यह भी है कि मालविकाग्निमित्र का कथानक ऐतिहासिक है। ऐसे कथानकों में कल्पनाशक्ति की उड़ान सीमित होती है। अतः विल्सन का यह मत भी निराधार है।

जहाँ तक आचार-विचार की उत्कृष्टता का सम्बन्ध है, यह भी निरा-धार है। मालविकाग्निमित्र में कौनसी ऐसी घटना है, जिसे हम असभ्य कह सकते हैं। राजाओं में बहुविवाह प्रचलित थे। अतः राजा अग्निमित्र का मालविका के लिए प्रेम गर्हित नहीं कहा जा सकता। राजा एक दासी

के साथ गुप्त प्रेम रखना नहीं चाहता था। वह तो उसे अपनी रानी बनाना चाहता था। मालविका के चरित्र में भी कोई आपत्तिजनक बात नहीं पायी गयी है और न ही धारिणी तथा इरावती के चरित्र में। हाँ, इतना अवश्य है कि मालविकाग्निमित्र में प्रेम शुद्ध न होकर कामवासना पर आधारित है। कालि-दास की यह प्रेम-भावना विक्रमोर्वशीय में कम है और अभिज्ञानशाकुन्तल में तो इसका पूर्ण अभाव है।

इसके अतिरिक्त शैली आदि के आधार पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रस्तुत नाटक कालिदास का ही है। ऐसे तो प्रत्येक लेखक की स्वतः निश्चित शैली होती है। उसके कुछ प्रिय भाग होते हैं, कुछ शब्दों एवम् उक्तियों के प्रयोगों को वह अधिक अच्छा समझता है। ये सब उसके व्यक्तिगत गुण होते हैं, जो उसकी प्रत्येक रचना में प्रकट हुए बिना नहीं रहते, चाहे वह रचना उसके साहित्यिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था की हो या अपरिपक्व अवस्था हो। स्वर्गीय पण्डित ने तीनों रचनाओं में कुछ ऐसी समानताएँ विद्वानों के सामने रखी हैं, जिनके आधार पर कोई मालविकाग्निमित्र को अभिज्ञान-शाकुन्तल के रचयिता कालिदास की कृति मानने से इनकार नहीं कर सकता।

तीनों रचनाओं में जो शब्द समानार्थ में प्रयुक्त हुए हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—उपचार, पुरोभागिन्, परिच्छेद अत्याहित, पर्युत्सुक, दुर्जात, विभावय, लब्धक्षण, अनात्मज्ञ और स्वरयोग। विशेष शब्द का विशिष्ट रूप में प्रयोग—जैसे आकृतिविशेष, शिलाविशेष आदि। एक ही वाक्य मे दो नकारों का प्रयोग यथा—नच वो न विदितम्, संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे।

इसके अतिरिक्त तीनों में कामदेव को विश्वास का पात्र तथा धोखेबाज भी कहा गया है, मृग को हटाने के बहाने पात्रों का रंगमंच से चला जाना, मकान की छतों पर कबूतरों का बैठा होना दिखाना, अंगुलियों की तुलना पत्रों से करनी आदि बातें नाटकों में समान हैं। यही नहीं, तीनों नाटकों में आर्या छन्द की प्रधानता है। प्रस्तावना सभी की संक्षिप्त है।

अतः उपरिदत्त सभी प्रमाणों के आधार पर स्वर्गीय पण्डितजी ने यह सिद्ध कर दिया है कि मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल का रचयिता एक ही कालिदास है।

मालविकाग्निमित्र का कथानक—संक्षिप्त प्रस्तावना के बाद नाटक की कहानी बकुलावलिका तथा कौमुदिनी नामक दो सखियों के वार्तालाप से आरम्भ होती है। बकुलावलिका रानी धारिणी की आज्ञानुसार नाट्याचार्य गणदास से यह पूछने के लिए जा रही थी कि उसकी नयी शिष्या मालविका नृत्य तथा गायन विद्या में किस प्रकार चल रही है। उधर कौमुदिनी सुनार के पास से सर्प-मुद्रांकित रानी की मुद्रा को लेकर रानी के पास जा रही थी। इन दोनों के वार्तालाप से यह पता लगा कि रानी धारिणी मालविका के सौन्दर्य से प्रभावित होकर, इस भय से कि कहीं राजा अग्निमित्र उसे देख न ले, दूर रखने का प्रयत्न करती है, पर राजा अग्निमित्र ने रानी धारिणी के साथ चित्र में चित्रित मालविका को देख लिया और उसके सौन्दर्य पर मोहित हो गया। राजा द्वारा बार-बार उसका नाम पूछने पर भी जब धारिणी ने कोई उत्तर नहीं दिया, तब पास खड़ी राजकुमारी वसुलक्ष्मी ने राजा को उसका नाम 'मालविका' बता दिया। इसके अनन्तर कौमुदिनी रानी के पास चली गयी और बकुलावलिका गणदास के पास। मालविका की नृत्यकला में निपुणता के सम्बन्ध में पूछे जानेपर गणदास ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और उसकी ग्रहणशक्ति की निपुणता पर आश्चर्य प्रकट किया। गणदास द्वारा पूछे जाने पर कि यह मालविका कहाँ से आयी है, बकुलावलिका उसे बताती है कि रानी का भाई वीरसेन, जो सीमान्तवर्ती दुर्ग का रक्षक है, उसने बहन को भेंट में भेजी है।

दूसरे दृश्य में अग्निमित्र अपने मन्त्री के साथ रंगमंच पर आता है। मन्त्री राजा को विदर्भ से आये हुये पत्र का तात्पर्य समझा रहा है। राजा अग्निमित्र ने विदर्भ के राजा यज्ञसेन को लिखाया था कि "आपका चचेरा भाई माधवसेन, जो अपनी बहन मालविका का मेरे साथ विवाह-सम्बन्ध की की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार हमारे पास आ रहा था, उसे आपके सीमान्त रक्षक ने रास्ते में आक्रमण

करके वन्दी वना लिया है, किन्तु मेरी प्रतिष्ठा का खयाल करके आपको उसे स्त्री तथा वहन सहित मुक्त करना उचित है।" इसके उत्तर में यज्ञसेन ने एक शर्त रखी कि अग्निमित्र के यहाँ भी उसका साला मौर्यसचिव वन्दी है। यदि अग्निमित्र उसे छोड़ दे तो वह भी माधवसेन को छोड़ देगा, परन्तु अग्निमित्र को यह शर्त वुरी लगी। उसने अपने साले—रानी धारिणी के भाई को विदर्भ देश पर आक्रमण करके शत्रु को पराजित करने के लिए भेज दिया।

तव राजा के पास उसका मित्र विदूषक आता है। राजा अपनी कामपीड़ा को नहीं छिपा सकता। उसने विदूषक को विश्वास में लेकर कोई ऐसा उपाय ढूँढने के लिए कहा, जिससे वह एक वार मालविका को देख ले। विदूषक ने ऐसा करने का निश्चय करके एक उपाय ढूँढ निकाला जो राजा को वहुत पसन्द आया। इतने में राजा के दोनों नाट्याचार्य गणदास तथा हरदत्त झगड़ते हुए आ गए। उन्होंने राजा से इस वात का निश्चय करने के लिए कहा कि नृत्य एवं गायन कला में गणदास श्रेष्ठ है या हरदत्त। राजा अकेला इस सम्वन्ध में निर्णय नहीं देता। वह रानी धारिणी तथा परिव्राजिका को भी वहाँ वुला लेता है। राजा परिव्राजिका को निर्णायक वनाता है। वह वड़ी कठिनाई से इस पद को स्वीकार करती है। परिव्राजिका सारा मामला समझ जाती है और यह फैसला देती है कि दोनों आचार्य अपनी-अपनी शिष्याओं की नृत्यकला में निपुणता प्रदर्शित करायें। रानी को इस वात का भय था कि कहीं राजा उसे देख कर मोहित न हो जाए। धारिणी ने वड़ा प्रयत्न किया कि प्रदर्शन की वात किसी तरह से टल जाए, पर इसमें रानी को असफलता मिली। प्रदर्शन निश्चित हो गया और रंगशाला में साज-वाज ठीक किए जाने लगे।

इसके वाद दूसरा अंक आरम्भ होता है। वृद्ध होने के कारण गणदास को पहले प्रयोग दिखाने का अवसर मिला। राजा मालविका को देखने के लिए अधीर हो चुके थे। उनका खयाल था कि चित्र में चित्रकार ने मालविका

को अपनी चित्रकला की, निपुणता से अधिक सुन्दर चित्रित कर दिया है। वास्तव में वह इतनी सुन्दर नहीं होगी। पर जब मालविका सामने आई, तब राजा उसके सौन्दर्य को देखकर मंत्रमुग्ध हो गए। उन्हें विश्वास हो गया कि मालविका के सौन्दर्य को कलाकार अपनी निपुणता से चित्र में नहीं ला सका। परिव्राजिका ने मालविका को चलित नृत्य प्रारम्भ करनेका आदेश दिया। मालविका चलित नृत्य करती है और गाती है।

दुर्लभः प्रियस्तस्मिन् भव हृदय! निराशम्
अहो! अपाङ्गको मे प्रस्फुरति किमपि वामः।
एष स चिरदृष्टः कथमुपनेतव्यो
नाथ! मां पराधीनां त्वयि गणय सतृष्णाम्॥

मालविका का नृत्य और गीत राजा के मन में उभरती प्रेम की पीड़ा को और भी तीव्र कर देता है। राजा के मन में हरदत्त की शिष्या का नृत्य देखने की इच्छा समाप्त हो गई। उस समय हर-पक्ष को यह कह कर टाल दिया जाता है कि अब दोपहर हो गई है। खाना खाने का समय उपस्थित है, अतः उसकी शिष्या का नृत्य फिर कभी देखा जाएगा। सब खाना खाने गए, पर राजा के मन में शान्ति कहाँ। उसने विदूषक से कहा—मित्र! मालविका अपार सौन्दर्य-सम्पन्न है, विधाता ने अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर इसका निर्माण किया है। राजा ने विदूषक को शीघ्र ही कोई ऐसा उपाय ढूँढने के लिए कहा जिससे वह मालविका से शीघ्र ही मिल सके। विदूषक ने बड़ी निपुणता के साथ बकुलावलिका को विश्वास में लेकर उसे राजाकी सम्पूर्ण अवस्था से अवगत कर दिया ताकि वह अपनी प्रियसखी तथा स्नेहपात्री मालविका के मन में भी राजा के लिए प्रेम-बीज बो दे।

इसके बाद तृतीय अङ्क आरम्भ होता है। अग्निमित्र के अन्तःपुर में रमणियों के विहारार्थ एक सुन्दर प्रमदवन नामक उपवन था। इसमें

रानी धारिणी का तपनीय अशोक था। उसके दोहद के लिए किसी तरुणी को उस पर नूपुर-युक्त चरणों से प्रहार करना था। रानी धारिणी के पैर में चोट आई हुई थी, अतः उसने मालविका को इस पवित्र कार्य के लिए नियुक्त कर दिया और कहा कि अशोक यदि पाँच दिनों में फूल जाए, तो वह मालविका का मनोरथ पूर्ण कर देगी। मालविका अपनी सखी बकुलावलिका के साथ प्रमदवन में जाती है। उधर विदूषक ने राजा को बताया कि उसने मालविका की सखी बकुलावलिका को अपनी ओर कर लिया है। बकुलावलिका मालविका के साथ राजा का मिलाप कराने में पूर्णतया सहायता देगी, चाहे रानी मालविका को कितना भी छुपा कर क्यों न रखे। तब विदूषक ने राजा को प्रमदवन जाने का स्मरण करवाया, क्योंकि राजा की दूसरी रानी इरावती ने वसन्त ऋतु के उपलक्ष्य में राजा के साथ झूला झूलने के लिए उसे प्रमदवन में बुलाया था। विदूषक के कथनानुसार राजा प्रमदवन की ओर चल पड़ता है। प्रमदवन के मार्ग में राजा और विदूषक को अशोक का दोहद (इच्छा) पूर्ण करने के लिए आई हुई मालविका दिखाई पड़ जाती है। वह अपने आप बोल रही है कि मुझे रानी धारिणी ने अशोक के दोहद—इच्छा को पूरा करने का आदेश दिया है। रानी स्वयं इस कार्य को करने में इसलिए असमर्थ थी, क्योंकि उसके पाँव में चोट लग गई थी। वह झूला झूलते समय गौतम की चपलता के कारण गिर पड़ी थी। कुछ देर बाद बकुलावलिका भी पैरों के लिए रक्तालक्तक और नूपुर लेकर आ जाती है और मालविका के पैरों को सजाना आरम्भ कर देती है। इस समय मदमस्त इरावती निपुणिका के साथ वहाँ आ जाती है। इरावती और राजा एक दूसरे को जाने बिना मालविका और बकुलावलिका के वार्तालाप को सुनते हैं। बकुलावलिका मालविका को राजा के प्रेम के सम्बन्ध में कहती है, जब मालविका के पैरों में रंग लग जाता है और वह नूपुर पहन कर अशोक पर पादप्रहार करती है, तभी राजा और विदूषक सामने प्रकट हो जाते हैं। विदूषक मालविका को राजा के प्रिय अशोक पर पाद-प्रहार करने के लिए डाँटता है, इस पर मालविका तथा बकुलावलिका

क्षमा माँगती हैं। राजा अपना प्रेम प्रकट करने के लिए अधिक व्याकुल था। उसने जिस समय मालविका के आगे अपना प्रेम प्रकट किया, ठीक उसी समय इरावती प्रकट हो जाती है और उनकी पारस्परिक वार्ता का मजा किरकिरा कर देती है। इस समय तुरन्त राजा ने अपने को सँभालते हुए कहा कि मैं तुम्हारा अन्वेपण करता हुआ इधर आया। काफी देर तक प्रतीक्षा करने पर जव तुम इधर नहीं आई तव मैं इससे वातें करके अपना मन वहलाने लगा। इरावती पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। वह वकुलावलिका को डाँट वता कर राजा की उपेक्षा करके वहाँ से चली गई। राजा ने उसके पाँव भी पकड़े, पर रानी ने कोई परवाह न की। इरावती ने जा कर रानी को अग्निमित्र, मालविका और वकुलावलिका के विरुद्ध वहुत भड़का दिया और कारावास का दण्ड दिला दिया। अपनी विश्वासभाजन परिचारिका को उनकी रखवाली करने के लिए नियुक्त कर दिया। उसे यह आज्ञा दे दी कि धारिणी की सर्पमुद्रा देखे विना उन कैदियों को मुक्त न करे।

अव चौथा अंक आरम्भ होता है। राजा मालविका के सम्वन्ध में वहुत चिन्तित था। उसने विदूपक को मालविका और वकुलावलिका का समाचार जानने के लिए भेजा। विदूपक ने उनके कारावास का समाचार जव राजा को वताया, तव वह अत्यधिक दुःखी हुआ और विदूपक से प्रार्थना करने लगा कि उनको तुरन्त कारावास से मुक्त कराने का कोई उपाय सोचे। विदूपक की तीव्र बुद्धि ने एक उपाय सोच लिया और तदनुसार राजा को रानी धारिणी का हाल पूछने के लिए भेजा। इधर विदूपक ने केतकोकण्टक से अपने हाथों पर सर्प-दंशन का-सा चिन्ह वना लिया और मिथ्या सर्प-दंशन का शोर करता हुआ वहाँ पर जा पहुँचा जहाँ राजा और रानी धारिणी वैठे थे। उसने वताया कि रानी धारिणी के सम्मानार्थ फूल लेने के लिए वह गया था। जव वह फूल तोड़ रहा था तव एक सर्प ने उसे काट लिया। इस पर रानी वहुत चिन्तित हुई। इसका कारण यह

था कि यदि संयोगवश विदूषक के प्राण चले जाएँ, तब ब्रह्महत्या का पाप रानी के सिर पर लगेगा। राजा विदूषक की चिकित्सा के लिए उसे वैद्य ध्रुवसिद्धि के पास भेज देते हैं। ध्रुवसिद्धि ने बताया कि उसे सर्पमुद्रित कोई वस्तु चाहिए ताकि वह उसके प्रयोग से विष-वेग को कम कर सके। इस पर रानी ने तुरन्त दासी के हाथ अपनी सर्पमुद्रा भेज दी। वह मुद्रा लेकर जाती है और लौट कर राजा को बताती है कि गौतम स्वस्थ हो गया है। वह यह भी बताती है कि मन्त्री वाहतक राजकार्य के सम्बन्ध में कुछ परामर्श लेना चाहता है। उधर रानी की सर्पमुद्रा को देख कर विदूषक बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने अंगूठी दिखा कर मालविका और बकुलावलिका को कारावास से मुक्त करवा लिया। विदूषक ने कारावास की रक्षिका से यह कह दिया कि राजा की कुण्डली देख कर दैवज्ञों ने बताया है कि राजा के ग्रहों की स्थिति कुछ मन्द है, इसलिए सभी कैदियों को मुक्त कर दिया जाए। विदूषक ने यह भी बताया कि रानी धारिणी ने इरावती का दिल रखने के लिए अपनी परिचारिका को न भेज कर उसे भेजा है जिससे इरावती को यह मालूम न हो कि इसमें धारिणी का हाथ है। इसके बाद संकेतानुसार राजा, विदूषक, मालविका और बकुलावलिका--सभी समुद्र-गृह में मिले। विदूषक तथा बकुलावलिका उन दोनों को अकेले छोड़ कर बाहर चले गए। बकुलावलिका छिप गई और विदूषक दरवाजे पर पहरा देने लग गया। विदूषक को नींद आ गई और वह सो गया। इतने में निपुणिका के साथ इरावती भी विदूषक का हाल पूछने के लिए वहाँ आ गई। जिस समय इरावती वहाँ पहुँची, उस समय विदूषक निद्रा से बुड़बुड़ा रहा था—मालविका! राजप्रिया बनो, इरावती को राज-प्रणय में जीत लो, इत्यादि। इस बात से चिढ़ कर निपुणिका उसके ऊपर एक लकड़ी का टुकड़ा फेंक देती है। विदूषक डर जाता है और चिल्लाता है—"मेरे ऊपर साँप गिर पड़ा"। विदूषक की आवाज सुन कर घबरा कर राजा उसकी सहायता के लिए बाहर आते हैं। मालविका भी राजा को रोकती हुई वहाँ पहुँचती है,

वकुलावलिका भी वहाँ पहुँच गई। इरावती इस दृश्य को देखकर बहुत क्रुद्ध हुई। उसने दोनों को बहुत डाँटा। राजा ने बहुत समझाया कि इसमें कोई बात नहीं। मालविका तो कारा-मुक्ति की कृतज्ञता प्रकट करने के लिए वहाँ उपस्थित हुई थी। पर इरावती कब मानने वाली थी। रानी वकुलावलिका को इस सम्बन्ध में दोषी ठहराती थी। इरावती ने अपनी परिचारिका को रानी धारिणी के पास जाकर यह कहने के लिए कहा—आपका पक्षपात देख लिया है। अब हमारे हृदय में विश्वास हो गया है। आपने जान कर इन लोगों को मिलाने का प्रयत्न किया है। इसी समय अन्तःपुर से एक दासी दौड़ती हुई आई और उसने कहा पिंगल वन्दर ने गेंद के पीछे भागती हुई कुमारी वसुलक्ष्मी को इस प्रकार डरा दिया है कि उसका रोना बन्द नहीं होता। रानी द्वारा आश्वासन दिए जाने पर भी वह होश में नहीं आती। इरावती इस समाचार को पाकर बहुत घबरा जाती है और वह राजा से विनय करती है कि महाराज! जाकर कुमारी को आश्वासन दें। इतने में मालविका तथा वकुलावलिका को छोड़ कर सभी चले जाते हैं। उसी समय मालिन मधुकरिका यह समाचार देती है कि अशोक वृक्ष पाँच रातों के भीतर ही खिल उठा। इस पर मालविका बहुत प्रसन्न होती है। वह वकुलावलिका के साथ रानी धारिणी को समाचार देने और उससे यथाकथित पारितोषिक प्राप्त करने चली जाती है।

अब पाँचवाँ अंक आरम्भ होता है। रानी धारिणी ने राजा के पास प्रार्थना की कि वे रक्ताशोक के पास पहुँचें। वहाँ वह उसकी प्रतीक्षा कर रही है। इतने में राजा के पास विदर्भ से सूचना आई कि सैनिकों ने यज्ञसेन को परास्त कर दिया है और माधवसेन को मुक्त करा लिया है। इस पर वन्दियों ने राजा की स्तुति की। इसके बाद राजा विदूषक-सहित तपनीयाशोक देखने के लिए प्रमदवन में गए। रानी धारिणी ने कौशिकी को कह कर मालविका को वैवाहिक वेश में सजवाया। वैवाहिक वेश में सुसज्जित मालविका, परिव्राजिका कौशिकी तथा परिजनों के साथ रानी ने वहाँ राजा

के दर्शन किए । वैवाहिक वेश में सुसज्जित मालविका को देख कर विदूषक ने राजा से पहिले ही कह दिया कि अब उसके मनोरथ पूरे होने-वाले हैं । ठीक उसी समय अग्निमित्र के पिता पुष्यमित्र का भेजा हुआ एक दूत आया जिसने समाचार दिया कि कुमार वसुमित्र (अग्निमित्र के पुत्र) ने यज्ञाश्व की बडी निपुणता से रक्षा की । समुद्र के किनारे यवन-सैनिकों ने अश्व को घेर लिया था, परन्तु वसुमित्र ने बड़ी बहादुरी से उन्हें परास्त करके अश्वमेघ यज्ञ को निर्विघ्न बना दिया । उसने यह भी बताया कि पुष्यमित्र ने इस शुभ अवसर पर परिवार-सहित अग्निमित्र को निमन्त्रित किया है । यह समाचार सुन कर सभी की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा । इसके अनन्तर धारिणी ने राजा को कहा कि आप ने मुझे एक प्रिय समाचार सुनाया है, अतः उसके अनुरूप पारितोषिक भी स्वीकार करें । इतने में माधवसेन द्वारा उपहार रूप में भेजी गई दो शिल्प-कन्याएँ भी वहाँ उपस्थित की गई । उन्होंने एक दम मालविका को पहचान लिया और बोल पड़ीं—"यह तो राजकुमारी है" । उन्होंने स्वर से परिव्राजिका को भी पहचान लिया । यह जान कर राजा बड़े आश्चर्यान्वित हो गए । उन्होंने मालविका के सम्बन्ध में सविस्तर जानकारी प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की । इस पर मालविका के सम्बन्ध में कुछ तो उन बालिकाओं ने बताया और शेष कौशिकी ने । धारिणी ने कौशिकी को इस बात पर उपालम्भ दिया कि जब वह जानती थी कि मालविका राजकुमारी है, तो उसने उसे ऐसा पहले क्यों नहीं बताया ताकि वह अनजाने में उससे दासी-जैसा व्यवहार करके उसे अपमानित न करती । इस पर कौशिकी ने अपने आपको निर्दोष प्रमाणित करते हुए कहा — जिस समय मालविका के पिता भी जीवित थे, उस समय तीर्थयात्रा में आए हुए एक सिद्ध पुरुष ने कहा था कि मालविका एक साल तक दासी का काम करके अपने योग्य पुरुष से ब्याही जाएगी, अतः इस राज-घराने में दासी का कार्य करते हुए उसे देखकर वह चुप थी । यदि वह रानी धारिणी को वास्तविकता बता देती, तो सम्भव था कि मालविका को विधि-विधान किसी और जगह भोगना पड़ता, जो

अच्छा न होता। इसके बाद रानी धारिणी ने इरावती की अनुमति से कौशिकी को पूछ कर मालविका का विवाह राजा से कर दिया।

कथानक की ऐतिहासिकता—प्रस्तुत नाटक के कथानक की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि हम शुंग-वंश के इतिहास की, जिसमें अग्निमित्र ने जन्म लिया, जानकारी प्राप्त कर लें। Vincent A Smith ने अपने इतिहास Early History of India में शुंगवंश का निम्नलिखित विवरण दिया है—सेनापति पुष्यमित्र ने अपने स्वामी बृहद्रथ का वध करके उसके राज्य को हस्तगत कर लिया था। इस प्रकार 183 B. C. में उसने शुंगवंश के राज्य की स्थापना की। उसकी राजधानी सम्भवतः पाटलीपुत्र थी। उसका राज्य एक ओर दक्षिण में नर्मदा नदी तक फैला हुआ था। उसके राज्य में बिहार तिरहुत आगरा तथा अवध के संयुक्त प्रान्त सम्मिलित थे। पुष्यमित्र के राज्य के अन्तिम दिनों ग्रीक राजा मेनान्दर (Menander) ने उसके राज्य को हस्तगत करने के लिए भारत पर आक्रमण कर उसके कई प्रान्तों को हस्तगत कर लिया, परन्तु पुष्यमित्र ने बड़ी निपुणता से उसे वापिस जाने के लिए बाध्य कर दिया। इन्हीं दिनों में पुष्यमित्र के राज्य के दक्षिणी प्रान्त में, जो नर्मदा नदी तक फैला हुआ था, वाइसराय के रूप में पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र राज्य करता था। उसकी राजधानी विदिशा (आधुनिक भिलसा) थी। अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र अपने बाबा के अधीन देश की सुरक्षा के कार्य में संलग्न था। इधर अग्निमित्र ने अपने पड़ोसी विदर्भ के राजा को पराजित कर दिया। विदर्भ के राजा की पराजय से उत्साहित होकर पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। अश्वमेध के अश्व की सुरक्षा के लिए पुष्यमित्र ने अपने प्रपौत्र वसुमित्र को नियुक्त किया। सिन्ध नदी के किनारे पर यवनों ने पुष्यमित्र की सार्वभौमता को अस्वीकार करते हुए उसके घोड़े को पकड़ लिया। पर वसुमित्र ने बड़ी वीरता के साथ युद्ध करके इन्हें पराजित किया। तदनन्तर पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किया। पुष्यमित्र के निधन पर अग्निमित्र राज्यारूढ़ हुआ, परन्तु वह कुछ ही वर्ष राज्य कर सका। उसके बाद वसुज्येष्ठ

या सुज्येष्ठ सम्भवतः अग्निमित्र का भाई राज्यारूढ़ हुआ। सात वर्ष के पश्चात् वसुमित्र को यह राज्य प्राप्त हुआ।

उपरिदत्त विवरण से यह स्पष्ट है कि पुष्यमित्र पहिले सेनापति था। राजा बनने के बाद भी सम्भवतः उसने सेनापति कहलाना नहीं छोड़ा, जैसे कि नाटक से विदित है। उशका ग्रीक-राजा मेनान्दर से युद्ध हुआ, उसने अश्वमेध यज्ञ किया, वसुमित्र ने अश्वमेध यज्ञ के अश्व की रक्षा की और पश्चिमी सीमा पर यवनों को पराजित किया। पुष्यमित्र के बेटे अग्निमित्र ने विदर्भ के राजा को पराजित किया।

पुराणों में भी शुंगवंश का उल्लेख है, परन्तु इस वंश के राजाओं के नामों के अतिरिक्त कुछ नहीं दिया हुआ है। उनमें बताया गया है कि सेनापति पुष्यमित्र बृहद्रथ को पराजित कर ३६ वर्ष तक राज्य करेगा, उसका बेटा अग्निमित्र ८ वर्ष तक राज्य करेगा, फिर वसुज्येष्ठ ७ वर्ष तक राज्य करेगा। उसका बेटा वसुमित्र १० वर्ष तक राज्य करेगा।

ऐतिहासिक एवं पौराणिक विवरण में वसुमित्र, और वसुज्येष्ठ का पुष्यमित्र से सम्बन्ध स्पष्ट नहीं। पुराणों में वसुमित्र सम्भवतः वसुज्येष्ठ का बेटा है, और वसुज्येष्ठ अग्निमित्र का बेटा परन्तु, ऐतिहासिक विवरण में वसुज्येष्ठ अग्निमित्र से पहले राज्यारूढ़ होता है जब कि अग्निमित्र युवराज था। सम्भवतः ऐतिहासिक विवरण के अनुसार वसुज्येष्ठ पुष्यमित्र का छोटा भाई हो।

जहाँ तक नाटक का सम्बन्ध है, यह तो निश्चत है कि अग्निमित्र, पुष्यमित्र और वसुमित्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इसके अतिरिक्त मौर्य-सचिव, जिसका उल्लेख १—७ में हुआ है, सम्भवतः बृहद्रथ मौर्य हो, परन्तु इसका उल्लेख शिलालेखों आदि में कहीं भी नहीं। इसके अतिरिक्त विद्वानों का विचार है कि अग्निमित्र का मन्त्री वाहतक, अग्निमित्र का साला वीरसेन, विदर्भ का राजा यज्ञसेन, यज्ञसेन का चचाजात भाई माधवसेन, माधवसेन का मन्त्री सुमति भी ऐतिहासिक पात्र होंगे। इसी प्रकार धारिणी तथा वसुलक्ष्मी भी ऐतिहासिक पात्र होंगे। मालविका सम्भवतः मालव प्रदेश

की राजकुमारी होगी। विद्वानों का मत है कि जिस समय कालिदास ने यह नाटक लिखा, उस समय अग्निमित्र की प्रेम-कहानियाँ लोगों में अधिक प्रचलित होंगी। ये कहानियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कम महत्त्व वाली थीं अतः इनका या इनसे सम्बन्धित पात्रों का उल्लेख कहीं नहीं हुआ। पुष्यमित्र और अग्निमित्र के सम्बन्ध में यह आपत्ति उठाई जाती है कि ऐतिहासिक विवरण के अनुसार पुष्यमित्र अग्निमित्र का पिता था, परन्तु नाटक में उसे सेनापति कहा गया है, ऐसा क्यों? इस आपत्ति का निराकरण यह कह कर हो जाता है कि पुष्यमित्र वास्तव में मौर्यराज्य में सेनापति ही कहलाया। इतिहास में इस प्रकार के अन्य कई उदाहरण मिलते हैं—जैसे पेशवा लोग। वास्तव में पेशवा (प्रधान मन्त्री) होते थे, परन्तु राजा बनने के बाद भी ये अपने आपको पेशवा ही कहलवाते थे। नाटक में सुज्येष्ठ का कोई उल्लेख नहीं।

दूसरी आपत्ति यह है कि इतिहास में पुष्यमित्र को बौद्ध भिक्षुओं का नाशक कहा गया है, परन्तु नाटक से ऐसा प्रतीत होता है कि अग्निमित्र के राज्य में बौद्ध भिक्षुओं का मान था, तभी तो परिव्राजिका कौशिकी को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि पुष्यमित्र और उसके पुत्र अग्निमित्र का धार्मिक विश्वास में मतभेद था। पुष्यमित्र बौद्धों को समूल नष्ट करना चाहता था, जब कि अग्निमित्र सभी धर्मों को फलने-फूलने का समान अधिकार देना चाहता था। इसी मत-भेद के कारण पिता पुत्र में अधिक मेल-मिलाप का अभाव था।

पात्रों के नाम के अतिरिक्त नाटक में दी गई कुछ घटनाएँ भी ऐतिहासिक हैं। जैसे विदर्भ के राजा का अग्निमित्र द्वारा पराजित होना। अग्निमित्र और विदर्भ के राजा के पारस्परिक द्वेष का कारण कवि की कल्पना का फल है। वसुमित्र द्वारा यवनों को पराजित करना भी ऐतिहासिक युद्ध है। पुष्यमित्र का अश्वमेध यज्ञ भी ऐतिहासिक है। इसके अतिरिक्त नाटक के अन्य सभी पात्र तथा घटनाएँ कवि की कल्पना की उपज हैं। मालविका का बच कर रानी धारिणी की दासी बनना, उसके सौन्दर्य से राजा का

प्रभावित होना आदि सभी घटनाएँ ऐतिहासिक नहीं हैं। कुछ लोगों का मत है कि ये घटनाएँ कवि की कल्पना की उपज भी नहीं हैं, अपितु कालिदास के समय में प्रचलित कहानियों से कालिदास ने इन्हें नाटक के रूप में परिवर्तित कर दिया।

कथानक के अतिरिक्त इस नाटक में हमें एक बड़े महत्त्व का ऐतिहासिक संकेत मिलता है—वह है भास, सौमिल, कविपुत्र आदि का उल्लेख। इस संकेत से संस्कृत साहित्य के विद्यार्थियों को कालिदास तथा भास का समय निश्चित करने में बड़ी सहायता मिली है।

कथानक का मूलस्रोत—कथानक की ऐतिहासिकता से यह स्पष्ट है कि पुष्यमित्र, अग्निमित्र तथा वसुमित्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। विदर्भराज का यवनों को पराजित करने वाली घटना भी ऐतिहासिक है। पुष्यमित्र का अश्वमेध यज्ञ ऐतिहासिक है। इन पात्रों तथा घटनाओं के अतिरिक्त अन्य किसी पात्र या घटना का उल्लेख शिलालेखों आदि में कहीं भी नहीं मिलता। पुराणों में भी शुंगवंशी राजाओं की वंशावली तथा उनके राज्यकाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। अतः स्पष्ट है कि कालिदास ने अपने नाटक का कथानक किसी अन्य स्थान से लिया होगा। यह स्रोत कौन-सा है इसके सम्बन्ध में भी मतभेद है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि मालविकाग्निमित्र की कथा बृहत्कथा में दी गई बन्धुमती की कहानी से मिलती-जुलती है। बृहत्कथा मूलरूप में पैशाची भाषा में लिखी गई थी। इसका लेखक गुणाढ्य नामक कोई विद्वान् था। आजकल यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। परन्तु इस ग्रन्थ का विषय सोमदेव के कथासरित्सागर तथा क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी में पाया जाता है। इन रचनाओं ने संस्कृत के कई विद्वानों को ग्रन्थसामग्री प्रदान करके उनकी सहायता की है। सम्भव है कि कालिदास ने भी अपने नाटक मालविकाग्निमित्र की रूप-रेखा इस ग्रन्थ से ली हो और फिर अपनी कल्पनाशक्ति से उसे परिवर्तित, परिष्कृत एवं परिवर्धित कर नाटक के रूप में हमारे सामने रखा हो। कथासरित्सागर में बन्धुमती की कहानी इस प्रकार है—

किं च बन्धुमतीं नाम राजपुत्रीं भुजार्जिताम्।
गोपालकेन प्रहितां कन्यां देव्या उपायनम्॥
तथा मञ्जुलिकेत्येव नाम्नान्येनैव गोपिताम्।
अपरामिव लावण्य-जलधेरुदितां श्रियम्॥
वसन्तक-सहायः सन् दृष्ट्वोद्यान-लता-गृह।
गन्धर्वविधिना गुप्तमुपयेमे स भूपतिः॥
तच्च वासवदत्तास्य ददर्श निभृतस्थिता।
प्रचुकोप च वद्ध्वा च सा निनाय वसन्तकम्॥
ततः प्रव्राजिकां तस्याः सखीं पितृकुलागताम्।
स सांकृत्यायनीं नाम शरणं शिश्रिये नृपः॥
सा तां प्रसाद्य महिषीं तया सदैव कृताज्ञया।
ददौ वन्धुमतीं राज्ञे पेशलं हि सतीमनः॥

इसमें नायिका का नाम वन्धुमती है जिसे रानी के भाई गोपालक ने रानी के पास भेजा था। यही वन्धुमती मञ्जुलिका नाम से वहाँ प्रसिद्ध थी। राजा ने इसे जो कि मानों समुद्र से उत्पन्न दूसरी लक्ष्मी के समान थी, वसन्तक के साथ उद्यान के लतागृह में देखा और गन्धर्व-विधि से उससे विवाह कर लिया। रानी वासवदत्ता ने यह देख लिया और उसने क्रुद्ध होकर वसन्तक को बाँध लिया। राजा ने रानी की सखी सांकृत्यायनी नामक परिव्राजिका से सहायता के लिए विनम्र प्रार्थना की। परिव्राजिका ने रानी को प्रसन्न कर लिया और वन्धुमती राजा को दिला दी।

इस विवरण से स्पष्ट है कि प्रस्तुत नाटक मालविकाग्निमित्र के पात्रों से इस कहानी के पात्रों के नाम नहीं मिलते। नाटक की कहानी से इस कहानी का मेल केवल इतना है कि वन्धुमती राजकन्या है, जिसे रानी के भाई गोपालक ने रानी के पास भेजा। नाटक में मालविका भी राजकुमारी है, उसे रानी धारिणी के भाई ने उसके पास भेजा। राजा वन्धुमती को जो कि मञ्जुलिका के नाम से प्रसिद्ध थी, उद्यान में देख कर मोहित हो गया।

इधर अग्निमित्र मालविका का चित्र देख कर उस पर मोहित हो गया। वसन्तक की सहायता से राजा बन्धुमती को मिलने में समर्थ हुआ, इधर अग्निमित्र भी अपने मित्र विदूषक—गौतम की सहायता से मालविका को मिल सका। कथासरित्सागर में रानी वासवदत्ता गौतम को बाँध देती है, मालविकाग्निमित्र में रानी मालविका और वकुलावलिका को कारागार में डाल देती है। कथासरित्सागर में परिव्राजिका रानी को मना कर राजा का विवाह बन्धुमती से करा देती है, पर मालविकाग्निमित्र में रानी स्वयं राजा को मालविका रानी के रूप में दे देती है। अतः स्पष्ट है कि मालविकाग्निमित्र के कथानक की रूप रेखा कथासरित्सागर में दी गई बन्धुमती की कथा से मिलती है। इतने साम्य से क्या यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कालिदास का मूलाधार यही कथासरित्सागर की कहानी है। यह तो सम्भव है कि कालिदास ने अपने कथानक में नाट्याचार्यो का कलह, अशोक वृक्ष का दोहद और उसकी पूर्ति, नृत्यकला के प्रदर्शन, सर्पदंशन आदि घटनाओं की कल्पना कर ली होगी, परन्तु क्या कहानी के मूल पात्रों एवं मूल घटनाओं की भी कल्पना की होगी? इसके सम्बन्ध में कोई सन्तोप जनक उत्तर नहीं मिलता। M. R. Kale महोदय के शब्दों में—"We think, however, that Kalidas could not have connected an imaginary love story with a historical character like Agnimitra. His story must have had some basis of fact, some romantic tale of a princess living in disguise at his court. It is hardly likely that the poet would invent a Queen—as Malvika······The story resembles that of Bandhumati is Probably an aecident, or perhaps both had a common source."

अतः स्पष्ट है कि कथासरित्सागर की इस कहानी को मूलस्रोत मानने के लिये कोई ठोस प्रमाण हमारे पास नहीं है। जैसाकि ऊपर कह आए हैं, कालिदास की कथावस्तु का मूल स्रोत पुराण भी नहीं हो सकते,

क्योंकि पुराणों में शुंगवंश की वंशावली के साथ-साथ, राजाओं का राज्यकाल दिया हुआ है । इसके अतिरिक्त और कोई विवरण हमें पुराणों से नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक ग्रन्थ अथवा शिलालेख आदि भी इसके मूलस्रोत नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें भी कुछ प्रमुख पात्रों के नामों के अतिरिक्त और किसी विशेष घटना का उल्लेख नहीं । वसुमित्र का यवनों को पराजित करना और अश्वमेध यज्ञ करना, तथा अग्निमित्र का विदर्भ राज को पराजित करना ही इतिहासानुमोदित है अतः इसे भी कालिदास के नाटक मालविकाग्निमित्र का मूल स्रोत नहीं माना जा सकता।

हाँ, मालविकाग्निमित्र के पंचमाङ्क में एक पद्य है, जिससे ज्ञात होता है कि कालिदास के समय में अग्निमित्र के सम्बन्ध में कुछ कथाएँ आर्यलोकों में प्रचलित थीं। वह पद्य निम्नलिखित है—

विरचितपदं वीरप्रीत्या सुरोपम ! सूरिभि—
श्चरितमुभयोर्मध्येकृत्य स्थितं क्रथकैशिकान्।
तव हृतवतो दण्डानीकैर्विदर्भपतेः श्रियं
परिघगुरुभिर्दोर्भिः शौरेः प्रसह्य च रुक्मिणीम् ॥ ५.२

"हे देवतुल्य ! वीर पुरुषों के प्रेम के कारण विद्वान् कवियों से पद्य-बद्ध किया, तुम दोनों का ही चरित क्रथकैशिकों में छा रहा है (एक तो) तुम्हारा-जिसने अपने सैन्यविभागों द्वारा विदर्भपति की लक्ष्मी को छीन लिया है। (दूसरे) कृष्ण का—जिसने परिधि (अर्गल) के समान प्रबल भुजाओं द्वारा विदर्भराज की लक्ष्मी रुक्मिणी को बलात् छीन लिया था"।

इस पद्य से स्पष्ट है कि अग्निमित्र एक प्रसिद्ध व्यक्ति था। विद्वानों ने उसके सम्बन्ध में कथाएँ पद्य बद्ध कर रखी थी। सम्भव है कालिदास ने इन कथाओं का आधार बना कर अपना नाटक लिखा होगा। इन कथाओं में धारिणी, वसुलक्ष्मी, मालविका, धारिणी के भाई वीरसेन, विदर्भराज यज्ञसेन का उल्लेख भी होगा। कालिदास का समय शुंगवंश से बहुत बाद

का नही है। अतः उस काल मे प्रचलित कथाएँ वास्तविकता के अधिक समीप होंगी। ऐतिहासिक महत्त्व के कम होने के कारण ये कथाएँ शनैः शनैः लुप्त हो गई। अतः बड़े विश्वास से कहा जा सकता है कि कालिदास का मूलस्रोत उस समय प्रचलित अग्निमित्र-सम्बन्धी कथाएँ होंगी जो कुछ समय पाकर लोगों के स्मृतिपट से मिट गई। विदूषक, इरावती, परिव्राजिका, बकुलावलिका आदि पात्र कवि की कल्पना की उपज हो सकते हैं। मालविका के साथ अग्निमित्र का प्रेम भी उस समय प्रसिद्ध होगा। हाँ, यह सम्भव है कि प्रेम की पूर्ति के लिए विदूषक की चालें— नाट्याचार्यों का परस्पर लड़ना, अशोक के दोहद के लिए मालविका की नियुक्ति, धारिणी का विदूषक की चपलता के कारण गिर कर चोट खाना, विदूषक का साँप द्वारा काटे जाने का बहाना करना, वसुलक्ष्मी का डरना आदि घटनाएँ कल्पनाप्रसूत हों।

अतः स्पष्ट है कि कुछ घटनाओं के अतिरिक्त कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की मूलकथा उस समय के लोगों में प्रचलित अग्निमित्र के प्रेम और वीरता से सम्बन्धित कथाओं में से ही ली होगी।

कुछ विद्वानों का मत है कि कालिदास अग्निमित्र का समकालीन-सम्भवतया उसका राजकवि था। इसको सिद्ध करने के लिए उनका कहना है कि नाटकों के सम्बन्ध मे यह आवश्यक है कि "नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्" अर्थात् नाटक का नेता कोई प्रसिद्ध व्यक्ति होना चाहिए ताकि तत्सम्बन्धी वृत्त रचित हो। परन्तु मालविकाग्निमित्र के सम्बन्ध में यह परिभाषा ठीक नही उतरती। अग्निमित्र कोई प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं था और न ही उसकी यह प्रेम-कथा प्रसिद्ध है। फिर कालिदास ने अग्निमित्र को अपने नाटक का नेता क्यों चुना? इस सम्बन्ध मे उनका कहना है कि कालिदास ने 'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्' को न मानकर एक नवीन मार्ग चलाने की इच्छा से अपने आश्रयदाता को अपने नाटक का नायक बना लिया। अपने इस मत की पुष्टि के लिए उन्होंने मालविकाग्निमित्र से कालिदास का निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

उन विद्वानों के अनुसार कालिदास ने यह पद्य विशेष रूप से इसी बात को लोगों के मन मे बिठाने के लिए लिखा है कि नाटक का नायक पौराणिक व्यक्ति होना आवश्यक नहीं, कोई आधुनिक राजा भी नायक हो सकता है। विद्वान् लोग आधुनिक व्यक्ति के गुणों से भी प्रभावित हो सकते है। केवल मूर्ख लोग ही दूसरों के विचारों से प्रभावित होने वाले होते हैं। इस मत की पुष्टि के लिए उन्होंने भरत-वाक्य का पद्य भी उद्धृत किया है। विद्वानों का कथन है कि संस्कृत नाटकों में भारत-वाक्यों मे प्रायः यही प्रार्थना की जाती है कि राजा अपनी प्रजा की रक्षा करे, समय पर वर्षा हो और प्रजा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करे। परन्तु मालविकाग्निमित्र का भरत-वाक्य कुछ और ही ढंग का है। धारिणी द्वारा पूछे जाने पर कि आप का और क्या उपकार करूँ, राजा कहता है—

त्वं मे प्रसादसुमुखी भव चण्डि ! नित्य—
मेतावदेव मृगये प्रतिपक्षहेतोः।
आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानां
संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे।

"हे देवि! (मेरे) हृदय में केवल यही कामना है कि तू सदा मेरे साथ प्रसन्नता से सुन्दर मुखवाली बनी रहे। अग्निमित्र के रक्षक होते हुए ईतियों का दूर होना आदि प्रजाओं को काम्य वस्तुएँ सिद्ध न होंगी, ऐसा नही।" (अर्थात् सिद्ध होंगी) इसमें 'गोप्तरि अग्निमित्रे' का प्रयोग यही संकेत करता है कि कालिदास के समय अग्निमित्र राजा था। श्री रे (Sh. Ray) भी इस मत की पुष्टि निम्नलिखित शब्दों में करते हैं—'The language is obviously of an ardent admirer of Agnimitra—we shall not be wrong perhaps to say that

Kalidasa was the court poet of Agnimitra and lived at Vidisha in the 2nd century B. C.।" अतः इन विद्वानों के अनुसार कालिदास अग्निमित्र के राजकवि रहे होंगे।

इस मत के विरोध में विद्वानों का कहना है कि "पुराणमित्येव"— वाला पद्य प्रस्तुत राजा अग्निमित्र की ओर संकेत नहीं करता है। नाटक से यह स्पष्ट है कि यह कालिदास की नवीन रचना मालविकाग्निमित्र की ओर संकेत करता है। इस पद्य को "प्रथितयशसां भाससौमिल्लक······आदि पंक्तियों से पृथक् पढ़ना और पृथक् अर्थ निकालना उचित नहीं। भरत-वाक्य के आधार पर भी विश्वास से कुछ नहीं कहा जा सकता। कालिदास के तीनों नाटकों में भरतवाक्य एक सा नहीं। अतः यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि कालिदास वर्तमान राजा की ओर संकेत करते हैं या किसी भूतपूर्व अग्निमित्र को वर्तमान का समझ कर उसका उल्लेख करते हैं। तीसरी बात यह भी है कि प्रस्तुत नाटक मालविकाग्निमित्र में राजा को जिस रूप में नाटककार ने चित्रित किया है, क्या इस रूप में कोई कवि अपने आश्रयदाता को चित्रित कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि कालिदास अग्निमित्र का समकालीन नहीं हो सकता। उसने अपने समय में प्रचलित अग्निमित्रसम्बन्धी कहानियों से नाटक की मूल सामग्री को लिया है।

कथानक-आलोचना—कथानक की सफलता उसकी घटनाओं के चयन एवं उन घटनाओं के सफल निर्वाह पर होती है। इसके लिए यह परमावश्यक है कि इसकी घटनाएँ परस्पर शृंखलाबद्ध हों। कोई भी घटना न तो अधिक विस्तृत रूप में वर्णित हो और न ही संक्षिप्त रूप में। गौण कहानियां प्रधान कहानी से इस तरह सम्बन्धित हों कि पाठक को यह प्रतीत न हो कि यह पृथक् कहानियाँ हैं या ये गौण कथाएँ बलात् प्रधान कथा से सम्बन्धित की गई हैं। यही नहीं, घटनाओं की स्वाभाविकता कहानी की सफलता को द्विगुणित कर देती है।

प्रस्तुत नाटक मालविकाग्निमित्र में प्रधान कथा अग्निमित्र की मालविका से प्रेमकथा है। इसके अतिरिक्त इस नाटक में दो गौण कथाएं है—एक अग्निमित्र के पिता सेनापति पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ की कथा है तथा दूसरी विदर्भराज यज्ञसेनपर वीरसेन द्वारा आक्रमण और उसकी विजय की कथा है। ये दोनों ही गौण कथाएँ नाटक में अधिक स्थान नहीं घेरतीं। पुष्यमित्र द्वारा किए जाने वाले अश्वमेधयज्ञ की कथा का संकेत नाटक के अन्त में पाठकों को मिलता है। हाँ, विदर्भराज यज्ञसेन पर आक्रमण की कथा का संकेत दो स्थलों पर मिलता है। एक तो प्रथम अंक में तथा दूसरा अन्तिम अंक में। ये दोनों कथाएँ प्रधान कथा से पूर्णतया सम्बन्धित हैं और प्रधान कथा के मूलकार्य की सफलता में सहायता देती हैं। हम पहले विदर्भराज पर आक्रमण की कथा को लेते हैं—प्रथम अंक में यह बताया जाता है कि माधवसेन अपनी बहिन का सम्बन्ध अग्निमित्रसे करने की इच्छा से अपनी बहिन और स्त्री के साथ अग्निमित्र के पास आ रहा था, परन्तु मार्गमें विदर्भराज के सीमा रक्षक ने आक्रमण कर उन्हें वन्दी कर लिया। माधवसेन का वन्दी बनाया जाना अग्निमित्र का अपमान था। अग्निमित्र इस अपमान को कैसे सहन कर सकता था। परिणामतः अग्निमित्र ने विदर्भराज यज्ञसेन को उन्हें मुक्त करने के लिए लिखा, पर बदले में विदर्भराज ने अपने भाई माधवसेन को जो कि अग्निमित्र का वन्दी था, छोड़ने के लिए कहा। इस पर क्रुद्ध होकर अग्निमित्र ने अपने साले वीरसेन को विदर्भराज पर आक्रकण करने के लिए नियुक्त किया। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि माधवसेन अपनी जिस बहिन का सम्बन्ध अग्निमित्र से करने की इच्छा से आ रहा था, वह कन्या कोई और नहीं थी, मालविका ही थी। इस प्रकार यह घटना मूल कथा से पूर्णतया सम्बन्धित है। अन्तिम अंक में रानी धारिणी जब मालविका का विवाह अग्निमित्र से करने का निश्चय करती है, तब विदर्भराज पर उसके भाई वीरसेन द्वारा प्राप्त विजय का समाचार मिलता है। इस विजय की सूचना से रानी अत्यधिक प्रसन्न हो जाती है। इस

प्रसन्नता के आवेश में वह अपने पति के साथ मालविका के विवाह का निश्चय कर लेती है।

दूसरी गौण कथा प्रधान कथा से पृथक् अस्तित्व रखती है. मूल कथा के साथ उसका केवल इतना सम्बन्ध है कि रानी धारिणी के पुत्र वसुमित्र ने यवनों को पराजित कर अपने दादा पुष्पमित्र का अश्वमेध यज्ञ सफल कर दिया। इस सफलता ने भी रानी धारिणी, रानी इरावती को अत्यधिक प्रसन्नता प्रदान की। इस प्रसन्नता के अवसर पर रानी सबको मुँह-माँगा पारितोषिक देनेको उद्यत हो गई। तो फिर ऐसे शुभमय समय पर वह अपने प्राणेश्वर अग्निमित्र की इच्छा को क्यों न पूर्ण करती। अतः स्पष्ट है कि इन दोनों गौण कथाओं ने रानी धारिणीको अग्निमित्र के साथ मालविका का विवाह करने के लिए प्रेरित किया।

कथानक की सफलता का दूसरा आधार घटनाओं की स्वाभाविकता है इस दृष्टि से मूल्याध्ययन करने पर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि प्रस्तुत नाटक में कोई भी घटना ऐसी नहीं जिसे अस्वाभाविक कहा जाए। राजा का मालविका का चित्र देख उस पर मुग्ध होना, उसको देखने की इच्छा करना, विदूषक से सहायता लेना, रानी धारिणी का सुन्दरी मालविका को सुन्दरता के लोभी अपने पति की आँखों से बचाना, राजा की इच्छा की पूर्ति के लिए विदूषक का नाट्याचार्यों में झगड़ा पैदा करना, इरावती का मालविका से अपने पति को बातें करते देख कर ईर्ष्या की आग में जलना, रानी धारिणी का मालविका और उसकी सखी बकुलावलिका को बन्दी बनाना, विदूषक का उन्हें छुड़ाना, प्रसन्नता के आवेग में रानी धारिणी का राजा के साथ मालविका का विवाह करना आदि सभी घटनाएँ पूर्णतया स्वाभाविक हैं एवं अपने उचित क्रम में नाटक में घटती दिखाई गई हैं।

कथानक में कोई भी घटना ऐसी नहीं जिसका वर्णन या तो औचित्य की सीमा को लाँघ गया हो या अधिक संकुचित हो। यही नहीं नाटक में कोई भी घटना ऐसी नहीं जो कथानक की गति को रोकती हो या कुण्ठित करती हो।

सच तो यह है कि प्रस्तुत कथानक में नाटक के शरीर की अपेक्षा घटनाएँ अधिक हैं और वे बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ती हैं। पाठक को कहीं कोई वर्णन अरुचिकर प्रतीत नहीं होता। वास्तव में सम्पूर्ण कथानक बड़ा रोचक है। लेखक ने इसे अधिक रोचक बनाए रखने के लिए कई युक्तियों का प्रयोग किया है। पाठक के मन में प्रत्येक स्थल में यही उत्सुकता बनी रहती है कि "अब क्या होगा ?" मालविका कौन है ? कहाँ से आई हैं ?" यह जिज्ञासा पाठक के मन में नाटक के आरंभ में पैदा हो जाती है। मालविका के चित्र पर मुग्ध हुआ राजा क्या करेगा ? मालविका का नृत्य देखकर राजा मालविका से मिलने की क्या योजना बनाएगा ? प्रमदवन में मालविका से बातें करते हुए राजाको देख कर, ईर्ष्या की आग में जलती हुई रानी इरावती क्या करेगी ? मालविका और बकुलावलिका को बन्धन से कैसे छुड़ाया जायगा ? समुद्रगृह में मालविका और अग्निमित्र का मिलन अपनी आँखों से देखकर इरावती अब कौन-सा कदम उठाएगी आदि-आदि सम्बन्धी जिज्ञासा पाठकों के मन में सदैव बनी रहती है। सच तो यह है कि एक जिज्ञासा को शान्त करते ही लेखक दूसरी जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है। रोचकता को बनाए रखने के लिए दूसरी युक्ति हास्य रस का प्रयोग है। विदूषक का स्वप्न में बुड़बुड़ाना, लकड़ी को साँप समझ कर डरना आदि हास्यजनक घटनाएँ हैं।

कथानक की सफलता घटनाओं की सार्थकता पर भी निर्भर होती है। नाटक के आरम्भ में दो सखियों के पारस्परिक वार्तालाप से हमें मालविका के नृत्य सीखने तथा रानी धारिणी की सर्पमुद्रा बनवाये जाने का ज्ञान होता है। ये दोनों सूचनाएँ आगे जाकर नाटक की सफलता में आधारशिला बनती हैं। जब रानी धारिणी पहले ही मालविका को अपने पति की दृष्टि से बचा कर रखती है, तब कौन सी ऐसी युक्ति हो सकती है, जिससे अग्निमित्र उसके दर्शन कर सके। इसका समाधान कालिदास की पैनी प्रतिभा ने ढूंढ़ निकाला। मालविका नृत्य सीखे, ताकि आगे जाकर नाट्याचार्यों की निपुणता का निर्णय उसकी नृत्य-कला में प्राप्त प्रवीणता बन सके। इससे लेखक ने दो कार्य किये—एक तो

मालविका के सौंदर्य के दर्शन अग्निमित्र को करवा दिये। दूसरा उसकी नृत्य-कला से तथा चालिका गीत से अग्निमित्र के मन में मालविका के लिए तड़प भी द्विगुणित कर दी। इसी प्रकार सर्पमुद्रा भी मालविका और वकुलावलिका को बन्धनमुक्त करवाने के लिए अत्यावश्यक थी। यदि सर्पमुद्रा न होती, तो विदूषक को अपने इस कार्य को सम्पन्न करने में अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता, अतः स्पष्ट है कि यह मुद्रा सर्प द्वारा काटे जाने पर विदूषक द्वारा बनाये गये बहाने का तथा मालविका और वकुलावलिका को बन्धनमुक्त करवाने का आधार बनी।

इसके बाद प्रथमांक में ही राजा अग्निमित्र का विदर्भराज यज्ञसेन से संघर्ष आरम्भ हो जाता है। इस संघर्ष की उपकथा से नाटक में दो लाभ हुए हैं। एक तो मालविका के सम्बन्ध में हमें ज्ञात हो जाता है और यह भी पता लग जाता है कि उसके भाई ने पहले ही मालविका का सम्बन्ध राजा अग्निमित्र से करने का निश्चय कर रखा था, अतः अन्त में जब रानी धारिणी को मालविका की वास्तविकता का ज्ञान हुआ, तब उसके लिए मालविका का विवाह अग्निमित्र के साथ करना और भी आसान हो गया। दूसरा इस कथा से यह सिद्ध हो गया कि राजा अग्निमित्र केवल प्रेमी ही नहीं, उसका ध्यान देश की सुरक्षा पर भी है। सीमा-प्रान्त प्रदेशों में उसका राज्य की सुरक्षा का प्रबन्ध बहुत अच्छा था। यही कारण है कि राजाज्ञा प्राप्त होते ही वीरसेन ने एक सप्ताह के अन्दर यज्ञसेन को पराजित करके उसके राज्य का प्रबन्ध भी कर दिया था। यही नहीं, शत्रु पर विजय का समाचार रानी धारिणी के लिए सौभाग्य का विषय था। इस अपार हर्ष के अवसर पर उसने अपने प्रिय पति की हार्दिक इच्छा को पूर्ण करके उसे उचित पारितोषिक दिया।

दूसरे अंक के बाद नाटक की गति स्थगित होती प्रतीत होती है। राजा ने मालविका को देख लिया, पर उसके साथ मिलने के लिए कोई युक्ति सोची गई हो, इसका कोई संकेत यहाँ पर नहीं मिलता। अतः दूसरे अंक में कोई ऐसी घटना नहीं जिसने तीसरे अंक की किसी घटना को जन्म दिया हो। अतः दूसरे अंक तक की घटनाएँ तीसरे अंक से पाँचवें अंक तक

की घटनाओं से कटी हुई प्रतीत होती हैं। तीसरे अंक में हमें यह पता लगता है कि विदूषक की चपलता से रानी धारिणी के पाँव में चोट आ गई, अतः अशोक के दोहद-कार्य के लिए रानी धारिणी ने मालविका को नियुक्त कर दिया। इधर मालविका अशोक के दोहद की पूर्ति के लिए जाती है, उधर विदूषक राजा को लेकर इरावती से मिलने के लिए प्रमदवन में आता है। इरावती भी राजा को मिलने के लिए प्रमदवन में आती है। अशोक वृक्ष के नीचे मालविका को देख कर एक ओर राजा और विदूषक छिप जाते हैं और दूसरी ओर इरावती और निपुणिका। इरावती को राजा की उपस्थिति का ज्ञान नहीं था और न ही राजा को इरावती की उपस्थिति का। मालविका को राजा और इरावती में से किसी की भी उपस्थिति का ज्ञान नहीं था। कालिदास की यह घटना बड़ी ही महत्त्व वाली घटना है। इसके द्वारा अग्निमित्र को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि मालविका के मन में उसके लिए कितना प्यार है? राजा भी मालविका के संशय को सामने आ कर दूर कर देता है और अपने प्रणय को प्रकट करता है। यहाँ कथानक एक नया मोड़ लेता है। इरावती प्रकट होकर राजा और मालविका के प्रेमानन्द को किरकिरा कर देती है। यहाँ नाटक में एक जटिलता पैदा हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप मालविका तथा बकुलावलिका को बन्दी बनना पड़ा और उनको बन्धनमुक्त कराने के लिए विदूषक को नई चाल चलनी पड़ी। बन्धन से मुक्त करवाने के बाद यह आवश्यक था कि विदूषक मालविका का मेल राजा से भी करवाता। उसने ऐसा समुद्रगृह में किया। इधर राजा के मित्र विदूषक का सर्प द्वारा डसा जाना सुनकर इरावती का विदूषक को देखना भी स्वाभाविक था। वह विदूषक को देखने के लिए समुद्रगृह में आई। यहाँ मालविका और अग्निमित्र को इकट्ठा देखकर रानी इरावती की क्रोधाग्नि और भी भड़क उठी। अतः स्पष्ट है कि तीसरे अंक के बाद की सभी घटनाएँ परस्पर सम्बन्धित हैं। यहाँ की प्रत्येक घटना दूसरी घटना को जन्म देती है। तृतीय अंक में अशोक वृक्ष के दोहद की घटना भी बड़ी महत्त्वशाली है। एक तो इस घटना ने अग्निमित्र और मालविका का एक दूसरे के सामने आना और अपना प्रणय प्रकट

करना सम्भव बना दिया और दूसरा मालविका की इच्छापूर्ति को सम्भव बना दिया। रानी धारिणी ने मालविका को यह वचन दिया था कि यदि अशोक वृक्ष पाँच दिनों के अन्दर पुष्पित हो जाए, तब वह उसे मनचाहा पारितोषिक देगी। समुद्रगृह में इरावती द्वारा देखे जाने पर भी मालविका अधिक भयभीत नहीं होती। इसका कारण मालविका के मन में विश्वास था कि रानी धारिणी अपने वचन को पूरा करेगी और उसकी हार्दिक इच्छा पूर्ण होगी। पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ की घटना भी सार्थक है। यह घटना रानी धारिणी को अपार प्रसन्नता प्रदान करती है, परिणामतः वह अपने पति को उसका मनचाहा पारितोपिक देने के लिए तैयार हो जाती है। उपरिदत्त विवरण से स्पष्ट है कि नाटक की सभी घटनाएँ सार्थक हैं, परस्पर सम्बन्वित हैं और उनका अंकन भी औचित्य की सीमा में ही रहा है।

इस कहानी की एक और विशेषता संघर्ष है। वैसे भारतीय नाटकों में संघर्ष उस मात्रा में नहीं दिखाया जाता, जिस मात्रा में विदेशी नाटकों में दिखाया जाता है। दूसरी बात यह है कि भारतीय नाटकों में संघर्ष का परिणाम सदैव सुखात्मक है। यही कारण है कि भारतीय नाटक प्रायः सुखान्त होते हैं। प्रस्तुत नाटक में भी आन्तरिक और बाह्य संघर्ष दिखाये गये हैं, पर यह संघर्ष कुछ अधिक जोर नहीं पकड़ पाये। बड़ी सुगमता से इन सभी का अन्त हो गया। बाह्य संघर्षों में विदर्भराज यज्ञसेन के विरुद्ध आक्रमण तथा पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ में बाधा बनने वाले यवनों की पराजय है। इन दोनों बाह्य संघर्षों का समाधान बड़ी सुगमता से हो गया।

राजा अग्निमित्र के मन में मालविका के लिए तड़प में, उसको पत्नीरूप में प्राप्त करने के लिए किये गये प्रयत्नों में तथा इरावती की ईर्ष्या और रानी की सावधानता में आन्तरिक संघर्ष दिखाई देता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि लेखक ने उक्त संघर्ष के अवसर तो दिखाये हैं, पर संघर्ष को तीव्रता नहीं दिखाई।

अन्त में कहानी की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में भी दो शब्द कहना उचित होगा। नाटक में कुछ पात्रों के नाम तो ऐतिहासिक हैं, मालविका और अग्नि-

मित्र की प्रेमकथा ऐतिहासिक नहीं। सम्भव है कि कालिदास के समय में यह कथा लोगों में प्रचलित हो (विशेष उत्तर के लिए कथानक की ऐतिहासिकता देखें)।

संकलनत्रय—इसमें स्थान की एकता, समय की एकता तथा क्रिया की एकता सम्मिलित है। यदि ये तीनों एकताएँ किसी एक नाटक में पाई जाएँ तो उस नाटक की सफलता पर्याप्त मात्रा में बढ़ जाती है। नीचे हम इन तीनों एकताओं का क्रमशः समीक्षण करते हैं :—

स्थान की एकता—स्थान की एकता से हमारा अभिप्राय यह है कि जो भी घटनाएँ नाटक में वर्णित हों, उनका घटनास्थल थोड़े बहुत भेद के साथ प्रायः एक ही होना चाहिये। संस्कृत नाटकों में इस एकता का ध्यान नहीं दिया गया। इन नाटकों में यदि एक घटना पृथ्वीतल पर घटी दिखाई है, तो दूसरी घटना स्वर्ग में दिखाई गई है। इस प्रकार स्थान की एकता का निर्वहण संस्कृत नाटकोंमें बहुत कम हुआ है। प्रस्तुत नाटक मालविकाग्निमित्र में इस एकता का पूर्ण निर्वाह हुआ है। इसमें प्रथम अंक की घटना राजा के दरबार और उसके पार्श्ववर्ती स्थल में घटी दिखाई गई है। दूसरे अंक की घटना राजदरबार से सम्बन्धित नाट्यशाला में घटी है, तीसरे अंक की घटना प्रमदवन में अशोक वृक्ष के पास, चतुर्थ अंक की घटना प्रमदवन के समुद्रगृह में और पंचम अंक की घटना पुनः प्रमदवन में अशोक वृक्ष के पास घटी दिखाई गई है। इस प्रकार मालविकाग्निमित्र का सम्पूर्ण घटनाचक्र राजमहल में ही सीमित रहा। अतः स्थान की एकताका इसमें पूर्णतया पालन हुआ है।

समय की एकता—समय की एकता से हमारा अभिप्राय यह है कि नाटक का सम्पूर्ण कथानक थोड़े समय तक ही सीमित रहना चाहिये। एक अंक की घटना को अधिक से अधिक एक दिन का समय लेना चाहिये। दो अंकों के बीच का समय भी अधिक नहीं होना चाहिये। दो अंकों के बीच में एक रात का समय अवश्य लग जाना चाहिये। संस्कृत नाटकों में एकता का पालन नहीं किया गया। प्रथम और अन्तिम अंकों के बीच में कई वर्षों का समय व्यतीत होता दिखाया गया है। उदाहरणस्वरूप विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तल के

 96907

प्रथम और अन्तिम अंक की घटनाओं में कई वर्षों का व्यवधान है। उत्तररामचरित के प्रथम और द्वितीय अंक में बारह वर्षों का समय व्यतीत हो गया। प्रस्तुत नाटक मालविकाग्निमित्र में इस एकता का पूर्ण ध्यान दिया गया है। इस नाटक की पूर्ण घटना तीन-चार सप्ताहों में ही समाप्त हो जाती है।

क्रिया की एकता—इस एकता में घटनाओं की एकता देखी जाती है। कथानक की आलोचना में हम देख आये हैं कि प्रस्तुत नाटक की सभी घटनाएँ परस्पर शृंखलाबद्ध हैं। पहले दो अंकों में जो घटनाएँ पाई गई हैं, वे सभी परस्पर इस प्रकार बँधी हुई हैं कि यदि उनमें से किसी एक घटना को निकाल दिया जाए, तो वे सभी घटनाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। इसी प्रकार तीसरे अंक से लेकर पाँचवें अंक तक ही घटनाएँ भी परस्पर सम्बन्धित हैं। हाँ, दूसरे अंक के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि कहानी रुक गई है, उसको आगे चलाने के लिए किसी नए सूत्र की आवश्यकता प्रतीत होती है। यह दोष विशेष खटकने वाला नहीं, अतः स्पष्ट है कि प्रस्तुत नाटक की घटनाएँ परस्पर सम्बन्धित हैं।

मालविकाग्निमित्र की घटना को कितना समय लगा? नाटक के अन्तिम अंक में परिव्राजिका के मुख से हमें इस बात का ज्ञान होता है कि ज्योतिषी के कथनानुसार मालविका को एक वर्ष दासी के रूप में रहना था, अतः मालविका के अपने भाई से बिछुड़ने से लेकर अग्निमित्र से विवाह तक का समय लगभग एक वर्ष का है। (संवत्सरमात्रमियं प्रेष्यभावमनुभूय ततः सदृशभर्तृगामिनी भविष्यति), नाटक के सूक्ष्म अध्ययन से हमें यह भी ज्ञात होता है कि मालविका धारिणी के पास पूरा एक वर्ष भी नहीं रही होगी। जब मालविका नाट्याचार्य गणदासके पास गई, तब उसने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मालविका थोड़े ही दिनों में बड़ी निपुणता प्राप्त कर गई है। यहीं हमें यह भी पता लगता है कि राजा मालविका का चित्र देख चुका है। मालविका के चित्र पर मुग्ध होकर राजा उसे देखे बिना नहीं रह सकता था, अतः उसने शीघ्र ही विदूषक को अपना विश्वास-पात्र बना कर अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए उससे सहायता प्राप्त की होगी। इस घटना के बाद कथानक की गति बहुत तीव्र हो गई। यह भी सम्भव है कि रानी धारिणी के पास जब मालविका

होगी, उसने उसी समय उसे नृत्यकला सीखने के लिए नियुक्त नहीं किया होगा। एक दो मास बाद ही मालविका की रुचि को देखकर रानी धारिणी ऐसा कर पाई होगी, अतः स्पष्ट है कि मालविका अपने भाई से बिछुड़ने के एक-आध महीने के बाद रानी धारिणी के पास पहुँची होगी। रानी धारिणी ने भी एक-दो महीने के बाद उसे नृत्यकला सीखने के लिए भेजा होगा। इस प्रकार लगभग तीन या चार महीने ऐसे ही व्यतीत हो गये होंगे। रानी ने बड़ी सावधानी से मालविका को अपने पति की कोकदृष्टि से बचा कर रखा होगा। इस प्रकार कई महीने तक तो राजा को मालविका का ज्ञान ही नहीं होगा। चित्र में मालविका को देखने के बाद राजा और विदूषक को कम से कम एक या १½ महीना अपनी योजनाओं को सफल बनाने में लग गया होगा। दोनों नाट्याचार्य, जो पहले बड़े प्रेम से रहते थे, आपस में ईर्ष्या करने लगे। ऐसी स्थिति पैदा करने में भी पर्याप्त समय लग गया होगा। इसके बाद नाटक की कथा बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ी।

प्रथम अंक की घटना को लगभग दो घण्टे लगे होंगे। यह घटना वसन्त ऋतु में घटी होगी क्योंकि इसमें कई स्थानों पर फूलों के खिलने आदि का उल्लेख है। दूसरे अंक की घटना भी सम्भव है उसी दिन घटी। प्रथम अंक के अन्त में यह बताया गया है कि नाट्याचार्यों की परीक्षा के लिए तैयारियाँ आरम्भ हो गई हैं। जब परीक्षा आरम्भ हुई तो मालविका का नृत्य देखने के बाद ही दोपहर हो गई और खाने के लिए सब चले गए। यदि यह घटना दूसरे दिन घटती तो दोनों आचार्यों की परीक्षा हो जाती; अतः स्पष्ट है कि पहले अंक की घटना ने प्रातः ८ बजे से लेकर १० बजे तक का समय और दूसरे अंक की घटना ने ११-१ बजे तक का समय लिया होगा।

तृतीय अंक की घटना दूसरे अंक की घटना के तीन या चार दिन बाद घटी होगी। इसका संकेत हमें तृतीय अंक में निम्नलिखित वाक्य से मिलता है—"मालविकाप्येषु दिवसेषु अनुभूतमुक्तेव मालतीमाला म्लायमाना लक्ष्यते"। इस वाक्य में प्रयुक्त "एषु दिवसेषु" यह सिद्ध करते हैं कि द्वितीय अंक की घटना को घटे कुछ दिन व्यतीत हो गए होंगे। कितने दिन लगे होंगे, इसका संकेत हमें

उद्यानपालिका तथा समाभृतिका के पारस्परिक वार्तालाप से मिलता है। उद्यानपालिका यह जानना चाहती है कि नाट्याचार्यों की परीक्षा का क्या परिणाम निकला ? यदि द्वितीय अंक की घटना को घटे अधिक दिन हो गये होते, तो नाट्याचार्यों की परीक्षा का परिणाम सबको विदित होता। क्योंकि परिणाम किसी को विदित नहीं, अतः परीक्षा की घटना को घटे तीन-चार दिन से अधिक समय नहीं लगा होगा। इसकी पुष्टि राजा की शारीरिक अवस्था से भी हो जाती है। इसमें राजा का वर्णन करते हुए कहा है—'शरीरं क्षामं स्यात्'। इस अंक की दोहद की घटना उसी दिन घटी होगी जिस दिन प्रवेशक की घटना। ऐसा मानने का कारण यह है कि इसमें मधुकरिका रानी धारिणी के पास अशोक के दोहद की सूचना देने के लिए जाती हुई बताई गई है। रानी ने भी उसी दिन मालविकाको अशोक के दोहद की इच्छा की पूर्ति के लिए नियुक्त कर दिया होगा। अशोक वृक्ष के पास मालविका और अग्निमित्र को परस्पर बातें करते देख कर उत्तेजित इरावती उसी दिन या दूसरे दिन रानी धारिणी के पास गई होगी, परिमाणतः रानी धारिणी ने मालविका और बकुलावलिका को बन्दी बना दिया।

चौथे अंक की घटना मालविका के बन्दी बनाए जाने के दूसरे दिन की घटना है, क्योंकि विदूषक ने यह स्पष्ट कहा है—"ह्यः किल तत्रभवतीरावती·····"। इस अंक के समाप्त होने से पूर्व ही इस बात की घोषणा कर दी जाती है कि पाँच रात्रियाँ बीतने से पहले ही अशोकवृक्ष फूलों से लद गया। अतः स्पष्ट है कि तीसरे अंक की घटना के तीसरे दिन बाद इस अंक की घटना घट गई। पंचम अंक की घटना दूसरे दिन प्रातः घटी होगी, क्योंकि उस समय रानी ने ब्राह्मणों को दक्षिणा देने के लिए रुपये भेजे थे। दक्षिणा प्रातः के समय दी जाती है। यही नहीं, राजा भी न्यायालय में गया हुआ दिखाया गया है। न्यायालय का काम भी प्रायः प्रातः के समय ही होता है। अतः स्पष्ट है कि अंतिम अंक की घटना चतुर्थ अंक के बाद दूसरे दिन की घटना होगी।

अतः उपरिदत्त विवरण से स्पष्ट है कि इस नाटक की प्रथम दो अंकों की घटनाएँ एक ही दिन में घटी होंगी। तीसरे अंक की घटना लगभग एक सप्ताह

वाद, चौथे अंक की घटना तीन दिन वाद और पाँचवें अंक की घटना एक दिन वाद घटी होगी अतः सम्पूर्ण नाटक की घटना को १२–१३ दिन लगे होंगे।

क्या मालविकाग्निमित्र खेला जा सकता है ?—इस दृष्टि से प्रस्तुत नाटक की आलोचना करने से पूर्व हमारे लिए यह जानना अत्यावश्यक हो जाता है कि, वे कौन सी विशेषताएँ हैं जो नाटक को रंगमंच पर खेलने के योग्य वना देती हैं ? सव से प्रथम स्थान घटनाओं का है। नाटक में ऐसी घटनाएं नहीं आनी चाहिएँ जिनको रंगमंच पर दिखाना कठिन हो, उदाहरणस्वरूप विमान द्वारा यात्रा आदि। इनका रगमंच पर दिखाना कठिन है। इस दृष्टि से मालविकाग्निमित्र एक सफल नाटक प्रमाणित हुआ है। कालिदास के दूसरे दो नाटकों—विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल में ऐसी दो घटनाएँ हैं, जिनको रगमंच पर नहीं दिखाया जा सकता। प्रस्तुत नाटक में प्रमुख घटनाएँ नाट्याचार्यों का झगड़ा, उनकी परीक्षा, प्रमदवन में अशोकवृक्ष की दोहद-पूर्ति की कथा, समुद्रगृह की घटना और पुनः अशोकवृक्ष के नीचे मालविका के साथ राजा के विवाह की घटना है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि प्रमदवन का रगमंच पर दिखाना कठिन है। यह आक्षेप कुछ सीमा तक उचित है। प्रमदवन दिखाना और फिर उसमें एक ओर राजा और विदूषक को छिपा हुआ दिखाना और दूसरी ओर इरावती और निपुणिका को छिपा हुआ दिखाना कठिन है। पर इस कठिनाई को थोड़े परिश्रम के साथ दूर किया जा सकता है। वाग दिखाने के लिए एक तो वड़े-वड़े चित्रित परदों का प्रयोग किया जा सकता है और दूसरा वड़े वड़े पौधों को गमलों आदि में रखकर वाग का आकार प्रदर्शित किया जा सकता है। इस नाटक में दो और घटनाएँ हैं। वे हैं विदर्भराज और यवनों के युद्ध और उनकी पराजय की कथा। रंगमंच पर युद्ध दिखाना न तो उचित है और न ही सम्भव है। अतः लेखक ने इनको रंगमंच पर न दिखा कर उनका संकेतमात्र दे दिया है। अतः इस दृष्टि से प्रस्तुत नाटक पूर्णतया सफल सिद्ध हुआ है।

दूसरी वात घटनाओं के अनावश्यक विस्तार एवं व्यर्थ के वर्णनों के अभाव की है। इस दृष्टि से भी यह नाटक सफल प्रमाणित हुआ है। प्रस्तुत नाटक में

लम्बे वर्णनों की बात ही क्या छोटे वर्णन तक नहीं मिलते। वस्तुतः घटनाओं का अनावश्यक विस्तार एवं पुनरुक्ति नाटक को अरोचक बना देते हैं, परिणामतः नाटक रंगमंच पर पूर्णतया सफल नहीं होता।

तीसरी बात यह है कि नाटक का विषय भी दुरूह नहीं होना चाहिये यदि नाटक में गम्भीर शास्त्रीय विषयों की या दार्शनिक विषयों की चर्चा रहेगी तो वह नाटक साधारण पाठक के समझ की वस्तु न रह कर विद्वज्जनों के मस्तिष्क की खुराक बन जाएगा। प्रस्तुत नाटक में ऐसा कोई स्थल नहीं जहाँ पर शास्त्रीय एवं दार्शनिक विषयों की चर्चा हो।

चौथी विशेषता भाषासम्बन्धी है। यदि नाटक की भाषा सुगम होगी तो साधारण द्रष्टा भी नाटक को देख कर उसे समझ पाएगा और उसका पूर्ण आनन्द प्राप्त करेगा। इसके विपरीत यदि नाटक की भाषा कठिन होगी, तो नाटक द्रष्टाओं की समझ में नहीं आएगा, परिणामतः नाटक अच्छा होता हुआ भी असफल हो जाएगा। प्रस्तुत नाटक की भाषा सरल है, कथोपकथन संक्षिप्त, सारगर्भित एव रोचक है। पात्रों की संख्या भी कम है। पात्रों की संख्या अधिक होने से कुछ गड़बड़ सी मच जाती है, सभी पात्रों का पूर्ण रूप से चित्रण करना सम्भव नहीं होता। साधारण पाठकों के लिए कथानक का समझना कठिन हो जाता है।

अतः उपरिदत्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रस्तुत नाटक सभी दृष्टियों से सफल नाटक है।

सामाजिक अवस्था—ग्रन्थकार का प्रयत्न तो यह रहता है कि वह जिस समय के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थ की रचना कर रहा है, उसी समय की सामाजिक अवस्था का वर्णन अपने ग्रन्थ में करे। इस प्रयत्न में वह अपने समय की सामाजिक अवस्था का उल्लेख अपनी रचना में नहीं आने देता। फिर भी यह कहना कठिन है कि उसकी रचना मे उसके अपने समय की झलक दिखाई नही पड़ती। लेखक कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, उसके अपने समय की सामाजिक अवस्था का चित्रण हर दशा में उसकी रचना में झलक ही जाता है। अतः यह कहना कि मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र के समय की सामाजिक अवस्था का उल्लेख

है, उचित नहीं। इसमें कालिदास के समय की सामाजिक अवस्था का उल्लेख भी पर्याप्तमात्रा में पाया जाता है। मालविकाग्निमित्र के आधार पर तत्कालीन सामाजिक अवस्था का चित्र निम्नांकित है।

उस समय राजा लोग वहुविवाह करते थे। वहुविवाह की प्रथा उस समय ही प्रचलित नहीं थी, वाद में भी यह प्रथा रही। आधुनिकतम काल के राजाओं में भी इस प्रथा का जोर पाया गया है। पाश्चात्य विद्वानों को यह भारती प्रथा वहुत अखरती है, पर भारत में इसे अभी तक वुरी दृष्टि से नहीं देखा गया। दूसरी वात यह है कि राजा लोग चाहे वहुविवाह में विश्वास रखते हों, पर उनके अन्दर अनैतिकता एवं अपवित्रता कभी नहीं आने पाई। उन्होंने कभी पर-स्त्री से न तो सम्वन्ध रखा और न ही सम्वन्ध स्थापित करने की इच्छा रखी और न ही किसी अविवाहिता से अवैध सम्वन्ध रखा। राजाओं का प्रेम के विपय में उच्चादर्श था। इसके उदाहरण देखिए

दाक्षिण्यं नाम विम्वोष्ठि! वैम्विकानां कुलव्रतम्।
तथा—अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिध्यता समागमेनाऽपि रतिर्न मां प्रति।
परस्पर-प्राप्ति-निराशयार्वरं शरीर-नाशोऽपि समानुरागयोः॥

वहुविवाह होने पर भी स्त्रियां अपने पति का पूर्ण मान करती थीं। राजा की मन लगा कर सेवा करती थीं। उनका परस्पर सम्वन्ध भी ईर्ष्याद्वेष से रहित होता था। इरावती रानी धारिणी का पूर्ण मान करती थी। वह अपनी प्रत्येक शिकायत रानी धारिणी से करती थी और रानी धारिणी उस का पूर्ण मान रखती हुई उसकी इच्छा को पूर्ण करती थी। इस प्रकार परस्पर प्रेमभावना से रहती हुई वे अपने पति की पूर्ण सेवा करती थीं। यहाँ तक कि—'प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः'।

उस समय के सभी राजा धर्म को पूर्ण महत्त्व देते थे। यही कारण है कि उस समय व्राह्मणों और ऋषि-मुनियों का समाज में वड़ा मान था। सनातन धर्म अपने पूरे जोरों पर था। यज्ञ आदि पर लोगों का विश्वास था। राजा लोग अश्वमेध यज्ञ आदि करते थे। पुष्यमित्र का अश्वमेध यज्ञ इस मत को

पुष्ट करता है। ऐतिहासिकों के अनुसार पुष्यमित्र बौद्ध धर्म के बड़ा विरुद्ध था। उसके सम्बन्ध में तो यह प्रसिद्ध है कि उसने बौद्ध भिक्षुओं के वध की आज्ञा दे रखी थी, परन्तु प्रस्तुत नाटक में इस सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता, अपितु इसके विपरीत बौद्ध भिक्षुओं का मान था। यदि ऐसा न होता तो परिव्राजिका को कभी राज्याश्रय न मिलता। राजा अग्निमित्र ने परिव्राजिका को न केवल आश्रय ही दिया, अपितु वह उससे अपने प्रतिदिन के महत्त्वपूर्ण कार्यों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श भी करता है। यहाँ तक कि रानी धारिणी भी परिव्राजिका के वचनों को टाल नहीं सकी। गणदास तथा हरदत्त के पारस्परिक झगड़े का निपटारा भी तो परिव्राजिका ही करती है। दोनों आचार्य परिव्राजिका के शब्दों को मान्य समझते हैं-तभी तो उन्हों ने कहा-"यदाज्ञापयति भगवती"। राजा भी यही कहता है—"यदादिशति"। साधुओं आदि का मार्ग उस समय बड़ा श्रेष्ठ समझा जाता था, तभी तो यह सुन कर कि परिव्राजिका ने गेरुए कपड़े ग्रहण कर लिए हैं, राजा अग्निमित्र कहता है—"युक्तः सज्जनस्येष्टः पन्थाः"।

उस समय प्रजा सुखी थी, लोगों का व्यापार बड़ा सुव्यवस्थित था। व्यापारी एक कोने से दूसरे कोने तक जाया करते थे। इन व्यापारियों के सार्थ (दल) के सार्थ अपने व्यापार की वृद्धि की इच्छा से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक जाते थे। माधवसेन राजकुमारी मालविका को साथ ले कर किसी ऐसे ही सार्थ से मिल गया था। देखिए—"स चाटव्यन्ते निविष्टो गताध्वा वणिग्जनः"। ये व्यापारी मार्ग में अपनी रक्षा के लिए सैनिकों को भी नियुक्त करते थे। ऐसा होने पर भी मार्ग में चोर-डाकू इन व्यापारियों को लूटने के लिए सदैव तैयार रहते थे। माधवसेन व्यापारियों के जिस सार्थ के साथ मिल गया था, मार्ग में उसको डाकुओं की सेना ने घेर लिया था। देखिए—

तूणीर-पट्ट-परिणद्ध भुजान्तराल—
माकर्ण-लम्बिशिखि-पिच्छकलाप-धारि।
कोदण्ड-पाणि निनदत् प्रतिरोधकाना—
मापात-दुष्प्रसहमाविरभूदनीकम्॥ ५॥ १०॥

उस समय नृत्य, संगीत एवं चित्रकलाओं को प्रजा बड़े चाव से सीखती थी। इन कलाओं का महत्त्व इतना अधिक था कि राजा लोग इनमें बड़ी रुचि रखते थे। यहाँ तक कि उन्हें राजाश्रय प्रदान करते थे। राजा अग्निमित्र के यहाँ गणदत्त तथा हरदत्त नामक दो आचार्य नृत्य एवं संगीत के ही आचार्य थे। वे राजाश्रित कन्याओं आदि को नृत्य एवं संगीत सिखाते थे। परिव्राजिका संन्यासिनी होते हुए भी नृत्यकला में बड़ी निपुण थी। यही कारण है कि गणदास तथा हरदत्त के झगड़े में राजा उसी को निर्णायिका बनाता है। निम्नलिखित श्लोक से उसका नृत्य एवं संगीतकला सम्बन्धी ज्ञान भी प्रकट हो जाता है—

यथाहष्टं सर्वमनवद्यम्। कुत —
अङ्गैरन्तर्निहत-वचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखा-योनिमृ दुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ।
भावो भावं नुदति विषयाद् राग-बन्धः स एव ॥ २·४ ॥

नृत्य एवं संगीतकला का मान विदर्भ देश में भी अधिक था—इसके प्रमाणस्वरूप विदर्भ देश से उपहार में भेजी गई दो कन्याएँ हैं, जो संगीत में पूर्णतया सिद्धहस्त हैं। राजा के पूछने पर कि वे किस कला में निपुण हैं, वे कन्याएँ उत्तर देती हैं।

"भर्तः! संगीतेऽभ्यन्तरे स्वः"

संगीत एवं नृत्यकला की तरह चित्रकला को भी राजाश्रय प्राप्त था। यह चित्रकला का ही चमत्कार है कि राजा मालविका के चित्र को देखकर उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो जाता है। कलाकार अपने चित्रों में प्राण फूँक देने की सामर्थ्य रखते होंगे। यदि ऐसा न होता तो एक ओर राजा मालविका के चित्र को देख कर इतना उद्विग्न न होता और उधर मालविका इरावती की ओर देखते हुए राजा के चित्र को देख कर ईर्ष्यान्वित न होती। मालविका बकुलावलिका से कहती है—"सखि! अदक्षिण इव भर्ता मे प्रतिभाति यः सर्वदेवी-जनमुज्झित्वैकस्या मुखे बद्धलक्ष्यः।"

उस समय वेद, कामतन्त्र, राजनीति शास्त्र और ललित कलाओं सहित अन्य विद्याओं का अध्ययन किया जाता था, पर इन विद्याओं का अध्ययन ज्ञान-परिवर्धन के लिए ही उचित समझा जाता था, आजीविका कमाने के लिए नहीं। इस सम्बन्ध में गणदास के निम्नलिखित विचार बड़े मार्मिक हैं—

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति॥

चिकित्साकला को भी उन दिनों में अधिक मान प्राप्त था। ऐसा विश्वास भी था कि बीमारी के समय दिया गया दान भी पर्याप्त मात्रा में सहायता देता है, अतः तत्कालीन चिकित्साकला में क्रिया तथा दान आदि का भी कुछ भाग मिला लिया जाता था। ध्रुवसिद्धि उस समय का महान् चिकित्सक समझा जाता था। इसको भी राजाश्रय प्राप्त था। वह विदूषक की चिकित्सा उदकुम्भविधान द्वारा करता है। लोग स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए नियत समय पर भोजन किया करते थे, क्योंकि वैद्य नियत समय से पहले या पीछे भोजन करना अच्छा नहीं समझते थे। "उचितवेलाव्यतिक्रमे चिकित्सका दोषमु दाहरन्ति"। परिव्राजिका द्वारा बताया गया साँप के डसे का इलाज आज भी अद्वितीय है। देखिये—

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्ट-मात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः॥

वैसे उस समय विषवैद्य हुआ करते थे, जिनका कार्य केवल साँप आदि जहरीले कीड़ों का विष उतारना ही होता था।

उस समय ज्योतिष विद्या का समाज में बड़ा मान था। ज्योतिषियों के वचनों को आप्तवाक्य मान कर उनके अनुसार कार्य किया जाता था। यदि राजा के ऊपर भावी कष्ट की सम्भावना हो तो ज्योतिषाचार्यों के कथनानुसार खूब दानादि दिया जाता था। कैदियों को छोड़ दिया जाता था। एक उदाहरण देखिये—"दैवचिन्तकैर्विज्ञापितो राजा, सोपसर्गं वो नक्षत्रम् तदवश्यं सर्व-बन्धन-मोक्षः क्रियताम्"।

ग्रह को वक्रगति भी अशुभ मानी जाती थी—देखें—"यावदङ्गारको राशिमियानुक्रं प्रतिगमनं करोति"। ज्योतिषियों के कथनानुसार किसी महान् कार्य में संलग्न पुरुष की प्राणरक्षा के लिए अतुल धन-सम्पत्ति का दान भी किया जाता था। जैसा कि पहले कहा गया है, लोग ज्योतिषियों के वचनों को आप्त वचन मान कर उनके अनुसार आचरण करते थे। ज्योतिषियों के वचन प्रायः सत्य निकलते थे, तभी तो ज्योतिष विद्या की धाक बौद्ध भिक्षुओं पर भी थी। यदि ऐसा न होता, तो परिव्राजिका राजा अग्निमित्र को मालविका के सम्बन्ध में वास्तविकता पहले ही बता देती। परिव्राजिका के शब्दों में ही देखिए—'इयं पितरि जीवति केनापि देवयात्रागतेन सिद्धाऽऽदेशेन साधुना मत्समक्षमादिष्टा, संवत्सरमात्रमियं प्रेष्य-भावमनुभूय ततः सदृश-भर्तृ-गामिनी भविष्यति इति। तदवश्यंभाविनमादेशमस्यास्त्वत्पाद-शुश्रूषया परिणमन्तमवेक्ष्य कालप्रतीक्षया मया साधु कृतमिति पश्यामि"।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय लोगों को भाग्य पर विश्वास था। वे समझते थे कि विधाता ने एक बार उनके मस्तक पर जो कुछ लिख दिया है, उसे किसी भी दशा में दूर नहीं किया जा सकता। परिव्राजिका समझती थी कि यदि मालविका का विवाह राजा के साथ एक वर्ष दासी के रूप में जीवन व्यतीत करने से पहले ही कर दिया जाता, तो उसे पुनः एक बार किसी की दासी अवश्यमेव बनना पड़ता।

राजा लोग अपने राज्य का प्रबन्ध करने के लिए मन्त्रिपरिषद् की सहायता लिया करते थे। वैसे मन्त्रिपरिषद् राजा की प्रत्येक इच्छा का पालन किया करती थी परन्तु विशेष कार्यों के सम्बन्ध में मन्त्रिपरिषद् विचार-विनिमय करके अपना निश्चय दिया करती थी। प्रस्तुत अंक में राजा अग्निमित्र ने विदर्भराज को बाँधना चाहा, परन्तु ऐसा करने से पहले उसने अपना विचार मन्त्रिपरिषद् में भेजा। देखिए–कञ्चुकी,–"देव! एवममात्यपरिषदे निवेदयामि।"' कञ्चुकी—विजयतां देवः। देव! अमात्यो विज्ञापयति, "कल्याणी देवस्य बुद्धिः। मन्त्रिपरिषदोऽप्यमेव दर्शनम्।

सीमाप्रान्तों का प्रबन्ध करने के लिए गवर्नर आदि नियुक्त किए जाते थे। उदाहरणस्वरूप विदर्भराज की सीमा पर रानी धारिणी के भाई वीरसेन की नियुक्ति इसीलिए की गई थी। राजा का सीमा-प्रान्तों की सुरक्षा का प्रबन्ध बहुत अच्छा था, तभी तो राजाज्ञा प्राप्त करते ही वीरसेन ने विदर्भराज पर आक्रमण करके उसे एक सप्ताह के अन्दर जीत लिया।

न्याय का प्रबन्ध भी बहुत अच्छा था। राजा स्वयं भी लोगों की शिकायतों को सुन कर उनका यथोचित समाधन करके न्याय का पालन किया करता था।

चरित्र चित्रण—

अग्निमित्र—राजा अग्निमित्र प्रस्तुत नाटक का नायक है। शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार वह 'धीरोदात्त' नायक है। धीरोदात्त नायक वीर एवं विचारवान् होते हैं। ऐसे नायक कामी क्यों न हों, पर वे प्रत्येक कदम बड़ा सोच-विचार कर उठाते हैं। प्रस्तुत नाटक में अग्निमित्र में धीरोदात्त के सभी गुण पाए जाते हैं। इस नाटक में प्रमुख रूप से राजा अग्निमित्र को सौन्दर्य-प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। वह विवाहित राजा है, उसकी दो रानियाँ—इरावती तथा धारिणी हैं। दो रानियों के होते हुए भी उसकी कामाग्नि सन्तृप्त नहीं होती। नाटक के अन्त में बताया गया है कि राजा अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र ने अपने दादा पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की रक्षा करते हुए यवनों को परास्त किया है। उसमें स्पष्ट है कि राजा की आयु कम से कम ४०-४५ वर्ष होगी। ४०-४५ वर्षों का बूढ़ा एक ऐसी लड़की के प्रेमपाश में फँसे जो आयु में उसके लड़के के बराबर हो, कुछ जँचता नहीं। यही कारण है कि कुछ पाश्चात्य आलोचकों को राजा के चरित्र की यह हीनता बहुत खटकी। कुछ आलोचकों ने तो राजा को कायर, प्रमत्त-कामी तथा कपटी तक कह दिया है। राजा कामी अवश्य था, परन्तु प्रमत्तकामी नहीं। वह मालविका का सौन्दर्य चित्र में ही देख कर बहुत व्याकुल हो गया। उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो गया, पर मालविका के वियोग में उसकी तड़प संयम की सीमा से बाहर नहीं गई। मालविका के साथ अपने इस सम्बन्ध और तड़प को छिपाने के लिए

उसने एक दो स्थलों पर झूठ भी बोला है यथा—"सुन्दरि ! न मे मालविकया कश्चिदर्थः" ।

राजा बड़ा समझदार व्यक्ति है, अवसर को पहचानने वाला है, अकारण किसी के दिल को दुखाता नहीं । उसमें दाक्षिण्य चरम सीमा तक पहुँचा हुआ है । यही कारण है कि वह अपनी रानियों के साथ बड़ा विनीत व्यवहार करता है । यदि वह चाहता, तो रानी धारिणी एवं इरावती की परवाह न करके, मालविका के साथ विवाह कर लेता, पर वह ऐसा नहीं करता, यह उसका गुण ही तो है, देखिए—"बलवत्खलु साभिलापस्तस्यां भर्ता ! केवलं देव्या धारिण्याश्चित्तं रक्षन्नात्मनः प्रभुत्वं न दर्शयति" ।

तृतीयांक में रानी इरावती जब राजा पर अत्यधिक क्रुद्ध होती है, उसे 'शठ' तक कह देती है और अपनी तागड़ी से राजा को पीटने के लिए उद्यत तक हो जाती है, राजा तब भी क्रोध नहीं करता । बडी विनम्रता से रानी को समझाने का प्रयत्न करता है, यहाँ तक कि रानी के पाओं भी पड़ जाता है । देखिए —

अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि !
वर्धयसि विलसितं त्वं दास-जनायाद्य कुप्यसि च ॥

नूनमिदमनुज्ञातम् (इति पादयोः पतति) ।

चतुर्थांक में भी जब इरावती समुद्रगृह में मालविका के साथ राजा अग्निमित्र को बातें करते हुए देख लेती है, तो बड़ा बिगड़ती है, पर राजा फिर उसे बड़ी नम्रता से समझाने का प्रयत्न करता है—"नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सव-दिवसेषु परिजनो बंधनम् इति मोचिते मयैते प्रणिपतितुं मामुपगते च" ॥

उसके दाक्षिण्य का हमें उस समय और भी श्रेष्ठ उदाहरण मिलता है जब मालविका ने यह समझा कि राजा रानी धारिणी से डरता है—"यो न विभेति स मया भट्टिनीदर्शने दृष्टसामर्थ्यो भर्ता" उस समय राजा कहता है "दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि ! वैम्बिकानां कुलव्रतम्" राजा के इस दाक्षिण्य की धाक तो अन्तःपुर में जमी हुई थी । राजा अग्निमित्र जब रानी इरावती को मिलने के लिए

नहीं जाना चाहता तब विदूषक उसे समझाता है कि अन्तःपुर में प्रतिष्ठित दाक्षिण्य को एक पग भी पीछे न करो—"नार्हति भवानन्तःपुरप्रतिष्ठं दाक्षिण्यमेकपदे पृष्ठतः कर्तुम्" ।

राजा बड़ा संयमी है, वह कोई भी कदम ऐसा नहीं उठाना चाहता जिसमे उसकी किसी भी रानी को दुःख हो मालविका के साथ प्रेम हो जाने के कारण उसके अन्दर व्याकुलता है, अतः उसे इस बात का डर है कि कभी उसकी व्याकुलता रानी तक प्रकट न हो जाए—

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः ।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां ननु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ॥

राजा अधीर स्वभाव का व्यक्ति नहीं । मालविका को चित्र में देख कर वह उसके प्रेम में पागल तो हो गया, पर इतना नहीं कि उसका प्रेम सब पर प्रकट हो जाए । अशोकवृक्ष के नीचे बकुलावलिका ने मालविका से कहा—'एष उपारूढ़राग उपभोगक्षमः पुरस्ते वर्तते" । तब मालविका के पूछने पर कि 'किं भर्ता' ? राजा बड़ा प्रसन्न होता है और कहता है "सखे ! पर्याप्तमेतावता कामिनाम्" ।

राजा केवल कामी ही नहीं, वह वीर भी है । नाटक में कहीं भी उसके शौर्य का प्रदर्शन नहीं हुआ, पर स्थान २ पर उसके शौर्य की ओर संकेत किया गया है । वसुमित्र को यवनों पर विजय का समाचार सुनते ही विदूषक, परिव्राजिका तथा कञ्चुकी के क्रमशः निम्नलिखित वाक्य राजा के शौर्य को उच्चैरुद्घोषित करते हैं—

१. परितुष्टोऽस्मि यत् पितरमनुगतो वत्सः ।

२. कलभेन खलु यूथपतिरनुकृतः ।

३. देव ! अयं कुमारः ।

नैतावता वीरविजृम्भितेन चित्तस्य नो विस्मयमादधाति ।
यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चैरग्नेरपां दग्धुरिवारुजन्मा ॥

राजा राजकार्य को बड़ी कुशलता से सम्पन्न करता रहा है। पहले अंक में ही राजा राज्य की सुरक्षा के सम्बन्ध में चिन्तित दिखाई देता है और अपने साले वीरसेन को विदर्भ पर आक्रमण करने की आज्ञा देता है।

राजा अग्निमित्र बड़ा उदार व्यक्ति है। उसने यज्ञसेन से उसका राज्य छीना नहीं, वल्कि उसका राज्य माधवसेन के साथ आधा आधा बाँटकर अपनी उदारता का परिचय देता है।

राजा सभी कार्य अपने मन्त्रिवर्ग के परामर्श से ही करता है। यदि वह चाहे तो स्वयं आज्ञा देकर सभी काम करवा सकता है, पर वह ऐसा न करके मन्त्रिवर्ग को अपने विश्वास में रखना उचित समझता है। विदर्भ के राज्य को बाँटने की अपनी इच्छा को राजा ने मन्त्रि-परिषद् के आगे रखा—'कल्याणी देवस्य बुद्धिः। मन्त्रिपरिषदोऽप्येवमेव दर्शनम्'।

राजा सेवाधर्म को श्रेष्ठ समझता है। दास की बड़ी भारी विशेषता यही है कि वह अपने स्वामी की सेवा करता हुआ प्राण त्यागे। इसी विचार से सुमति की मृत्यु पर वह परिव्राजिका को यह कह कर धैर्य बँधाता है कि 'न शोच्यस्तत्रभवान् सफलीकृतभर्तृपिण्डः'।

राजा को ललित-कलाओं से बड़ा प्रेम था। तभी तो नृत्यकला तथा नाट्यकला के दो-दो आचार्य राज्याश्रय में पल रहे थे। चित्रकला को भी राज्याश्रय प्राप्त था।

उपरिदत्त विवरण से स्पष्ट है कि राजा अग्निमित्र केवल कामी ही नहीं था, वह एक कुशल राजनीतिज्ञ, योद्धा तथा कलाकार भी था। कालिदास उसका चित्रण करने में बड़े सफल सिद्ध हुए हैं।

मालविका—मालविका प्रस्तुत नाटक की नायिका है। भोलीभाली पवित्र मन वाली यह नायिका विदर्भराज की राजकुमारी है। उसकी शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में हमें नाटक से तो कोई संकेत नहीं मिलता, पर उसके सम्पूर्ण व्यवहार से यही प्रतीत होता है कि वह एक शिक्षित वाला है। उसका सौंदर्य अद्वि-

तोय है। यही कारण है कि मालविका का चित्र देख कर राजा उस पर मोहित हो गया, पर जब उसे साक्षात् देखा, तब तो उसके सौन्दर्य से इतना प्रभावित हुआ कि उसके सौन्दर्य का वर्णन भी वह नहीं कर सका--वह विदूषक को कह उठा—

चित्रगतायामस्यां कान्ति-विसंवादशङ्कि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता॥

मालविका स्वभाव से बड़ी सन्तोष वाली थी। उसने बुरे दिन बड़े धैर्य से व्यतीत किये। राजकुमारी होते हुए भी वह रानी धारिणी के पास दासी के रूप में सहर्ष काम करती रही। वह किसी को रोकर अपनी वास्तविक अवस्था से परिचित नहीं कराती। उसके ऐसा करने के अन्य कारण भी हो सकते हैं। एक तो उसका भविष्यवाणी पर विश्वास और दूसरा राजा का उसके प्रति आकर्षण। जब वह यह समझती है कि उसे हर दशा में एक वर्ष दासी के रूप में रहना पड़ेगा, तो फिर वह अपने इस दुर्भाग्य पर क्यों चिल्लाए। दूसरी बात यह भी है कि रानी धारिणी के पास रहते हुए उसे पूरा सम्मान मिला, ललित कलाओं को सीखने का अवसर मिला, और अन्त में राजा का प्रेम भी। ये सभी बातें उसके सावधि दुःख को भुलाने के लिए पर्याप्त थीं।

मालविका बड़ी कुशाग्र-बुद्धि बालिका है। रानी धारिणी ने उसे नृत्यकला सीखने के लिए नाट्याचार्य गणदास के पास भेजा। उसकी ग्रहण-कुशलता पर गणदास चकित रह गए। परिणामतः वे मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा किए बिना न रह सके—

यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै।
तत्तद्विशेष-करणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला॥

उसके नृत्य एवं संगीत से गणदास ही सन्तुष्ट नहीं, प्रत्युत परिव्राजिका तथा विदूषक भी उसकी प्रशंसा किए बिना न रह सके। परिव्राजिका ने उसके नृत्य को निर्दोष बताया—यथादृष्टं सर्वमनवद्यम्। कुतः—

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव ॥

विदूषक द्वारा की गई प्रशंसा भी पूर्णतया उचित है—"भो न केवलं रूपे शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका"।

उसका सुन्दरी होना और साथ-साथ एक श्रेष्ठ कलाकार होना, उसके महत्त्व को, उसके सौन्दर्य को चार चाँद लगा देता है—राजा के शब्दों में देखिए—

अव्याजसुन्दरीं तां विज्ञानेन ललितेन योजयता ।
परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदिग्धः ॥

मालविका के अन्दर परपुरुषों के सामने स्वतन्त्रता से नृत्य करने का साहस नहीं। कुछ लोग इसे कायरता या भीरुपन भी कह सकते हैं, पर हमारी दृष्टि में यह न तो उसकी कायरता थी और न ही भीरुपन! स्त्रियों का गुण है लज्जाशील होना। कोई भी कुलीन स्त्रियाँ निस्संकोच पर पुरुष के सामने नृत्य नहीं कर सकती, यह नृत्य चाहे उसकी परीक्षा के निमित्त ही क्यों न हो। यही कारण है कि मालविका को जब राजा आदि के सामने अपने नृत्य की परीक्षा देनी पड़ी, तो वह बहुत घबरा गई। उसकी इस घबराहट को दूर करने के निमित्त गणदास ने कहा—"वत्से! मुक्तसाध्वसा सत्त्वस्था भव"।

साँप आदि से मालविका बहुत डरती थी। विदूषक के साँप-साँप के शोर को सुन कर राजा जब उसकी रक्षा के लिए बाहर जाता है, तब मालविका बहुत घबरा जाती है! वह राजा को बाहर जाने से रोकती है और कहती है—"भर्तः! मा तावत् सहसा निष्क्रम सर्प इति भण्यते"।

डाकुओं से तो वह बहुत भयभीत हो चुकी है। डाकुओं की चर्चा चलने पर मालविका अधिक भयभीत हो जाती है (मालविका भयं रूपयति) विदूषक

उसकी इस अवस्था को पहचान कर कहता है—"भवति ! मा बिभेहि। अति-क्रान्तं खलु भगवती कथयति"।

मालविका अपनी सखी बकुलावलिका से मन की बात नहीं छिपा सकती। राजा के लिए मालविका के मन में इतना अधिक प्रेम है कि बकुलावलिका के "एष उपारूढ़राग उपभोगक्षमः पुरस्ते वर्तते"। कहने पर उसके मुख से अनायास ही निकल पड़ा—"किं भर्ता" ?

अन्य स्त्रियों की तरह मालविका के मन में स्वभावसुलभ सौतियाडाह भी है। वह जानती है कि इरावती राजा की परिणीता पत्नी है, पर ऐसा होने पर भी वह यह नहीं सह सकी कि राजा चित्र में उसी की ओर देखे। देखिए वह ईर्ष्यावश क्या कह उठती है—"अदक्षिण इव भर्ता मे प्रतिभाति यः सर्वदेवीजन-मुज्झित्वैकस्या मुखे बद्धलक्ष्यः"। जब बकुलावलिका उसे बताती है कि वह राजा की चेली है, तब उसे धैर्य होता है—"ततः किमिदानीमात्मानमायासयि-ष्यामि"।

मालविका राजा अग्निमित्र से प्रेम करती है पर रानी धारिणी से अधिक डरती है। इस डर के दो कारण हो सकते हैं। एक तो उसके मन की यह शंका कि यदि रानी धारिणी को उसके प्रेम का ज्ञान हो गया तो सम्भव है कि वह उसे वहाँ से निकाल दे, और दूसरा धारिणी द्वारा दिया गया कारावास का दण्ड भी उसके मन में भय पैदा करता था। यही कारण है कि वह राजा से दिल खोलकर अपने मन की बात नहीं कह सकती। उसने राजा को कहा—"देव्या भयेनाऽऽत्मनः प्रियं कर्तुं न पारयामि"। इसके उत्तर में राजा ने जब उसे कहा—"अयि, न भेतव्यम्" तब वह ताने में राजा से कहती है—"यो न बिभेति स मया भट्टिनीदर्शने दृष्टसामर्थ्यो भर्ता"। यही कारण है कि जब इरावती उसे राजा के संग देख लेती है तब वह भावी दण्ड के भय से काँप उठती है—"देवीं चिन्तयित्वा वेपते मे हृदयम्। न जाने अतः परं किं वाऽनुभवितव्यं भविष्यतीति"।

मालविका के चरित्र में एक दोष दिखाई देता है—वह है उसका बूढ़े राजा पर अनुरक्त होना। मालविका जानती है कि राजा के पहले ही दो रानियाँ हैं,

प्रकार सपत्नी का मान रखा जाता है। अन्तिम अंक में रानी धारिणी यह निश्चय कर लेती है कि मालविका का परिचय राजा से करा दिया जाए, तब वह रानी इरावती से भी इसकी अनुमति लेती है। इस प्रकार रानी धारिणी कभी भी इरावती के मन को ठेस नहीं पहुँचाती।

रानी धारिणी बड़ी पैनी प्रतिभा की प्रतिमा है। गणदास तथा हरदत्त के झगड़े में वह भाँप जाती है कि इसमें राजा तथा विदूषक का कुछ हाथ है, अतः वह नहीं चाहती कि मालविका अपने नृत्य की परीक्षा राजा के सामने दे। वह इतनी धृष्ट भी नहीं बन सकती थी कि राजा का प्रत्याख्यान कर देती। अन्त में उसने मालविका की परीक्षा का प्रस्ताव मान लिया।

रानी धारिणी अपने वचनों की धनी है। बकुलावलिका रानी की इस विशेषता को अच्छी प्रकार जानती थी। रानी ने मालविका को अशोक की दोहद-पूर्ति के लिए नियुक्त किया और साथ ही यह प्रण भी किया कि यदि अशोक पाँच दिनों में पुष्पित हो गया, तो वह उसे मनचाहा पारितोषिक देगी। एक ओर तो अशोक तीन रातों के अन्दर ही अन्दर पुष्पित हो गया और दूसरी ओर राजा के साथ मालविका को फिर देख लिया। परिणामतः मालविका दण्ड के भय से बहुत घबरा रही थी इसपर बकुलावलिका उसे मनोरथ पूरा करने की बात कह कर प्रसन्न करती है, क्योंकि रानी अपना वचन अवश्य पूरा करेगी—"आश्वसितु सखी। सत्यप्रतिज्ञा देवी"।

रानी धारिणी किसी को भी उसके अधिकार से वंचित करना नहीं चाहती। जब उसे पता लगा कि मालविका उच्च वंश से सम्बन्ध रखती है, तो उसे इस बात का दुःख हुआ कि उसने मालविका को उस अधिकार से वंचित किया जोकि उसे मिलना चाहिए था, अतः उसने बड़े खेद से कहा—"चन्दनं खलु मया पादुकापरिभोगेन दूषितम्।" अनजाने में किए गए अपने इस अपराध के पश्चात्तापस्वरूप उसने मालविका का परिणय राजा से कर दिया।

उपरिदत्त विवरण से स्पष्ट है कि रानी धारिणी आदर्श आर्यललना थी, वह पति को ही सर्वस्व समझती थी। पति की प्रसन्नता के लिए वह अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए भी तत्पर रहती थी।

इरावती—इरावती अग्निमित्र की दूसरी रानी थी। वह धारिणी की अपेक्षा युवती थी। मालविका के आगमन से पूर्व राजा अग्निमित्र इरावती से अधिक प्रेम करता था। समुद्रगृह में टँगे चित्र भी इरावती के प्रति राजा के प्रणय को प्रकट करते हैं। एक चित्र में राजा अग्निमित्र बड़े प्रेम से इरावती को देखता हुआ दिखाया गया था। इस चित्र को देखकर मालविका को ईर्ष्या हो गई—'कैषा परिवृत्तवदनेन भर्त्रा स्निग्धया दृष्ट्या निध्यायते—अदक्षिण इव भर्ता मे प्रतिभाति यः सर्वदेवीजनमुज्झित्वैकस्या मुखे बद्धलक्ष्यः" ।

इरावती यह जानती है कि रानी धारिणी के प्रति राजा का प्रेम उतना नहीं जितना कि उसके प्रति है। वह नहीं चाहती कि राजा उसे छोड़कर किसी दूसरी कन्या से प्रेम करे। जब उसे पता लगा कि राजा का प्रेम मालविका से भी है, तब उसके क्रोध की सीमा न रही। परिणामतः उसने राजा को बहुत बुरा-भला कहा—"शठ ! अविश्वसनीयहृदयोऽसि" । उसके क्रोध की पराकाष्ठा हमें उस समय दिखाई देती है जब वह राजा को अपनी तागड़ी से पीटना चाहती है—वह कहती है—"इयमपि हताशा त्वामेवानुसरति" । (इति रशनामादाय राजानं ताडयितुमिच्छति)। वह क्रोध के आवेग में इतना पागल हो जाती है कि उसे ज्ञान ही नहीं रहता कि क्या करना चाहिए और वह क्या कर रही है। राजा इरावती के पाओं भी पड़ता है, पर वह राजा की एक नहीं सुनती। उलटा उसे कहती है—"न खल्विमौ मालविकायाश्चरणौ, यौ ते स्पर्श-दोहदं पूरयिष्यतः" । रानी इरावती वास्तव में इस प्रकार की अविनय-शालिनी स्त्री नहीं है। उसका यह आचरण उसके मदयुक्ता होने के परिणाम-स्वरूप हुआ। मद प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि को हर लेता है, इरावती की तो बात ही क्या ? पर प्रकृतिस्थ होने पर वह अपने दुर्व्यवहार पर पश्चात्ताप करती है—"चित्रगतमार्यपुत्रं प्रसादयितुम्" ।

इरावती बड़ी शंकालु प्रवृत्ति की है। राजा के व्यवहार से उसे इस बात की शंका पहले ही हो गई थी कि राजा मालविका के प्रति आकृष्ट है। प्रमदवन में इरावती राजा को देखती है, पर जब वह दिखाई नहीं देता, तब वह निपुणिका के आगे अपना शंकालु मन प्रकट करती है—'हञ्जे ! न मे चरणावन्यतः प्रवर्तेते। मनो मम किमपि विकारयति। आशङ्कितस्य तावदन्तं गमिष्यामि।

स्थाने खलु कातरं मे हृदयम्"। यह कह कर वह वहीं राजा की खोज में लग जाती है। अन्त में उसकी शंका सत्य ही निकली। राजा वहीं पर छिप कर मालविका के सौंदर्य का पान कर रहा था।

इरावती के अन्दर बदले की भावना पूरी भरी पड़ी है। जब उसने पहली बार राजा को मालविका के साथ बातें करते देख लिया तब वह बहुत दुःखी हुई। उसने रानी के पास शिकायत की और परिणामतः मालविका तथा बकुलावलिका को कारावास का दण्ड दिलाया। जब विदूषक अपनी युक्ति से मालविका को बन्धन से छुड़ाने में समर्थ हो गया, तब इरावती वास्तविकता को न समझकर इसमें रानी धारिणी का हाथ समझती है। वह नहीं चाहती थी कि मालविका का विवाह राजा के साथ हो, पर परिस्थितिवश उसे रानी धारिणी को अनुमति देनी पड़ी। उसे इसका दुःख बहुत था, तभी तो वह राजा को बधाई देने के लिए स्वयं नहीं आई। वह बड़ी क्रोधशील स्त्री थी, तभी तो राजा ने उसके सम्बन्ध में कहा—"दीर्घरोषता तत्रभवत्याः"।

कौशिकी नाटक में यह परिव्राजिकारूप में उपस्थित है। यह माधवसेन की बहन है। माधवसेन जब कौशिकी के साथ मालविका को लेकर आ रहा था, तब मार्ग में डाकुओं से मुठभेड़ में माधवसेन मारा जाता है। मालविका भी बिछुड़ जाती है। तब सर्वनाश होनेपर कौशिकी संन्यासिनी बन जाती है। घूमते-घूमते वह रानी धारिणी के पास पहुँचती है और उसका आश्रय ग्रहण कर लेती है। सौभाग्यवश मालविका को भी वहीं देख कर वह प्रसन्नचित्त हो वहाँ रहने का निश्चय करती है।

कौशिकी बड़ी समझदार स्त्री थी। उसने अपने गुणों के कारण सभी के मन में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया था। अतः सभी उसे 'पण्डितकौशिकी' कह कर पुकारते थे। वह प्रत्येक कार्य को बड़ी निपुणता के साथ करती थी। मन ही मन में वह चाहती थी कि मालविका एक वर्ष के दासी-जीवन के अनन्तर अग्निमित्र की पत्नी बन जाए, अतः वह विदूषक के साथ मिल कर मालविका और राजा के मिलन की योजनाएँ बनाने लगी। कितनी निपुणता से उसने

यह कार्य किया, जिसका अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि रानी धारिणी तथा रानी इरावती तक को उसके ऊपर तनिक भी सन्देह नहीं हुआ। रानी धारिणी नहीं चाहती थी कि मालविका किसी भी सूरत में अग्निमित्र के सामने आकर नृत्य करे, पर परिव्राजिका कितनी चतुराई से रानी को अन्ततः ऐसा करने पर सहमत कर ही लेती हैं। यह समझ कर कि रानी कुछ क्रुद्ध हैं, वही बड़ी विनम्रता से रानी को समझाती है—

अनिमित्तमिन्दुवदने ! किमत्रभवतः पराङ्मुखीभवसि।
प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः॥

कौशिकी ने चलित नृत्य को भी जान बूझ कर चुना। इस नृत्य में नर्तकी अपने मन में स्थित प्रेम के भावों को संगीत की सहायता से अपने प्रिय के आगे प्रकट करने में समर्थ होती है। यही नहीं, राजा मालविका के शारीरिक सौन्दर्य को भी सम्यक देख सके। कौशिकी ने नाटचाचार्यों को आदेश दिया—'निर्णयाधिकारे ब्रवीमि—सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये विरलनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु'।

वैसे कौशिकी का रानी धारिणी से बड़ा प्रेम है। वह प्रतिक्षण उसके साथ रहती है। उसके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझती है। तभी तो उसे रानी धारिणी की सहायिका कहा गया है, देखिए विदूषक ने उसके सम्बन्ध में कहा—"अपिहा-अपिहा! उपस्थिता पीठमर्दिका पण्डित-कौशिकीं पुरस्कृत्य देवी धारिणी।"

रानी धारिणी के पाओं में जब चोट आ गई थी, तब कौशिकी उसके पास बैठी कथाएँ कह-कह कर उसका मनोरञ्जन करती थी। प्रतिहारी राजा से कहती है—"प्रवातशयने देवी निषण्णा रक्तचन्दन-धारिणा परिजन-हस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति।"

कौशिकी नृत्य एवं संगीतकला में बड़ी कुशल है। उसके इस ज्ञान की धाक नाटचाचार्यों पर भी थी। इसी गुण के कारण दोनों नाटचाचार्यों के विवाद को समाप्त करने के लिए उसे ही निर्णायिका चुना गया। इस सम्बन्ध में अनेक

स्थलों पर अनेक नृत्य एवं संगीत सम्बन्धी ज्ञान का संकेत मिलता है। वह राजा से कहती है—"देव ! चतुष्पदोद्भवं चलितं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति तत्रैकार्थ-संश्रयमुभयोः प्रयोगं पश्यामः"। यही नहीं, निम्नलिखित पद्य तो संगीत में उसकी पारंगतता को प्रकट करता है—

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः,
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखा-योनिमृ दुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्ध स एव ॥ २—४

कौशिकी शृंगार-कला में भी परमपटु है। वह जानती है किस समय किस प्रकार का शृंगार उचित होगा। जब रानी धारिणी की आज्ञा से मालविका को वैवाहिक वेष में सजाया जा रहा था, तब उसने कहा—"यत्त्वं प्रसाधनगर्वं वहसि, तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे वैदर्भविवाहनेपथ्यम्।

कौशिकी को साँप द्वारा काटे गए व्यक्ति का इलाज भी आता है। यह इतना सफल सिद्ध हुआ है कि आधुनिक विज्ञान के युग में भी इसे कोई नहीं बदल सका। कौशिकी के अनुसार—

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्ट-मात्राणामायुषः प्रतिपत्तयः ॥ ४—४

कौशिकी को संसार का पर्याप्त अनुभव प्राप्त था। इसी अनुभव के आधार पर बुराई और अच्छाई को पहचानने में देर नहीं लगती। यही कारण है कि वह सच्चे शिक्षक की परिभाषा दिए विना नहीं रहती। वह कहती है—"तदेव वक्तुकामास्मि—

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्म-संस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥१–१६

कौशिकी को ज्योतिष-शास्त्र पर विश्वास है। यही कारण है कि वह मालविका के सम्बन्ध में की गई भविष्यवाणी को आप्तवाक्य समझ कर उसपर

आचरण करती है। वह जानती थी कि मालविका को उचित वरप्राप्ति से एक वर्ष पूर्व दासी का जीवन व्यतीत करना होगा, अतः रानी धारिणी के पास दासी का जीवन व्यतीत करती हुई मालविका को देख कर वह वास्तविकता नहीं बताती। यदि वह वास्तविकता बता देती, तो सम्भवतः उसे कहीं और दासी जीवन व्यतीत करना पड़ता।

कौशिकी का रानी धारिणी के पास रहने का विशेष प्रयोजन यही था कि मालविका की देखरेख करे और उचित समय आने पर उसका विवाह करके अपने भाई के पास चली जाए। तभी तो नाटक के अन्त में रानी धारिणी की कृपा से मालविका राजा अग्निमित्र की रानी बन गई तब वह वापस जाना चाहती है, पर राजा ने उसे जाने नहीं दिया। यह उसके उत्तम गुणों के कारण ही है।

वकुलावलिका नाटक में वकुलावलिका रानी धारिणी की दासी के रूप में दृष्टिगोचर होती है, पर अन्त में उसकी सहायिका बनती है। उसका मालविका के प्रति अधिक आकर्षण स्वार्थवश नहीं अपितु मालविका के गुणों के कारण ही था, तभी तो वह कहती है "अतिक्रामन्तीमिवेरावतीं पश्यामि"। मालविका के साथ उसका इतना गाढ़सम्बन्ध हो गया कि वह उसे अपना दूसरा शरीर समझती है—'अयि शरीरमसि मे"।

वकुलावलिका बड़ी चतुर दूती है वह जानती है कि मालविका लज्जावश या रानी के डर से या अविश्वास के कारण उससे अपने हृदय की बात नहीं कहती, पर उसने बड़ी चातुरी से मालविका के मुख से उसके अन्तरतम में छिपे प्रेम के भाव प्रगट करवा ही लिए—देखिए कितनी चतुराई से वकुलावलिका ने निम्नलिखित शब्द कहे—

"एष उपारूढराग उपभोगक्षमः पुरस्ते वर्तते"। इतना सुनते ही मालविका अनायास पूछ उठी—"किं भर्ता"। बस इतने में ही मालविका ने अपने में स्थित गूढ़तम भावों को प्रकट कर दिया। उसके सफल दूतीत्व को देखकर ही राजा ने कहा —"स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः"। इरावती भी यही समझती है

कि वकुलावलिका दूतिका के कार्य में पूर्णतया सफल सिद्ध हुई है—"दिष्ट्या दूत्यधिकारविषया सम्पूर्णा ते प्रतिज्ञा"

वकुलावलिका निडर स्त्री है। रानी धारिणी द्वारा दिए गए कारावास के दण्ड को सहर्ष सहती है। वहाँ से मुक्त होने के बाद भी मालविका का साथ नहीं छोड़ती, अपितु मालविका का अग्निमित्र से मिलन करवाने के लिए अथक प्रयत्न करती है। समुद्रगृह में मालविका को अग्निमित्र के साथ जब इरावती ने देख लिया, तब मालविका भय से काँपने लगी, पर वकुलावलिका को इसकी तनिक भी चिन्ता न हुई, बल्कि उसे आश्वासन दिलाती हुई कहती है—"आश्वसितु सखी, सत्यप्रतिज्ञा देवी"। वास्तव में उसने मालविका को वचन दे रखा था कि कष्ट के समय वह उसकी एक- मात्र सहायिका होगी, देखिए—

मालविका—त्वं तावद् दुर्जातेऽस्यत्यन्तं सहाया भव!

वकुला०—विमर्दसुरभिर्वकुलावलिका खल्वहम्॥

गौतम—प्रस्तुत नाटक में विदूषक का नाम गौतम है। संस्कृत-नाटकों में विदूषक एक आवश्यक पात्र है। यह नायक का मित्र होता है और हास्य रस का अभिनेता होता है। विदूषक का जितना महत्त्व प्रस्तुत नाटक में है, उतना अन्य किसी भी नाटक में नहीं। यहाँ विदूषक हँसोड़ के रूप में कम और राजा के सहायक के रूप में अधिक प्रकट हुआ है। सच तो यह है कि इस नाटक में विदूषक का महत्त्व इतना है कि यदि इसे निकाल दिया जाए, तो नाटक का [illegible] गिर जाएगा। इसी की सहायता एवं युक्तियों से नाटक का कथानक आगे बढ़ा और राजा को सफलता मिली। इसके उर्वर मस्तिष्क की उपज के बिना राजा को वृथा ही प्रेम-पीड़ा में घुलना पड़ता। नाटक के आरम्भ में ही विदूषक राजा के आज्ञाकारी सेवक के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। उसने स्पष्ट कहा—आज्ञप्तोऽस्मि तत्रभवता राज्ञा—"गौतम! चिन्तय तावदुपायम्, यथा मे यदृच्छा-दृष्ट-प्रतिकृतिः मालविका प्रत्यक्षदर्शना भवति इति"। वह एक आज्ञाकारी सेवक के रूप में राजा की सहायता करने लग जाता है। वह नाट्याचार्यों का परस्पर झगड़ा पैदा कर देता है। इस झगड़े के निर्णय में परिव्राजिका को

निर्णायिका बनाया जाता है। विदूषक ने परिव्राजिका को पहले ही अपनी ओर कर लिया था। परिणामतः मालविका नृत्यप्रदर्शन के लिए रंगमंच पर आती है। नृत्य के बाद कुछ देर के लिए मालविका को रंगमंच पर रोक कर विदूषक ने उसके सौन्दर्य-पान के लिए राजा को और भी अधिक समय दिया। देखिए किस बहाने से विदूषक ने मालविका को रोका—"भवति ! तिष्ठ। किमपि वो विस्मृतः क्रम-भेदः। तं तावत् प्रक्ष्यामि"। मालविका के मन में भी राजा के लिए प्रेम-पीडा पैदा करने के लिए विदूषक ने उसकी सखी वकुलावलिका को भी अपने साथ मिला लिया, परिणामतः प्रमवदन में और पुनः समुद्रगृह में मालविका के साथ राजा का एकान्तमिलन सम्भव बना दिया। समुद्रगृह में कितनी निपुणता से विदूषक ने वकुलावलिका को भी वहाँ से भेज कर राजा को पूर्ण एकान्त प्रदान किया—यह विदूषक के शब्दों में देखिए—'वकुलावलिके ! एष बालाशोक-वृक्षस्य पल्लवानि लङ्घयति हरिणः, एहि निवारयाव एनम्"। उसकी इस अतुल सहायता के लिए राजा उसका आभारी है। राजा ने स्वयं माना है कि उसकी सहायता से ही उसे इस कार्य में आशा होने लग गई है—"साधु वयस्य ! निपुणमुपक्रान्तम्। इदानीं दुरधिगमसिद्धावप्यस्मिन्नारम्भे वयमाशंसामहे कुतः—

अर्थं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव।
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि ॥ १०

वास्तव में विदूषक राजा के व्यक्तिगत कार्यों–प्रेम–का मन्त्री है तभी तो राजा ने उसे 'कार्यान्तरसचिवः' कह कर सम्मानित किया है। (अयमपरः कार्यान्तरसचिवः)। उसकी कुशल बुद्धि पर राजा को पूर्ण विश्वास था। परिणामतः उसकी हर बात को मान कर राजा आगे बढ़ता था। देखिए, उसने विदूषक को कहा—"प्रतिगृहीतं वचः सिद्धि–दर्शिनो, ब्राह्मणस्य"।

प्रस्तुत नाटक में विदूषक अपने वास्तविक रूप में भी हमारे सामने आता है। संस्कृत-साहित्य के अन्य नाटकों के विदूषकों के समान वह पेट तथा आलस्य के दोष से भी मुक्त नहीं। अन्य नाटकों में तो विदूषक को सदैव भोजन के स्वप्न आते हैं, पर इस नाटक में विदूषक की भोजनलिप्सा, केवल दो स्थलों पर ही

प्रकट की गई है। द्वितीय अंक में जब दोपहर का समय हो गया, तब विदूषक की प्रसन्नता का पारावार न रहा। वह बोल उठा—'अविहा-अविहा ! ब्राह्मणस्य भोजनवेला संवृत्ता, अत्रभवतोऽपि। उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति। भवति ! विशेषपानभोजनं त्वरय'।

"भवताऽप्यहम् दृढं विपणिकन्दुरिव मे उदराभ्यन्तरं दह्यते"।

तृतीय अंक में भी विदूषक को हम खाने के स्वप्न लेते हुए देखते हैं—"ही ही ! इयं खलु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिका उपनता"।

विदूषक की हास्यप्रधान प्रवृत्ति का दूसरा रूप उसकी सर्पभीरुता है। निपुणिका विदूषक की इस प्रवृत्ति को जानती थी। तभी तो उसने कहा—"इमं भुजंगभीरुकं ब्रह्मबन्धुमनेन भुजंगकुटिलेन दण्डकाष्ठेन स्तम्भान्तरिता भीषयिष्यामि"। निपुणिका की यह बात सफल हुई। विदूषक केवल डरा ही नहीं, अपितु उसने सर्प द्वारा काटे जाने का जो बहाना बनाया था, उसकी वास्तविकता सबके सामने प्रकट कर दी—"(सप्रहासम्) कथं दण्डकाष्ठमेतत्। अहं पुनर्जाने यन्मया केतकी-कण्टकैर्दंशं कृत्वा सर्पस्य इव दंशः कृतस्तन्मे फलितमिति"।

विदूषक का दिन के समय सोना भी उसी प्रकार हास्यजनक है। सोते हुए विदूषक बुड़बुड़ाता है, परिणामतः उसकी योजनाओं का रहस्य इरावती के सामने प्रकट हो जाता है। बुड़बुड़ाता हुआ विदूषक कहता है—भवति माल-विके ! ·····इरावतीमतिक्रामन्ती भव"।

अन्य नाटकों में विदूषक मन्दबुद्धि दिखाया गया है, परन्तु प्रस्तुत नाटक में विदूषक मन्दबुद्धि नहीं। उसकी सूझ-बूझ से ही राजा को मालविका से मिलने में सफलता मिली। वैसे विदूषक अपने आपको मन्दबुद्धि समझता है। वह कहता है—"तेन हि पण्डित-परितोष-प्रत्यया ननु मूढा जातिः। पुनर्मन्दस्यापि मे तस्मिन् प्रत्युत्पन्ना मतिः"।

प्रस्तुत नाटक में रानी धारिणी तथा रानी इरावती के अतिरिक्त सभी पात्र विदूषक को मान की दृष्टि से देखते हैं। रानी धारिणी उसे 'कलह-नेता'

की उपाधि से विभूषित करती है—"ननु कलहप्रियोऽसि"। रानी इरावती तो विदूपक और उसके वचनों को माननीय नहीं समझती। तभी तो वह कहती है—"गौतमवचनमप्यार्यः हृदये करोति"। यही नहीं, इरावती 'ब्रह्मवन्धु' कह कर सम्मानित करती हैं—"कथं खलु ब्रह्मवन्धुरन्यथा जीविष्यति" तथा "सत्यमत्र ब्रह्मवन्धुना कृतः प्रयोगः"। इरावती तो उसे राजा का विशेष रूप से कामतन्त्रसचिव समझती हैं—"इयमस्य कामतन्त्र-सचिवस्य नीतिः"। यही कारण है कि निपुणिका के इस प्रस्ताव का अनुमोदन करती है कि विदूपक को डण्डा फेंक कर हटाया जाए —

"अर्हत्येव कृतघ्न उपद्रवस्य"। विदूषक भी इस वात को जानता है कि रानी धारणी एवं रानी इरावती उसे अच्छा नहीं समझतीं। तभी तो उसने रानी धारिणी के सम्मुख आकर कहा—"भवति! जीवेयं वा न वा यन्मयात्र-भवन्तं सेवमानेन तेऽपराद्धं तन्मर्पय"।

दोनों रानियों को छोड़ कर अन्य सभी गौतम को आदर की दृष्टि से देखते हैं। वे उसे 'आर्य गौतम' कह कर पुकारते है। गणदास तो उसकी बुद्धि की वड़ी प्रशंसा करता है—"देवप्रत्ययात् सम्भाव्यते सूक्ष्मदर्शिता गौतमस्य"। वास्तव में गौतम प्रशंसा के योग्य है। रानी धारिणी और रानी इरावती उसे आदर की दृष्टि से नहीं देखती तो यह उनके स्वार्थ के कारण है। वे जानती हैं कि राजा के अन्दर मालविका के लिए जो तड़प है, उसमें प्रधान हाथ विदूपक का है। विदूपक की सफल योजनाओं ही से राजा मालविका को एकान्त मे मिल सका और उसके मन में भी अपने लिए प्रेम पीड़ा को जगा सका। यदि रानी धारिणी और रानी इरावती के विचारों को छोड़ दिया जाए और निष्पक्ष होकर देखा जाए तो हम कह सकते हैं कि विदूपक राजा का सच्चा मित्र एवं सच्चा हितैपी है। राजा के सुख के लिए अपना सुख-सर्वस्व स्वाहा कर सकता है। इसके अतिरिक्त विदूपक विद्वान् भी है। उसे ज्योतिप का भी ज्ञान है और नृत्यकला को भी वह काफी समझता है। इसके उदाहरणस्वरूप उसके (विदूपक) अपने ही वाक्य देखें—(क) यावदङ्गारको राशिमिवानुवक्रं प्रतिगमनं न करोति। (ख) न केवलं रूपे, शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका।

नाटक की समालोचना—प्रस्तुत नाटक का कथानक मालविका तथा अग्निमित्र की प्रेम कथा पर आधारित है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार राजा अग्निमित्र मालविका का चित्र देख कर उस पर मुग्ध हो गया और किस प्रकार वह मालविका के साथ विवाह करने से समर्थ हुआ। अतः प्रस्तुत नाटक का नाम 'मालविकाग्निमित्र' (मालविका च अग्निमित्रश्च यस्मिन् तत्) पूर्णतया उचित है।

संस्कृत-रचनाओं का प्रमुख उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति रहा है। इस नाटक के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि लेखक का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति नहीं था। उसका उद्देश्य केवल मनोरञ्जन था। सम्पूर्ण नाटक के अध्ययन से हमें कोई भी ऐसा सन्देश नहीं मिलता, जो पाठकों के लिए हितकारी हो। यहाँ तो बूढ़े राजा की काम-क्रीड़ाओं की चर्चा है। ऐसी कामक्रीड़ाएँ अच्छा प्रभाव डालने की अपेक्षा, सम्भव है, पाठकों पर बुरा प्रभाव डालें। एक राजा अपने बेटे की समवयस्क कन्या के सौन्दर्यमात्र को देख कर इतना लट्टू हो जाए कि उसकी नींद ही हराम हो जाए, यह सब कुछ आधुनिक पाठक को अच्छा नहीं लगता। यदि राजा के कोई रानी न भी हो तो भी राजा का अपने से बहुत छोटी आयु वाली कन्या के पीछे इस प्रकार तड़पना उचित प्रतीत नहीं होता। इस नाटक में तो राजा की दो रानियाँ बताई गई हैं, ऐसी दशा में उसका इस प्रकार तड़पना सर्वथा अनुचित है।

दूसरी बात यह है कि इस नाटक में राजा का जो प्रेम बताया गया है वह बड़ा साधारण है। राजा मालविका के गुणों के कारण उस पर मोहित नहीं हुआ। वह तो उसका शारीरिक सौंदर्य देख कर तड़प उठा। इस प्रकार का प्रेम विद्वज्जनों में कभी आदर की दृष्टि से नहीं देखा गया। इसमें आत्मा की तड़प नहीं, बल्कि कामेच्छा की प्रधानता है। इस नाटक से ऐसा प्रतीत होता है कि मालविका के साथ सम्बन्ध होने से पूर्व राजा इरावती को बड़े मान की दृष्टि से देखता था। उसके साथ उसका बहुत प्यार था, तभी तो चित्र में राजा को इरावती को देखते हुए पाकर मालविका को भी ईर्ष्या हो गई थी। उसने स्पष्ट कहा—"सखि! अदक्षिण इव भर्ता मे प्रतिभाति यः सर्वदेवीजनमुज्झित्वैकस्या

मुखे वद्धलक्ष्यः" परन्तु जिस दिन मालविका राजा के हृदय में प्रवेश पा गई, राजा उसी दिन इरावती को भूल कर मालविका पर लट्टू हो गया। इसी प्रकार राजा के जीवन में इरावती के आने से पहले राजा रानी धारिणी पर लट्टू होगा। अतः इससे स्पष्ट है कि राजा के मन में किसी भी रानी के वास्तविक सौन्दर्य अर्थात् उसके गुणों के लिए तड़प नहीं, वह तो शारीरिक सौन्दर्य और जवानी का ग्राहक है। ऐसे राजा से यह सम्भव है कि मालविका के बाद भी यदि कोई सुन्दर लड़की उसकी दृष्टि में आ जाए, तो वह उसके लिए भी उसी प्रकार तड़प उठे जिस प्रकार मालविका के लिए वह तड़प उठा।

जैसे अग्नि के विना सोना कुन्दल नहीं बनता, उसी प्रकार प्रेम भी विरह की आग में जले विना उत्कृष्ट नहीं बनता। कालिदास की तीनों रचनाओं में प्रेम की यह सीढ़ी क्रमशः चढ़ती हुई दिखाई देती है। प्रथम नाटक मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र ने प्रेम तो किया है, परन्तु विरह की आग में यह प्रेम परिपक्व नहीं हुआ। विक्रमोर्वशीय में कालिदास का प्रेम एक कदम आगे है। इसमें राजा विक्रम को वियोग की आग में जलना पड़ा, फिर भी यहाँ पर राजा का प्रेम उतना उत्कृष्ट नहीं जितना कि अभिज्ञानशाकुन्तल में। इसके सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि यह कालिदास की प्रथम रचना थी। उन्हें जीवन का अधिक अनुभव नहीं था। परिणामतः उनकी इस रचना में प्रेम के भाव उदात्त रूप में प्रकट नहीं हो सके।

मालविकाग्निमित्र में एक और दोष पाया जाता है, कि इसमें तत्कालीन सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध में हमें विशेष ज्ञान नहीं होता। मालविकाग्निमित्र का क्षेत्र बहुत संकुचित है। इसका कार्य-क्षेत्र राजमहल है। अतः इसमें उस समय की वास्तविक अवस्था का ज्ञान हमें नहीं होता। अभिज्ञान-शाकुन्तल में कार्यक्षेत्र बड़ा विस्तृत है। उसमें नगर का, तपोवन का, ऋषियों का, पुलिसवालों आदि का विशद वर्णन है। इसी लिए मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा अभिज्ञानशाकुन्तल उत्कृष्ट रचना है।

पात्रों के चरित्रचित्रण में लेखक ने बड़ी निपुणता से काम लिया है। प्रत्येक पात्र अपनी व्यक्तिगत विशेषता लिए हुए है। राजा अग्निमित्र

अन्य राजाओं की तरह कामी तो है, परन्तु आधा विजित राज्य देने में उसकी उदारता भी अद्वितीय है। रानी इरावती ईर्ष्यालु सपत्नी है, पर अपनी उदारता और सूझ-बूझ के कारण निजी विशेषता भी रखती है। इसी प्रकार गणदास तथा हरदत्त हैं। इस नाटक में इनका अधिक कार्य नहीं था, अतः इनका चित्रण कुछ अधिक नहीं हुआ; फिर भी हमें यह पता लग जाता है कि ये दोनों आचार्य अपना पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व रखते थे। पात्रों के चयन में भी बड़ी निपुणता से काम लिया गया है। नाटक में कोई भी पात्र ऐसा नहीं जिसे अनावश्यक कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कोई भी पात्र अपने कार्य की अवधि से अधिक देर तक रंगमञ्च पर नहीं रहा। नाटक में यह विशेषता नाटक को पूर्णतया सफल बना देती है।

शैली—कालिदास संस्कृत-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ कवि तथा नाटककार हुए हैं। उनकी इस सर्वप्रियता का कारण उनकी सरल, परिष्कृत और प्रसाद-गुण-युक्त भाषा है। वे वैदर्भी रीति के कवि थे। इस रीति में मधुर शब्द, ललित रचना, समासों का या तो सर्वथा अभाव या थोड़े बहुत लघुसमासयुक्त पद पाए जाते हैं। कालिदास की शैली में ये सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त उनकी शैली बड़ी संक्षिप्त और ध्वन्यात्मक है। भाषा में मनोरमता के साथ-साथ सुन्दर प्रवाह भी है। कथोपकथन संक्षिप्त, सारगर्भित, रोचक एवं पात्रानुकूल हैं। कथोपकथनों की भाषा बड़ी चुस्त, मुहावरेदार और आकर्षक है। छन्दों का प्रयोग भी बड़ी कुशलता से किया है। सरल एवं छोटे-छोटे छन्द मानस में अमन्द-आनन्द की लहरियाँ नचा देते हैं। संगीत साकार हो उठता है। अप्रचलित शब्दों का यथासम्भव परिहार किया है। अलंकारों का प्रयोग भी प्रकृत का पोषक है। यमक, श्लेष, रूपक, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, दृष्टान्त, निदर्शना, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता आदि प्रमुख अलंकारों का उन्होंने प्रवाह-पतित प्रयोग किया है।

संस्कृतसाहित्य में कालिदास का स्थान—संस्कृतसाहित्य में कालिदास का नाम सदैव ध्रुव तारे के समान अटल रहेगा और उनके सन्देश जीवन में

जागरण की जोत जगाते रहेंगे। जनमात्र के हृदय में कालिदास एक अद्भुत नाटककार ही नहीं, अपितु महाकाव्यकार एवं गीतिकार के रूप में भी अद्वितीय स्थान रखते हैं। उनकी इस अपार सफलता के कारण कुछ लोगों ने उन्हें भारत का शेक्स्पीयर कह कर सम्मानित करना चाहा। हमारे विचार में कालिदास की तुलना शेक्स्पीयर से करनी उचित नहीं। कालिदास नाटककार, महाकाव्यकार एवं गीतिकार के रूप में विश्वभर में चमक रहे हैं जब कि शेक्स्पीयर केवल नाटककार ही हैं। ऐसी स्थिति में हम कालिदास को भारत का शेक्स्पीयर क्यों कहें। यदि यह कहा जाय कि शेक्स्पीयर इंग्लैण्ड का कालिदास हैं तो उचित ही है। वास्तव में शेक्स्पीयर कालिदास की सर्वतोमुखी प्रतिभा के प्रकाश में ज्योतिरिंगण-मात्र हैं।

कालिदास की ख्याति प्राचीनकाल में ही हो गई थी। सप्तम शताब्दी के महाकवि बाण ने उनके काव्यसौष्ठव की प्रशंसा करते हुए कहा है—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

यही नहीं, कालिदास की ख्याति इतनी अधिक हो गई थी कि संस्कृत-साहित्य के बड़े-बड़े विद्वानों ने उनकी रचनाओं के उदाहरण अपनी कृतियों में देने आरम्भ कर दिए। आठवीं शताब्दी में वामन ने कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल से निम्नलिखित पंक्ति उदाहरण-स्वरूप देकर उन्हें सम्मानित किया—

"सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः"

संस्कृत-साहित्य के प्राचीन कवियों ने कालिदास को केवल सर्वश्रेष्ठ ही घोषित नहीं किया, अपितु, उन्हें अद्वितीय कह कर सम्मानित किया है। निम्नलिखित सुभाषित पद्य कालिदास के महत्त्व को उच्चैरुद्घोषित करता है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे, कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिकान्वर्थवती बभूव॥

कालिदास की उपमाएँ तो विश्व-विख्यात हैं। संसार में कोई भी कवि ऐसा नहीं जो उपमा-सौन्दर्य में कालिदास से टक्कर ले सके। देखिए—

उपमा कालिदासस्य भारवेरथगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

अभिज्ञान-शाकुन्तल तो सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य की टीका है। काव्यों में नाटक अधिक रम्य होता है और नाटकों में शकुन्तला सर्वश्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित है। यही नहीं शकुन्तला का भी अंक चतुर्थ अंक और चतुर्थ में भी चार श्लोक सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं—

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्यं शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम्॥

कालिदास की उक्तियाँ मानव-मात्र के मन पर अनहोना टोना सा कर देती हैं। कालिदास के काव्य-सौन्दर्य तथा उक्तियों की श्रेष्ठ रसधारा ने अनायास ही पं० गोवर्धनाचार्य के मुख से निकलवा लिया—

साकूत मधुर-कोमलविलासिनी-कण्ठ-कूजित-प्राये।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतलीला कालिदासोक्तिः॥

यह तो हैं भारतीय विद्वानों की दृष्टि में कालिदास का महत्त्व। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि भी कालिदास को कम महत्त्व नहीं देती। जर्मन के कवि गेटे (Goethe) ने अभिज्ञान शाकुन्तल के अनुवाद को पढ़ कर उसके महत्त्व को पहचान लिया। उन्होंने मुक्त कण्ठ से अभिज्ञान-शाकुन्तल की प्रशंसा करते हुए कहा—

Would'st thou the young year's bl ıs and the fruits of its decline,

Would'st thou the earth and heaven itself in one sole,

I name thee. O Shakuntala, and all at once is said.

दार्शनिक हम्बोल्ट (Humboldt) ने भी कालिदास को निम्नलिखित शब्दों में श्रद्धांजलि भेंट की—

"Kali Das, the celebrated author of the Shakuntala, is a masterly describer of the influence which nature exercises upon the minds of lovers......tenderness in the expression of feelings and richness of creative fancy have assigned to him his lofty place among the poets of all nations."

सर विलियम जौंज ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कालिदास को शेक्सपीयर से तुलना करना भी कालिदास को सबसे बढ़ कर मान देना है।

इस प्रकार पौरस्त्य तथा पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में कालिदास रहस्य हैं। इसका उत्तर सर मोनियर विलियम (Sir Monier William) ने दिया है। देखिए—

His profound knowledge of the human heart, his delicate appreciation of its most refined and tender emotions, his familiarity with the workings and counter workings of its conflicting feelings in short entitles him to rank as Shakespeare of India.

नाटक के पात्र

पुरुष-पात्र —

१. सूत्रधार—नाटक का प्रबन्धक।
२. पारिपार्श्वक —सूत्रधार का सहचर।
३. अग्निमित्र—विदिशा-नरेश (नायक)
४. वातहक—अग्निमित्र का मन्त्री।
५. गौतम — विदूषक (राजा का मित्र)।
६. मौद्गल्य — कञ्चुकी (वृद्ध ब्राह्मण)।
७. गणदास }
८. हरदत्त } —नाट्याचार्य।
९. सारस—कुब्ज (धारिणी का भृत्य)।
१०. वैतालिक—स्तुति-पाठक (भाट)

स्त्री-पात्र—

१. मालविका—मालवनरेश माधव की बहिन (नायिका)!
२. धारिणी —अग्निमित्र की पटरानी।
३. इरावती—अग्निमित्र की दूसरी रानी।
४. कौशिकी (परिव्राजिका)—माधवसेन के सचिव सुमति की विधवा बहिन।
५. बकुलावलिका—धारिणी की सेविका (मालविका की सखी)।
६. मधुकरिका—मालन।
७. कौमुदिका—दासी।
८. समाहितिका—परिव्राजिका की सेविका।
९. निपुणिका—इरावती की सेविका।
१०. जयसेना—प्रतीहारी।
११. मदनिका }
१२. ज्योत्स्निका } —माधवसेन की भेंट में भेजी हुई शिल्पी लौंडियाँ।

नाटक के उल्लिखित पात्र—

१. यज्ञसेन—विदर्भ का राजा ।
२. माधवसेन—यज्ञसेन का चचेरा भाई (मालविका का भाई) ।
३. सुमति—माधवसेन का सचिव ।
४. वसुमित्र—अग्निमित्र का पुत्र ।
५. पुष्यमित्र – अग्निमित्र का पिता ।
६. वीरसेन—धारिणी का भाई (सेनापति) ।
७. मौर्यसचिव—मौर्यवंशियों का मन्त्री (यज्ञसेन का साला) ।
८. ध्रुवसिद्धि —विषवैद्य ।
९. वसुलक्ष्मी—राजकुमारी (अग्निमित्र की पुत्री) ।
१०. माधविका—भूगृह में नियुक्त सेविका ।
११. चन्द्रिका—रानी इरावती की सेविका ।



महाकवि-कालिदास-रचितम्

मालविकाग्निमित्रम्

नाटकम्

प्रथमोऽङ्कः

एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः।
कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः पुरस्ताद् यतीनाम् ॥

सरलार्थ-दीपिका व्याख्या

एकै०—अन्वयः—प्रणत-बहु-फले एकैश्वर्ये स्थितः अपि स्वयं कृत्तिवासाः; कान्ता-सम्मिश्र-देहः अपि यः अविषयमनसां यतीनां पुरस्तात्; अष्टाभिः तनुभिः जगत् बिभ्रतः अपि यस्य अभिमानः न; सईशः सन्मार्गावलोकनाय वः तामसीं वृत्ति व्यपनयतु ॥ (स्रग्धरा)

प्रणतेषु बहूनि फलानि यस्य तथाभूतः (बहुव्रीहि)=प्रणाम करने वालों, अर्थात् भक्तों को बहुत फल देने वाले। ईश्वरस्य भावः ऐश्वर्यम् (ईश्वर+य भावे) एकं च तत् ऐश्वर्यं तस्मिन् (कर्मधारय)=असाधारण शक्ति पर। स्थितः अपि=स्थित होते हुए भी अर्थात् असाधारण ऐश्वर्य पास में रहते हुए

पहला अङ्क

हिन्दी-अनुवाद

सरलार्थ—भक्तों को बहुत फल देने का ऐश्वर्य अपने पास होते हुए भी जो स्वयं हाथी की खाल ओढ़े रहते हैं, शरीर के साथ पत्नी को लगाये रहते हुए भी

अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः।

भी। ऐश्वर्य से अभिप्रेत यहाँ ये आठ सिद्धियाँ हैं:—

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः॥

महादेव सर्वशक्तिमान् हैं और अपने भक्तों को मनचाहा फल दे देते हैं, परन्तु यः स्वयं जो अपने आप। कृत्तिः एव वासः यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) हाथी की खाल ही जिनका वस्त्र है, अर्थात् गज-चर्म ही ओढ़े रहते हैं। इससे उनकी कंगाली प्रकट होती है। कभी-कभी तो वे उसे भी फेंक देते हैं और दिगम्बर— नंगे —ही रहते हैं, किन्तु भक्तों के लिए सम्पत्तियों का भण्डार खोल देते हैं, देखिए कुमारसम्भव—"अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदाम् ५।७७"। कान्तया सम्मिश्रः (तृ० तत्पु०) देहः (कर्मधा०) यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) जिनका शरीर पत्नी से मिला हुआ रहता है। महादेवजीका शरीर नित्य पार्वतीजी से मिला अर्थात् एकाकार हुआ रहता है। यहाँ उनके 'अर्धनारीश्वर' रूप की ओर संकेत है, जिसमें आधा शरीर महादेवजी और आधा शरीर पार्वतीजी हैं। इतना अधिक प्रेम होने पर भी यः=जो, न विषयाः येषु तानि अविषयाणि (ब० व्री०) मनांसि (कर्मधारय) येषां ते तथोक्ताः तेषाम् (ब० व्री०)। विषयों से रहित मनों वाले योगिनाम् पुरस्तात्=योगियों में से परे, श्रेष्ठ हैं उनके अग्रणी हैं, योगिराज हैं। पत्नी को शरीर से लगाए हुए भी सबसे बड़े योगी हैं —यह विरुद्ध सी बात है, परन्तु ध्यान रहे कि महादेवजी का पार्वती से विशुद्ध और आध्यात्मिक प्रेम है, भौतिक, वासनात्मक नहीं। अष्टाभिः तनुभिः=अपनी आठ देहों, मूर्तियों, रूपों द्वारा। महादेवजी के आठ रूप ये हैं:—

विषयों से उपरत मनों वाले योगियों में श्रेष्ठ हैं और अपने आठ रूपों से जगत् को धारण करते हुए भी जिन्हें अभिमान छू तक नहीं गया—ऐसे महादेव जी पाप

सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥ १ ॥

जलं वह्निस्तथा यष्टा सूर्याचन्द्रमसो तथा।
आकाशं वायुरवनो मूर्तयोऽष्टौ पिनाकिनः ॥

अर्थात् जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, वायु और पृथ्वी। शकुन्तला नाटक में भी कालिदास ने महादेव जी की ये आठ मूर्तियाँ बताई हैं। इनसे **कृत्स्नं जगत्**=सारे संसार को **बिभ्रतः** √भृञ् (जु० उ० प० धारण करना) + शतृ+षष्ठी=धारण करते हुए भी **अभिमानः न**=अभिमान नहीं होता है, निरभिमान ही रहते हैं। वास्तव में महादेवजी की महिमा का मूल्यांकन मानविक मान-दण्ड से परे है। वे अतिमानव हैं, देवता हैं, परमात्मा हैं। ऐसे **स ईशः**= प्रसिद्ध महादेव जी। **सन् चासौ मार्गः**=(कर्मधा०) **तस्य आलोकनाय** (ष० तत्पु०) अच्छा मार्ग देखने के लिए। **वः**=आप लोगों की **तमसः इयं** तमस्+अण्+ङीप् (स्त्रियाम्) **तामसी ताम्** तमोगुण वाली, बुराई की ओर ले जाने वाली। **वृत्तिम्**=मनोवृत्ति को, बुद्धि को **व्यप०**=वि+अप + √नी+लोट् (भ्वा० ले जाना) दूर कर दें, मिटा दें। सांख्य दर्शन के अनुसार संसार त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणों में से तमो गुण मनुष्य को पाप और अपकर्म की ओर ले जाता है। तमस् की विशेषता गीता में ऐसी बताई गई है:—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१६/१८

कालिदास शैव हैं, इसलिए शिवजी से हमारे हृदय के अन्धकार को दूर कर, प्रकाश के मार्ग में ले जाने की प्रार्थना कर रहे हैं, परन्तु इसके साथ ही एक सुनिपुण नाटककार की तरह कालिदास अपने नाटक की कथावस्तु की ओर भी संकेत कर देते हैं अर्थात् इस नाटक का नायक एक ऐसा ईश (राजा)

की ओर ले जाने वाली आप लोगों की बुद्धि को मिटा दें जिससे कि आप सन्मार्ग का अवलोकन कर सकें ॥१॥

(नान्द्यन्ते)।

१ सूत्रधारः (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)—मारिष, इतस्तावत्।

है जो अपने सेवकों के सभी मनोरथों को पूरा कर देता है, अपनी प्रियतमा (मालविका) पर अनुरक्त होता हुआ भी राज्य का शासन और पालन भलीभाँति करता रहता है, इतना बड़ा भारी राजा होता हुआ भी बिल्कुल विनीत है और अपनी प्रजा की बुराइयों को दूर करता हुआ उसे सन्मार्ग की ओर लगाता रहता है। वह राजा है अग्निमित्र, जो शुंगवंश-प्रवर्तक प्रपापी राजा पुष्यमित्र का पुत्र है। इस तरह नान्दी में नाटक का सारा कथानक प्रकट हो जाता है । नाटचार्थ को अभिव्यक्त करना मुद्रालंकार कहलाता है।

नान्द्यन्ते (नान्द्याः अन्ते)—नान्दी के समाप्त होने पर। नान्दी नाटक के प्रारम्भ में की गई प्रार्थना को कहते हैं। नान्दी शब्द की व्युत्पत्ति 'नन्दति देवता अस्याम् अनया वा' है। कोई-कोई 'नन्दयतीति' नान्दी यों व्युत्पत्ति करते हैं, क्योंकि 'इसमें देवता लोग प्रसन्न होते हैं' अथवा 'यह प्रसन्न करती है'। भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटक के प्रारम्भ में नान्दी अथवा मंगलाचरण आवश्यक है, देखिए साहित्यदर्पण—'तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये'। (६-२२०) नान्दी तीन प्रकार की होती है—आशीर्वाद-रूप, नमस्कार-रूप और वस्तुनिर्देश-रूप। आशीर्वाद में श्रोतागण को आशीष दी जाती है, नमस्कार में किसी देवता को नमस्कार किया जाता है और वस्तुविर्देश में सीधी कथावस्तु ही आरम्भ की जाती है। प्रस्तुत नाटक में नान्दी आशीर्वाद-रूप है।

१ **सूत्रधार** नाटक के प्रबन्धक (Stage-manager) को कहते हैं, क्योंकि वह 'सूत्रं धारयति' अर्थात् सारे नाटक के सूत्र को पकड़े रहता है। शायद इस शब्द का प्रचलन प्रारम्भ में कठपुतली का सूत्र (डोरी) पकड़

(नान्दी हो चुकने पर)

१ **सूत्रधार**—(नेपथ्य की ओर देखकर) **मारिष**, इधर आइये।

२ (प्रविश्य)। पारिपार्श्वकः—भाव, अयमस्मि।

३ सूत्रधारः—अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। तदारभ्यतां सङ्गीतम्।

कर नचाने वाले से हुआ हो। आधुनिक भाषा में इसे हम डाइरेक्टर कह सकते हैं। यह एक विद्वान् और कलानिपुण ब्राह्मण हुआ करता था।

नेपथ्यम्—नेपथ्य पर्दा, रंगभूमि अथवा प्रसाधन-स्थान (Green room) को कहते हैं, देखिए अमरकोश—नेपथ्यं स्याज्जवनिका रङ्गभूमिः प्रसाधनम्। यहाँ प्रसाधन-स्थान से अभिप्राय है, जहाँ पात्र रूप अथवा वेशभूषा (Make-up) धारण करते हैं। **नेपथ्यस्य अभिमुखम्**=नेपथ्य की ओर।

२ **पारिपार्श्वकः**—यह सूत्रधार का सहायक पात्र होता है। पारिपार्श्वक इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह 'परिपार्श्वं यथा भवति तथा वर्तते इति' अर्थात् सूत्रधार के इर्दगिर्द घूमता फिरता है और उसे सहायता देता रहता है। इसे सूत्रधार 'मारिष' और यह सूत्रधार को 'भाव' शब्द से सम्बोधित करता है, देखिए शास्त्रीय नियम :—'सूत्रधारं वदेत् भाव इति वै पारिपार्श्वकः। सूत्रधारो मारिषेति' साहित्य-द० ६/४४-४५। इसे आधुनिक भाषा में हम ऐसिस्टेण्ड-डाइरेक्टर कह सकते हैं।

३ **अभिहितः**=अभि+√धा+त निष्ठा में 'धा' को 'हि' हो जाता है। **विदुषां परिषद्** (षष्ठी तत्पु०) **तस्याः**। **कालिदासेन ग्रथितं** (तृ० तत्पु०)

(प्रवेश करके)

२ **पारिपार्श्वक**—आ गया हूँ महोदय!

३ **सूत्रधार**—विद्वानों की सभा ने मुझे कहा है कि इस वसन्तोत्सव पर कालिदास का बनाया हुआ 'मालविकाग्निमित्र' नाम का नाटक खेला जाय। इसलिए संगीत आरम्भ कीजिए।

४ पारिपार्श्वकः—मा तावत्, प्रथितयशसां भासकविपुत्रसौमिल्लकादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः।

५ सूत्रधारः—अये, विवेकविश्रान्तमभिहितम्। पश्य

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।

वस्तु (कर्मधा०) यस्मिन् यस्य वा (ब० व्री०) जिसकी कथा-वस्तु कालिदास द्वारा रची गई है। मालविका च अग्निमित्रश्च यस्मिन् तत् (बहुव्री०) अथवा मालविकाग्निमित्रौ अधिकृत्य कृतं नाटकम्, 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इस पाणिनि नियम से 'अधिकृत्य' (विषय में) अर्थ में अण्-प्रत्यय (तद्धित)। क्योंकि यह नाटक मालविका और अग्निमित्र के विषय में है, इसलिए इसका नाम मालविकाग्निमित्र पड़ा। वसन्तस्य उत्सवः (प० तत्पु०) वसन्त के उत्सव पर। प्रयोक्तव्यम्—प्र+√युज्+तव्य (विधि कृदन्त) कर्मणि। खेला जाना चाहिए। आरभ्यताम्=आ+√रभ्+लोट् (कर्मणि) आरम्भ कीजिए। संगीतम्= नृत्य, गायन और वादन—इन तीनों को मिलाकर संगीत कहलाता है, देखिए संगीतरत्नाकर—'नृत्तं गीतं तथा वाद्यं त्रयं संगीतमुच्यते'।

४ प्रथितं (फैला हुआ) यशः येषां तथाभूतानाम् (बहुव्री०) भास, कविपुत्र और सौमिल्लक आदि प्राचीन प्रसिद्ध संस्कृत कवि हैं। प्रबन्धान्=काव्यों,

---

४ पारिपार्श्वक—नहीं जी! भास, कविपुत्र और सौमिल्लक आदि प्रख्यात नाटककारों के नाटकों को छोड़कर क्यों सभा आजकल के (नौसिखिये) कवि कालिदास की रचना को इतना अधिक मान दे रही है?

५ सूत्रधार—अरे, यह तुमने बिना सोचे-समझे कह डाला। देखो, पुराने होने के कारण ही सब (नाटक) अच्छे नहीं होते हैं और न ही नये होने के कारण

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥२॥

नाटकों को। अति+√क्रम्+क्त्वा (य) उल्लङ्घन करके अर्थात् छोड़कर। **क्रियायाम्**=रचना में, नाटक में। **बहुश्चासौ मानः** (कर्मधा०)=बहुत आदर। पारिपार्श्वक का अभिप्राय यह है कि बड़े-बड़े प्रसिद्ध भास आदि पुराने कवियों के नाटकों के स्थान में एक नौसिखिये कवि कालिदास के नाटक को महत्त्व नहीं मिलना चाहिए।

५ **विश्रान्तः विवेकः** समासः) **यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा** (क्रिया-विशेषण) विवेक को विश्राम देकर अर्थात् विना सोचे-समझे। यहाँ विश्रान्त शब्द निष्ठान्त होने से पहले आना चाहिए था अर्थात् विश्रान्त-विवेकम् होना था, परन्तु 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' से विकल्प से पूर्व निपात हुआ।

पुराणमित्यादि। **अन्वयः**—सर्व (काव्यम्) पुराणम् इति एव साधु न, काव्यं नवम् इति एव अवद्यं न; सन्तः परीक्ष्य अन्यतरत् भजन्ते; मूढः परप्रत्ययनेय-बुद्धिः (भवति) (उपजातिः)।

पुराणम्=पुराना। **अवद्यम्**='अवद्य-पण्य' इति निपातनात् (न+√वद् भ्वा० बोलना+न्यत् गर्ह्यर्थ में अनियमित रूप से बना शब्द) अच्छा कहे जाने के अयोग्य, निन्दनीय अर्थात् बुरा। **अन्यतरत्**=अन्ययोः एकम् (अन्य+तर+अदड्)। **पर०=परस्य प्रत्ययः** (ष० तत्पु०) **तेन नेया** (तृ० तत्पु०) **बुद्धिः** (कर्मधा०) **यस्य सः** (बहुव्री०) जिसकी बुद्धि दूसरे की बुद्धि से चलाई जाती है अर्थात् दूसरे की बुद्धि के पीछे चलती है ॥२॥

कोई नाटक बुरा होता है। विद्वान् लोग तो दोनों की परीक्षा करके एक को (जो भी अच्छा लगे) ग्रहण करते हैं। मूर्ख की बुद्धि दूसरो की बुद्धि के पीछे चलती है ॥ २ ॥

६ पारिपार्श्वकः—आर्यमिश्राः प्रमाणम्।

७ सूत्रधारः—तेन हि त्वरतां भवान्।

शिरसा प्रथमगृहीतामाज्ञामिच्छामि परिषदः कर्तुम्।
देव्या इव धारिण्याः सेवादक्षः परिजनोऽयम् ॥ ३ ॥

---

६ **आर्यमिश्राः**—आर्याश्च ते मिश्राश्च (कर्मवारय) आर्य श्रेष्ठ को कहते हैं और मिश्र आदर-सूचक शब्द होता है और नित्य वहुवचनान्त रहता है, देखिए 'पूज्ये मिश्रपदं नित्यं वहुवचनान्तम्' प्रकृत में यह सम्वोधनपद सूत्रधार से सम्वन्ध रखता है. न कि परिषद् से जैसा कि कुछ टीकाकारों ने माना है।

७ **त्वरताम्** √त्वर्, + (भ्वा० जल्दी करना) लोट् प्र० पु० एकवचन [आत्मनेपद]।

शिरसा इत्यादि, अन्वय—देव्या धारिण्या अयं सेवा-दक्षः परिजनः इव (अहं) परिषदः शिरसा प्रथम-गृहीताम् आज्ञां कर्तुम् इच्छामि। (आर्या)।

देव्या धारिण्याः=रानी धारिणी का। (धारिणी राजा अग्निमित्र की बड़ी रानी का नाम है)। **अयम्**=यह सामने दिखाई देने वाली। **सेवायां दक्षः**= (स० तत्पु०) सेवा में निपुण, स्वामी-भक्त। **परिजनः इव**=दासी (वकुलावलिका) की तरह। **शिरसा**=शिर से, सिर-आँखों पर, आदर के साथ। **प्रथमं गृहीताम्**=पहले से ही स्वीकृत। **आज्ञा...मि**=आज्ञा को पालन करना चाहता हूँ॥ ३ ॥

सूत्रधार सभा की आज्ञा पालन करने मे अपनी तत्परता की तुलना

---

६ **पारिपार्श्वक**—जैसा आप ठीक समझें।

७ **सूत्रधार**—तव तो आप शीघ्रता करें। सभा की आज्ञा मैं पहले ही सिर-माये पर स्वीकार कर चुका हूँ, इसलिए उसे मैं ऐसे ही पालन करना चाहता हूँ जिस तरह कि स्वामी-भक्त यह दासी (वकुलावलिका) रानी धारिणी की आज्ञा पालन कर रही है॥ ३ ॥

(इति निष्क्रान्तौ)

इति प्रस्तावना

(ततः प्रविशति बकुलावलिका)

८ बकुलावलिका—आणत्तह्मि देवीए धारिणीए अइरप्पउत्तोवदेसं चलिअं णाम णट्टअं अन्दरेग कीरिसी मालविएत्ति णट्टाअरिअं अज्जगणदासं पुच्छिदुं। ता जाद सङ्गीदसालं गच्छम्मि। [आज्ञप्तास्मि देव्या धारिण्या अचिरप्रयुक्तोपदेश चलितं नाम नाट्यमन्तरेण कीदृशी मालविकेति नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुम्। तद्यावत्सङ्गीतशाला गच्छामि। (इति परिक्रामति)]

रानी की आज्ञा पालन करने में स्वामी-भक्त दासी की तत्परता के साथ करता है अर्थात् मुझे भी सभी ने मालविकाग्निमित्र नाटक खेलने की जो आज्ञा दी है, उसे इसी तरह पालन करना है जैसे कि यह बकुलावलिका धारिणी की आज्ञा पालन कर रही है। इस तरह स्टेज पर आते हुए एक पात्र की सूचना देकर सूत्रधार बड़ी चतुराई से नाटक की भूमिका आरम्भ कर देता है। इसे नाटकीय भाषा में '**प्रस्तावना**' कहते हैं। प्रस्तावना नान्दी के बाद आती है जिसमें सूत्रधार अपनी पत्नी नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्वक के साथ वार्तालाप करता हुआ नाटक का श्रीगणेश कर देता है। प्रस्तावना के पाँच प्रकार होते हैं। यहाँ उसका **प्रयोगातिशय** नाम का प्रकार है। इसमें सूत्रधार द्वारा स्टेज पर आते हुए नाटक के किसी पात्र का निर्देश किया जाता है। देखिए दशरूपक—

'एषोऽय'मित्युपक्षेपात् सूत्रधार-प्रयोगतः।
पात्र-प्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः॥ ३/११

प्रस्तावना के चार अन्य प्रकारों के नाम ये है.—

कथोद्घात, प्रवर्तक, अवलगित और उद्घात्य।

८ बकुला०—आज्ञप्ता आ√+ज्ञा (क्र्या० जानना) + णिच् + त

(दोनों चले जाते हैं)

प्रस्तावना

(तदनन्तर बकुलावलिका प्रवेश करती है)

८ बकुलावलिका—मुझे रानी धारिणी ने आज्ञा दी है कि तू जाकर

(ततः प्रविशत्याभरणहस्ता कौमुदिका)

९बकुलावलिका (कौमुदिकां दृष्ट्वा)—हला कोमुदिए, कुदो दे इअं धीरदा। जं समीवेण वि मं अदिक्कमंदी इदो दिट्ठिं ण देसि। [(कौमुदिकां दृष्ट्वा) सखि कौमुदिके, कुतस्ते इयं धीरता! यत्समीपेनापि मामतिक्रामन्ती इतो दृष्टिं न ददासि।]

(स्त्रियाम् आ); णिजन्त ज्ञा धातु को निष्ठा में ह्रस्व हो जाता है। अचिर० =अचिरात् प्रवृत्तः उपदेशो यस्य तत् (बहुव्रीहि) जिसकी शिक्षा हाल ही में आरम्भ हुई है।यह 'चलितम्' का विशेषण है। चलितम् (छलितम्) यह एक प्रकारका नृत्य होता है, जिसमें कलाकार किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के अभिनय द्वारा अपने ही हृदय के भावों को अभिव्यक्त करता है। इसका लक्षण देखिए—

तदेव चलितं नाम साक्षाद् यदभिनीयते।
व्यपदिश्य पुरावृत्तं स्वाभिप्रायप्रकाशकम्॥

मालविका रानी धारिणी के पास दासी के रूप में रहने वाली एक रूपवती लड़की है। रानी उसे 'चलित' की शिक्षा दिला रही है। कारण यह है कि धारिणी की सपत्नी रानी इरावती एक अच्छी नृत्यकार है। सौतिया डाह के कारण वह अपनी छोकरी को नृत्य-निपुण बनाकर इरावती को नीचा दिखाना चाहती है और साथ ही सीखने-पढ़ने के बहाने वह मालविका को राजा की आँखों से भी दूर रखने का प्रयत्न कर रही है। अन्तरेण=(अव्यय। बीच, विषय में, इसके साथ द्वितीया विभक्ति आती है। नाट्यम्=नृत्यम् तस्य आचार्यम् (षष्ठी-तत्पुरुष) प्रष्टुम् √पृच्छ् [भ्वा० पूछना]+तुम्, पूछने को। संगीतस्य शाला

आर्य गणदास को पूछ कि 'चलित-नामक नाट्य' में मालविका कैसी (प्रगति कर रही) है, जिसका सीखना उसने हाल ही में आरम्भ किया है, तो मैं अब संगीतशाला जाती हूँ। (घूमती है)

(हाथ में आभरण लिए कौमुदिका आती है)

९ बकुलावलिका—(कौमुदिका को देखकर) सखी कौमुदिका,

१० कौमुदिका—अम्मो, वउलावलिआ। सहि, इदं देवीए सिप्पिसआसादो आणीदं णाअमुद्दासणाहं अंगुलीअअं सिणिद्धं णिज्झाअन्दी तुह उवालम्भे पडिदम्हि। [अहो वकुलावलिका। सखि, इदं देव्याः शिल्पिसकाशादानीतं नागमुद्रासनाथमङ्गुलीयकं स्निग्धं निध्यायन्ती तवोपालम्भे पतितास्मि।]

लाम् (प० त०)=संगीत-गृह। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में उच्चवर्गीय महिलाओं में भी संगीत, नृत्य आदि कलाओं का अच्छा प्रचार था। राजमहलों में तो भीतर ही संगीतशालाएँ हुआ करती थीं।

आभरण०—आभरणं हस्ते यस्याः सा (बहुव्रीहि) हाथ में गहना लिए हुए, गहने से यहाँ हाथ की अँगूठी अभिप्रेत है।

९ वकुला०—धीरता=धीरायाः भावः धीरता, गम्भीरता, धृष्टता। अति+√क्रम् (भ्वा० चलना)+शतृ (स्त्रियां ङीप्) द्वितीया=लाँघती हुई, गुजरती हुई। कौमुदिका इतनी ध्यानमग्न है कि पास में ही खड़ी हुई वकुलावलिका को देखती ही नहीं और आगे चल पड़ती है। दृष्टिम्=√दृश् (भ्वादि० देखना) क्तिन् (भावे) एकवचन।

वकुलावलिका और कौमुदिका नौकरानी होने से दोनों निम्न श्रेणी के पात्र हैं। इसलिए संस्कृत नहीं बोल सकती हैं, प्राकृत बोलती हैं, क्योंकि शास्त्रीय नियमानुसार नीच पात्रों को प्राकृत ही बोलनी पड़ती है। स्त्रियाँ कैसी भी क्यों न हों, वे सब निम्न पात्रों में गिनी जाती हैं और प्राकृत बोलती हैं।

१० शिल्पि०—शिल्पम् अस्य अस्तीति शिल्पिन्, शिल्प+इन् (तद्धित)

तुम्हारी यह धृष्टता किस बात की कि तुम समीप से ही गुजर रही हो और इधर ताकती तक नहीं।

१० कौमुदिका—अहो, वकुलावलिका हो। सखी, सुनार के पास से रानी

११ बकुलावलिका (अङ्गुलीयं विलोक्य)—ठाणे खु सज्जदि दिट्ठी। इमिणा अंगुलीअएण उब्भिण्णकिरणकेसलेण कुसुमिदो विअ दे अग्गहत्थो पडिभादि [(अङ्गुलीयं विलोक्य) स्थाने खलु सज्जति दृष्टिः। अनेनाङ्गुलीयकेनोद्भिन्नकिरणकेसरेण कुसुमित इव तेऽग्रहस्तः प्रतिभाति।]

शिल्पिनः सकाशः तस्मात् (प० तत्पु०) शिल्पकार के पास से। शिल्पी से अभिप्रेत यहाँ सुनार है। सोने-चाँदी के गहने बनाना भी एक शिल्प है। नाग०=नागस्य मुद्रा (प० तत्पु०) तया सनाथम् (तृ० तत्पु०) सनाथम्=नाथेन सह वर्तमानम् (बहुव्रीहि) साँप की छाप से युक्त। नागमुद्रांकित अँगूठी का उल्लेख यहाँ कवि ने प्रसंगवश ही किया है। वास्तव में इसका उपयोग और महत्त्व चतुर्थ अंक में है जबकि विदूषक अपने को साँप से काटा हुआ बताता है और सर्प-विष दूर करने के लिए साँप-छाप वाली अंगूठी की आवश्यकता होती है। अगुलीयक अँगूठी को कहते हैं। स्निग्धम् (क्रियाविशे०) यथा स्यात् तथा = बड़े प्रेम से, ध्यान से। निध्यायन्ती=नि+√ध्यै (भ्वा० ध्यान करना)+शतृ+ङीप् [स्त्रियाम्] प्र०=देखती हुई। उपालम्भः=उप+आ+लभ (भ्वा० प्राप्त करना)+अ (भावे) उलाहना, ताना। पतिता=√पत् (भ्वा० गिरना) त (कर्तरि)+आ (स्त्रियाम्) पड़ी हूँ, अर्थात् उलाहना का विषय बनी हूँ।

११ स्थाने—यह अव्यय है और इसका अर्थ है—यह उचित ही है। इसे हम स्थान शब्द का सप्तमी रूप भी ले सकते हैं, जिसका अर्थ होगा—स्थान में ही अर्थात् उचित वस्तु पर ही (दृष्टि गढ़ी है)। सज्जति

जी की यह नाग-छाप वाली अँगूठी लाई हूँ, इसे ध्यान से देख रही थी कि तुमने उलाहना दे दिया।

११ बकुलावलिका—(अँगूठी को देख कर) ठीक ही है कि तुम्हारी दृष्टि इस पर गढ़ती है। इस अँगूठी से फूट रही किरणें ऐसी लग रही हैं जैसे केसर हों और इससे तुम्हारी हथेली जैसे फूल उठी हो।

१२ कौमुदिका—हला, कहिं पत्थिदासि । [हला, कुत्र प्रस्थितासि ।]

१३ वकुलावलिका—देवीए वअणेण णट्टाअरिअं अज्जगणदासं पुच्छिदुं उवदेसग्गहणे कीरिसी मालविएत्ति । [देव्या वचनेन नाट्याचार्यमार्यगणदासं प्रष्टुम् उपदेशग्रहणे कीदृशी मालविका इति ।]

√सस्ज् (भ्वा० जाना, गढ़ना)+लट् प्र० पु० एक० । दृष्टिः—√दृश् (भ्वा० देखना)+क्तिन् (भावे) । उद्भिन्न० उद्भिन्नाः किरणाः (कर्मधा०) केसरा इव (उपमित समास) यस्मिन् तथाभूतेन (ब० व्री०)=जिससे केसर-जैसी किरणें फूट रही हैं । यह अंगुलीयक का विशेषण है । कुसुमित इव—कुसुमं संजातम् अस्य, कुसुम + इतच् (तद्धित) जिसमें फूल लगा हो, यह अग्र-हस्त का विशेषण है । अग्रहस्तः=अग्रश्चासौ हस्तः (कर्मधा०) अथवा अग्र शब्द को विशेषण शब्द न मानकर यदि संज्ञा-शब्द मानें तो हस्तस्य अग्रम् इति अग्रहस्तः (प० तत्पु०) होगा । अग्रशब्द का विकल्प से पूर्वनिपात 'आहिताग्न्यादिषु' इस पाणिनि-नियम से होता है । पूर्वनिपात न होने की अवस्था में 'हस्ताग्रम्' रूप भी बनेगा । प्रतिभाति=प्रति+√भा (अ० चमकना)+लट् प्र० पु० एक० । कौमुदिका के हाथ में रत्न-जड़ी अँगूठी देखकर कवि की कल्पना में कौमुदिका एक लता, उसकी भुजा शाखा, हस्ताग्र फूल और अँगूठी की किरणें फूल के केसर(filaments) बन गए ।

१२ प्रस्थिता—प्र+√स्था भ्वा० बैठना क्त (कर्तरि)+आ (स्त्रियाम्) ।

वकु०—उपदेश०=उपदेशस्य ग्रहणम् (प० तत्पु०) तस्मिन्=शिक्षा ग्रहण करने में, संगीत के सीखने-पढ़ने में ।

---

१२ कौमुदिका—सखी, कहाँ चली हो ?

१३ वकुलावलिका— रानी जी के कहने से नाट्याचार्य आर्य गणदास को यह पूछने जा रही हूँ कि मालविका शिक्षा ग्रहण करने में कैसी है ।

१४ कौमुदिका—हला, ईरिसेण वावारेण असण्णिहिदा वि दिट्ठ कहं एसा भट्टिणा । [हला, ईदृशेन व्यापारेणासन्निहितापि दृष्टा कथमेषा भर्त्रा ।]

१५ वकुलावलिका—आम्, सो जणो देवीए परसगदा चित्ते दिट्ठो । [आम्, स जनो देव्याः पार्श्वगतश्चित्रे दृष्टः ।]

१६ कौमुदिका – कहं विअ । [कथमिव ।]

१७ वकुलावलिका—सुणाहि । चित्तसालं गदा देवी पच्चग्गवण्णरअं चित्तलेहं आलोअन्ती चिरं चिट्ठइ । तस्सिं अन्तरे उवट्ठिदो भट्टा । [श्रृणु, चित्रशालां गता देवी प्रत्यग्रवर्णरागां चित्ररेखामालोकयन्ती चिरं तिष्ठति । तस्मिन्नन्तरे उपस्थितो भर्ता ।]

---

१४ कौमु०—ईदृशेन व्यापारेण = ऐसे कार्य से, अर्थात् सीखने-पढ़ने के काम से । असंनिहिता=न संनिहिता (नञ् तत्पु०) सम् + नि + √धा (जु० धारण करना) = क्त + आ (स्त्रियाम्) पास में स्थित । भर्त्रा = भरतीति भर्ता √भृ (भ्वा० पोषना) + तृ (कर्तरि) तृतीया० एकवचन, स्वामी ने । दृष्टा = √दृश् + त (कर्मणि) + आ (स्त्रियाम्) देखी ।

१५, १७ आम् (अव्यय) = हाँ । पार्श्वगतः = पार्श्वे गतः (सप्तमी तत्पुरुष) पास में गई हुई अर्थात् स्थित । श्रृणु = √श्रु (त० सुनना) लोट् मध्य०एकवचन । चित्र० = चित्राणां शाला (षष्ठी त०) चित्रगृह (Picture Studio) प्रत्यग्र०=वर्णानां रागः (षष्ठी त०) वर्णरागः प्रत्यग्रः वर्णरागः

---

१४ कौमुदिका—सखी, इस तरह (शिक्षा-) कार्य (के सिलसिले) में परोक्ष रहते हुए भी उसको महाराज ने कैसे देख लिया ?

१५ वकुलावलिका—हाँ, वह चित्रमें रानी जी के पास खड़ी हुई है न, उसी को महाराज ने देख लिया ।

१६ कौमुदिका – कैसे ?

१७ वकुलावलिका—सुन, रानी जी चित्रशाला में गई थीं और (चित्रकला के) आचार्य द्वारा बनाए ताजे २ रंग भरे (अपने) चित्र को देखती हुई खड़ी थीं कि इस बीच महाराज पहुँच गए ।

१८ कौमुदिका—तदो तदो [ततस्ततः ।]

१९ बकुलावलिका—उवआराणन्दरं एक्कासणोवविट्ठेण भट्टिणा चित्तगदाए देवीए परिअणमज्झगदं आसण्णदारिअं देक्खिअ देवी पुच्छिदा। [उपचारानन्तरमेकासनोपविष्टेन भर्त्रा चित्रगताया देव्याः परिजनमध्यगतामासन्नदारिकां दृष्ट्वा देवी पृष्टा ।]

(कर्मधारय) यस्याः सा (बहुव्रीहि) तथाभूताम्=जिस पर अभी ताजा-ताजा ही रंग भरा हुआ था, कच्चा, गीला। चित्र०=चित्रस्य रेखा (षष्ठी तत्पु०) चित्र की खिचावट, निर्माण अर्थात् खींचा हुआ चित्र। अवलो०=अव+√लोक (चु० देखना)+शतृ+ङीप् (स्त्रियाम्)। तस्मिन् अन्तरे=इस बीच, इतने में। उपस्थितः=आ पहुँचे। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास के काल में संगीत ही नहीं, बल्कि चित्रकला का भी बड़ा प्रचार था। राजगृहों में संगीतशाला के साथ चित्रशाला भी हुआ करती थी, जिनमें निपुण कलाकार काम किया करते थे। कालिदास के शकुन्तला नाटक में भी संगीत और चित्रकला का उल्लेख मिलता है।

१९ बकुला०—उपचार०=उपचारात् अनन्तरम् (पं० तत्पु०)= शिष्टाचार के पश्चात्, अर्थात् उचित आव-भगत व स्वागत करने के बाद। एका०=एकं च तत् आसनम् (कर्मधा०) तस्मिन् उपविष्टः (सप्त० तत्पु०) तेन, उप+√विश् (बैठना)+त (कर्तरि)=(रानी के साथ) एक ही आसन पर बैठे हुए। चित्र० = चित्रे गता (सप्त० तत्पु०) तस्याः = चित्र में स्थित। परिजन० = परिजनानां मध्ये (ष० तत्पु०) गताम् (सप्त० तत्पु०) = दासियों के बीच स्थित। आसन्न० = आसन्ना दारिका ताम् (कर्मधा०) = पास में खड़ी लड़की को पृष्टा = √प्रच्छ् (तु० पूछना) + त + आ (स्त्रियाम्) पूछी।

---

१८ कौमुदिका—तो फिर ?

१९ बकुलावलिका—शिष्टाचार के उपरान्त (महारानी के साथ) एक ही आसन पर बैठे हुए महाराज ने चित्र में दासियों के बीच पास ही खड़ी हुई लड़की को देख कर महारानी को पूछा।

२० कौमुदिका—किंत्ति। [किमिति।]

२१ वकुलावलिका—देवी, अपुव्वा इअं दारिआ आसण्णा लिहिदा किंणामहेएत्ति। [देवि, अपूर्वेयं दारिका आसन्ना लिखिता किंनामधेयेति।]

२२ कौमुदिका—णं आकिदिविसेसेसु आअरो पदं करेदि। तदो तदो। [नन्वाकृतिविशेषेष्वादरः पदं करोति। ततस्ततः।]

२३ वकुलावलिका—तदो अवहीरिअवअणो भट्टा संकिदो देवीं पुणो

---

२१ अपूर्वा = न पूर्वा (नञ्० तत्पु०) = अपूर्व, अनूठी। आलिखिता = आ = √लिख् (तु० लिखना) त + आ (स्त्रियाम्) खींची हुई, चित्रित। किंनाम० = नाम एव नामधेयम् नाम + धेय (स्वार्थे तद्धि०) नाम शब्द पर स्वार्थ में धेयट् प्रत्यय होने से उसका अर्थ भी नाम ही है, किं नामधेयम् = (कर्मधा०) *यस्याः सा (ब० व्री०) क्या है नाम जिसका, अर्थात् किस नाम* वाली।

२२ आकृति० = आकृतिषु विशेषाः (सप्त० तत्पु०) तेषु = आकृतियों में जो अच्छे होते हैं अर्थात् रूपवानों में। आदरः पदं करोति = आदर अपना स्थान बना लेता है, अर्थात् रूपवानों अथवा रूपवतियों का सभी आदर करते हैं, सभी उनकी ओर आकृष्ट हो जाते है। यह एक लोकोक्ति है [A thing of beauty is a joy for all]।

२३ अवधी०=अवधीरितं वचनं यस्य सः (व० व्री०) यह भर्ता का विशेषण है, जिससे वचन, प्रश्न की अवधीरणा, अवहेलना की गई है अर्थात्

---

२० कौमुदिका—क्या पूछा ?

२१ वकुलावलिका—कि "देवी ! आपके पास ही जिस अनूठी (सुन्दर) लड़की का यह चित्र बना हुआ है, उसका क्या नाम है ?"

२२ कौमुदिका—सुन्दर के प्रति आदर-भाव हो ही जाता है। हाँ, तो फिर ?

२३ वकुलावलिका—महारानी ने सुनी अनसुनी कर दी। महाराज को

पुणो णिब्बन्धिदुं पउत्तो। जाव देवी ण कहेइ दाव कुमारीए वसुलच्छीये आचक्खिदं अज्ज, एसा मालविएत्ति। [ततोऽवधीरितवचनो भर्ता शङ्कितो देवो पुनः पुनर्निवन्द्धुं प्रवृत्तः। यावद्देवी न कथयति तावत्कुमार्या वसुलक्ष्म्या-ख्यातम् आर्य, एषा मालविका इति।]

२४ कौमुदिका—(सस्मितम्) सरिसं खु बालभावस्स। अदो वरं कहेहि। [(सस्मितम्) सदृशं खलु बालभावस्य। अतः परं कथय।]

रानी ने ईर्ष्या के कारण राजा की बात सुन कर भी अनसुनी कर दी। शंकितः=शंका-युक्त, शकवाला। निवन्द्धुम्=निर्+√वन्ध् (क्र्या० बाँधना)+तुम् निर्बन्ध, अनुरोध करने को। प्रवृत्तः=प्र+√वृत् (भ्वा० होना)+त (कर्तरि) प्रवृत्त हुआ। आख्यातम्=आ+√ख्या (अ० कहना) +त (कर्मणि) कहा। आर्य—इसके स्थान में—कहीं-कहीं 'आवुत्त' पाठ मिलता है, किन्तु वह प्राकृत में ठीक नहीं बैठता। आवुत्त भगिनीपति अर्थात् जीजा को कहते हैं। इस पाठ को मानने वालों का कहना है कि वसुलक्ष्मी महारानी धारिणी की वहिन है, अतः उसका राजा को आवुत्त कहना ठीक ही है, पर रानी की वहिन का महल में रहना ठीक नहीं लगता है। वास्तव में कुमारी वसुलक्ष्मी रानी की अपनी ही कन्या है, और कुमार वसुमित्र पुत्र हैं। नामसाम्य से वसुमित्र और वसुलक्ष्मी भाई-वहिन ही ठहरते हैं, इस लिए 'आर्य' वाला पाठ ही ठीक है। देखिए अंक ३ संख्या १८३।

२४ सदृशम्=योग्य, अनुकूल। बाल०=बालस्य भावः तस्य (प० तत्पु०) बालत्व, बचपन के। अतः अपरम्=इसके आगे और।

शक हो गया और वे बार-बार महारानी से अनुरोध करने लगे। जब रानी न बोली, तो कुमारी वसुलक्ष्मी बोल पड़ी— आर्य! यह मालविका है।

२४ कौमुदिका—(मुस्करा कर) यह बच्चों के स्वभाव के अनुकूल ही है। हाँ, कहो फिर क्या हुआ?

२५ बकुलावलिका—किं अण्णं । सम्पदं मालविआ सविसेसं भट्टिणो दंसणपहादो रक्खीअदि । [किमन्यत्, साम्प्रतं माल ः सविशेषं भर्तु-दर्शनपथाद्रक्ष्यते ।]

२६ कौमुदिका—हला अणुचिट्ठ अत्तणो णिओअं । अहं वि एदं अङ्गुलीअअं देवीए उवणइस्सं । (इति निष्क्रान्ता) [हला, अनुतिष्ठात्मनो नियोगम् । । अहमपि एतदङ्गुलीयकं देव्या उपनेष्यामि । (इति निष्क्रान्ता)]

२७ बकुलावलिका—(परिक्रम्यावलोक्य च)—एसो णट्टाअरिओ

---

२५ अन्यत्=और । साम्प्रतम् (अव्यय)=अब । सविशेषम्=विशेषेण सहितं यथा स्यात् तथा (क्रियाविशे०) और अधिक, खास तौर पर । दर्शन०= दर्शनस्य पन्थाः (प० तत्पु०) तस्मात् = दृष्टि-मार्ग से, निगाह से । पथिन् शब्द को समास में 'अ' हो जाता है और उसके रूप राम शब्द की तरह चलते हैं। रक्ष्यते = √रक्ष् (भ्वा० रक्षा करना) + लोट् कर्मवाच्य में ।

२६ अनु०—अनु = √स्था (ठहरना) (भ्वा० तिष्ठ्) + लोट् मध्य० पु० एकव० करो । स्था धातु से अनु उपसर्ग लगाने पर 'करना' अर्थ होता है। नियोगम्—नि + √युज् (रु०, लगना + अ (भावे)=कार्य को । देव्या उपने० देव्यै + उप०·सन्धि मे ऐ को आय् हो जाता है और विकल्प से य् का लोप हो जाता है, जहाँ लोप नही होगा, वहाँ देव्यायुपनेष्यामि बनेगा इसलिए कहीं-कही 'देव्यायुपनेष्यामि' ऐसा पाठ भी मिलता है, उप + √ नी (भ्वा० ले जाना) + लृट् उत्त० एकव०=महारानी को दे आती हूँ ।

२७ निर्गच्छति = निर् + गम् (भ्वा०, गच्छ्) + लट् प्रथ० एकव० निकल

---

२५ बकुलावलिका—फिर और क्या होना है, अब तो मालविका पर विशेप निगरानी रखी जा रही है जिससे कि वह महाराज की निगाह में पड़ ही न सके ।

२६ कौमुदिका—सखी, तुम अपना काम करो । मैं भी इस अँगूठी को महारानी के पास दे आती हूँ । (चली जाती है)

२७ बकुलावलिका—(घूमकर और देख कर) ये नाटयाचार्य गणदासजी

अज्जगणदासो संगीदसालादो दाणिं णिक्कमइ । जाव से अत्ताणं दंसेमि । (इति परिक्रामति)। (परिक्रम्यावलोक्य च) [एष नाट्याचार्य आर्यगणदासः सङ्गीतशालातः इदानीं निष्क्रामति। यावदस्मा आत्मानं दर्शयामि। (इति परिक्रामति)]

२८ (प्रविश्य) गणदासः—कामं खलु सर्वस्यापि कुलविद्या बहुमता। न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्यागौरवम्। कुतः—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुपं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।

रहा है। अस्मा आत्मानम् = अस्मै + आत्मानम् ऐ का आय् और य् का विकल्प से लोप; लोप न होने की अवस्था में कहीं-कहीं 'अस्मायात्मानम्' पाठ भी मिलता है। दर्शयामि—√दृश् (भ्वा०, देखना) + णिच् (प्रेरणार्थक) + लट् उत्त० एकव० दिखाती हूँ।

२८ कामम् = (अव्यय) माना कि, हालाँ कि, यद्यपि। कुल० = कुल-क्रमात् आगता विद्या कुलविद्या (मध्यमपदलोपी त० समास) कुल-क्रम से आई हुई विद्या। बहु० = बहु यथा स्यात् तथा (क्रियाविशे०) मता = बहुत मानी हुई। मिथ्या० = मिथ्या (अव्यय) गौरवम् गुरोः भावः गुरु + अण् (भावे) झूठा अभिमान।

देवानामित्यादि० अन्वयः—मुनयः इदं देवानां कान्तं चाक्षुपं क्रतुम् आमनन्ति; रुद्रेण इदम् उमा-कृत-व्यतिकरे स्वाङ्गे द्विधा विभक्तम्; अत्र त्रैगुण्योद्भवं

तो संगीतशाला से बाहर आ रहे हैं। तो अपने को इनकी निगाह में लाती हूँ। (घूमती है)

२८ गणदास—(आकर) हालाँकि अपनी-अपनी कुलविद्या सभी को बहुत अच्छी लगती है किन्तु हमारा अपनी नाटय-कला के प्रति जो गौरव है, वह झूठा नहीं है, क्योंकि :—

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥४॥

नानारसं लोक-चरितं दृश्यते, नाट्यं भिन्नरुचेः अपि जनस्य बहुधा एकं समाराधनम् (अस्ति) [शार्दूल-विक्रीडितम्]।

मुनयः = मुनि लोग (भरत, मातंग आदि)। **इदम्** = इस नाट्य को। **देवानाम्** = देवताओं का। **कान्तम्** = सुन्दर सुहावना। **चाक्षुषम्** = चक्षुषा अनुभाव्यम्, चक्षुष् + अण् आँखों से देखे जाने योग्य, दृश्य। **क्रतुम्** = यज्ञ। **आमनन्ति** = आ + √म्ना (भ्वा, मन) + लट् प्र० पु० बहुव० कहते हैं, मानते हैं। कवि की दृष्टि में नाट्य आँखो को अच्छा लगने वाला यज्ञ है। अन्य यज्ञ तो पशु-हिंसा के कारण घृणित होते हैं। इसीलिए तो भगवान् बुद्ध ने उनके विरुद्ध विद्रोह किया था। किन्तु नाट्य-यज्ञ मे ऐसी कोई बात नहीं होती है। भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र को 'पञ्चम वेदम्' कह कर बड़ा पवित्र माना है, अतः नाट्य भी सुतरां एक वैदिक यज्ञ है। **रुद्रेण** = महादेव ने, **उमा०—उमया कृतः** (तृतीया त०) **व्यतिकरः** = सम्बन्धः यस्य तत् तथाभूते (बहुव्रीहि) पार्वती से मिले हुए। **स्वाङ्गे** = अपनी देह मे। **द्विधा विभक्तम्** = दो तरह विभक्त किया है। महादेव अर्द्धनारीश्वर रूप में किस तरह सदा पार्वती से मिले रहते हैं—यह हम पीछे नान्दी-श्लोक मे स्पष्ट कर चुके है। अपने द्वि-रूप शरीर मे महादेव ने नाट्य (नृत्य) दो प्रकारों में विभक्त कर रखा है—एक लास्य और दूसरा ताण्डव। आधे

मुनि लोग कहते है कि नाट्य तो आँखो से देखने का देवताओं का एक सुन्दर यज्ञ है। महादेव जी ने पार्वती को अपने शरीर मे मिला कर इसे दो भागो में विभक्त किया है। इसमे सत्त्व, रज और तम—इन तीनो गुणों से निर्मित मानव-जीवन (अपने) विभिन्न रसों मे देखने को मिलता है। नाट्य पृथक्-पृथक् रुचि रखने वाले लोगों के लिए एक नाना प्रकार का मनोरंजन है ॥ ४ ॥

२९ वकुलावलिका—(उपसृत्य) अज्ज वन्दामि । [(उपसृत्य) आर्य वन्दे ।]

पार्वती-रूप शरीर में तो लास्य रहता है, जो कि स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला एक मधुर नृत्य होता है और आधे पुरुष-रूप शरीर में ताण्डव रहता है, जो पुरुषों द्वारा किया जाने वाला एक उद्धत नृत्य होता है । देखिये दशरूपक—मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः । लास्य-ताण्डव-रूपेण नाटकाद्युपकारकम् । (१।१०) **अत्र०**=इस नाट्य मे । **त्रैगुण्यो० = त्रयाणां गुणानां** (सत्त्व-रजस्तमसाम्) **समाहारः त्रिगुणम्** (समाहार-द्वन्द्व) **त्रिगुणम् एव त्रैगुण्यम्**, त्रिगुण + य (स्वार्थे) **तस्मात् उद्भवः यस्य तत्** (बहुव्रीहि) सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से पैदा होने वाला । **लोक०=लोकानां चरितम्** (षष्ठी त०) लोगों का जीवन, **नाना०=नाना रसा यस्मिन् तथाभूतम्** (बहुव्रीहि) विविध रसों (शृंगार आदि) वाला । दृश्यते दिखाई देता है । नाट्य शब्द यहाँ नाटक-मात्र का बोधक है । नाटकों में नटों द्वारा रंगमंच पर अभिनीत मानव-जीवन का जो विविध रूप हमें देखने को मिलता है, उसमें सुख भी है, दुःख भी है, भलाई भी है बुराई भी है, प्रेम भी है, घृणा भी है, उत्थान भी है और पतन भी है और क्या कुछ नहीं है ? शेक्सपीयर के शब्दों में—'नाटक मानव-जीवन का एक दर्पण होता है' । देखिये भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' भी क्या कहता है:—

योऽयं स्वभावो लोकस्य, सुखदुःख-समन्वितः ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतः, नाट्यमित्यभिधीयते ॥ १९।१२४

भिन्न०—भिन्ना रुचिः यस्य स तथाभूतस्य (बहुव्री०) **जनस्य**=विभिन्न रुचि रखने वाले लोगों का, **बहुधा**=हर तरह से, **समा०**—√सम्+आ+√राध् स्वा० (प्रसन्न करना)+अन (कर्तरि ल्युट्) प्रसन्न कर देने वाला । वैसे तो संसार में लोगों के अपने विभिन्न विचार हुआ करते हैं, परन्तु नाट्य एक ऐसी वस्तु है, जिससे सभी का मनोरंजन होता है चाहे वह बूढ़ा हो या जवान, स्त्री

---

२९ वकुलावलिका—(पास आकर) आर्य, प्रणाम ।

३० गणदास—भद्रे, चिरं जीव।

३१ बकुलावलिका—अज्ज, देवी पुच्छदि अवि उपदेसग्गहणे णादिकिलेसेदि वो सिस्सा मालविएत्ति। [आर्य, देवी पृच्छति 'अप्युपदेशग्रहणे नातिक्लेशयति वः शिष्या मालविका' इति।]

३२ गणदासः—विज्ञाप्यतां देवी 'परम-निपुणा मेधाविनी च' इति। किं बहुना।

हो या पुरुष, देहाती हो या शहरी और चाहे उसके विचार किसी भी तरह के क्यों न हों। इस श्लोक में कालिदास गणदास के मुख से नाट्यकला के सम्बन्ध में अपने ही विचार व्यक्त कर रहे हैं। वास्तव में कवि ने नाट्य का महत्त्व भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार ही बताया है यहाँ तक कि बहुत से शब्द भी वहीं के हैं॥ ४॥

३१ आर्ये—उपदेशस्य ग्रहणे (प० तत्पु०) शिक्षा ग्रहण करने में, सीखने-पढ़ने में।√क्लिश (दि० क्लेश पाना√खिन्न होना +णिच्+लट्।

३२ भद्रे – विज्ञाप्यताम्=वि+√ज्ञा (क्रया० जानना)+णिच्+लोट् प्र० पु० एकव० (कर्मणि) **परमा चासौ निपुणा** (कर्मधा०)। **मेधा अस्या अस्तीति मेधा** + विन् (मतुवर्थ) + ई (स्त्रियाम्) मेधा धारणा अर्थात् जो कुछ पढ़ा-लिखा हो, उसे दिमाग में रखनेवाली बुद्धि को कहते हैं, **मेधाविनी**=समझदार।

---

३० गणदास— चिरकाल जीओ बेटी !

३१ बकुलावलिका—आर्य ! महारानी पूछती हैं कि आपकी शिष्या मालविका सीखने-पढ़ने में आपका दिमाग तो बहुत नहीं खाती ?

३२ गणदास —बेटी ! महारानी को कह दो कि वह बड़ी होशियार और समझदार है। अधिक क्या कहूँ !

यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।

तत्तद्विशेषकरणात्प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥५॥

३३ बकुलावलिका–(आत्मगतम्)–इरावदिं अदिक्कमन्दिं विअ पेक्खामि (प्रकाशम्) किदत्था दाणिं वो सिस्सा जस्सि गुरुअणो एव्वं तुस्सादि । [(आत्मगतम्) इरावतीमतिकामन्तीमिव पश्यामि । (प्रकाशम्) कृतार्थेदानीं वः शिष्या यस्या गुरुजन एवं तुष्यति ।]

यद्यत्० अन्वयः—प्रयोग-विषये मया तस्यै यत् यत् भाविकम् उपदिश्यते, तत् तत् बाला विशेष-करणात् मे प्रत्युपदिशति इव (आर्या) ।

प्रयोगस्य विषये [ष० तत्पु०] प्रयोग के सम्बन्ध में, प्रयोग अभिनय अथवा प्रदर्शन को कहते हैं । **भाविकम्**=भावाय हितम् [भाव + इक (ठ)] भाव हृदय का विकार (feeling) होता है [विकारो हृद्-गतो भावः—अमर-कोश] उसे प्रकट करने वाली शारीरिक चेष्टायें अर्थात् नृत्य । उप + √दिश् (तु० बताना) + लट् (कर्मवाच्य) । **विशेषस्य करणम्** (ष० तत्पु०) **तस्मात्** =विशेषता पैदा करके, सुन्दरता लाकर । **प्रत्युपदिशति**=जवाब में सिखाती है अर्थात् जो-जो भाव-बोधक नृत्य मैं उसे सिखाता हूँ, उसे और भी सुन्दर ढंग से दिखाकर वह उलटा मानो मुझे सिखाती है । इससे मालविका की बुद्धिमत्ता सिद्ध होती है ।

३३ **आत्मनि गतम्** = (स० त०) अपने मन में, मन ही मन । अति० = अति + √ क्रम् [भ्वा० चलना] + शतृ + ई (स्त्रियाम्) द्वि० एक० मालविका

अभिनय के सम्बन्ध में जो-जो भाव-पूर्ण नृत्य मैं उसे सिखाता हूँ, उस-उसको और भी अच्छे ढंग से दिखाकर ऐसा लगता है कि मानो वह लड़की उलटा मुझे ही सिखा रही हो ॥ ५ ॥

३३ बकुलावलिका—(मन ही मन) मैं देख रही हूँ कि जैसे यह (अब) रानी इरावती को पछाड़ देगी । (प्रकट) अब तो धन्य है आपकी शिष्या, जिसके गुरुजन इस तरह प्रसन्न हैं ।

३४ गणदासः—भद्रे, तद्विधानामसुलभत्वात्पृच्छामि कुतो देव्या तत्पात्रमानीतम् ।

३५ बकुलावलिका—अत्थि देवीए वण्णावरो भादा वीरसेणो णाम सो भट्टिणा अन्दवालदुग्गे णम्मदाऊले ठाविदो । देण सिप्पाहिआरे इअं जोग्गा

का विशेषण, इरावती को मात कर देने वाली, पछाड़ देने वाली । कृत० = कृतः अर्थः [प्रयोजनम्] येन यस्य वा (बहुव्रीहि) स्त्रीलिंग में आ प्रत्यय = जिसका काम बन चुका है, कृतकृत्य, धन्य । ✓ तुष् [दि० प्रसन्न होना] + लट् = प्रसन्न होता है ।

३४ तद्विधानाम् = सा विधा यासां ताः तासां (बहुव्रीहि) वैसी जैसियों के । सुष्ठु लब्धुं योग्या सुलभाः = सु + ✓ लभ् [भ्वा० पाना] + अ + आ (स्त्रियाम्) न सुलभाः इति असुलभाः (नञ् त०) तासां भावः [त्वं] तस्मात् [तद्धित में स्त्री को पुंवद्भाव] सुगमता से न पाये जाने के कारण । पात्रम् = योग्य व्यक्ति [योग्य-भाजनयोः पात्रम्—अमरकोश] । देखिये किस तरह कवि द्रष्टागण के हृदय में मालविका के नायिकात्व के लिए भूमि तैयार कर रहा है ।

३५ वर्णेन अवरः=(न वरः) [तृ० त०] वर्ण से नीचा अर्थात् वैश्य अथवा शूद्र स्त्री से उत्पन्न । पहले जमाने में ब्राह्मण आदि वर्णों को अपने से नीचे वर्ण की स्त्री से विवाह की अनुमति थी, इसलिए रानी धारिणी के पिता की कोई वैश्य अथवा शूद्र स्त्री भी होगी, |जिससे उत्पन्न पुत्र रानी का 'वर्णावर भ्राता' लगा । नर्मदायाः तीरे (ष० त०)=नर्मदा के तीर पर । अन्त०= अन्तं राज्यसीमां पालयतीति, अन्तपालः=अन्त + ✓पाल् (चु० रक्षा

---

३४ गणदास—बेटो ! वैसी-जैसी (शिष्याएँ) कठिनता से मिला करती हैं । इसलिए मैं पूछता हूँ कि महारानी ऐसी योग्य लड़की कहाँ से लाई हैं ?

३५ बकुलावलिका—महारानी के वीरसेन नामक एक निम्न जाति के भाई हैं । उन्हें महाराज ने नर्मदा के तीर पर अन्तपाल के किले में नियुक्त कर रखा

दारिएत्ति भणिअ भइणीये उवाअणं पेसिदा। [अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम। स भर्त्रा अन्तपालदुर्गे नर्मदाकूले स्थापितः। तेन शिल्पाधिकारे इयं योग्या दारिकेति भणित्वा भगिन्यै उपायनं प्रेषिता।]

३६ गणदासः—(स्वगतम्) आकृतिविशेषप्रत्ययादेनामनूनवस्तुकां सम्भावयामि। (प्रकाशम्) भद्रे, मयापि यशस्विना भवितव्यम्। पश्य—

करना)+अ, सीमान्तरक्षकः तस्य दुर्गे [प० त०] सीमान्त रक्षक के किले में। स्थापितः=नियुक्त कर रखा है। इससे सिद्ध होता है कि अग्निमित्र की राज्यसीमा दक्षिण में नर्मदा तक फैली थी। उससे परे विदर्भ और आन्ध्र देश थे। शिल्पस्य अधिकारः तस्मिन् [प० त०] शिल्प-कार्य में, शिल्प कलाकर्म को कहते हैं। यहाँ नृत्य, गायन आदि ललित कलायें अभिप्रेत हैं।√भण् (भ्वा० कहना)+क्त्वा=कह कर। उपायनम्=भेंट। प्रेषिता=भेजी।

३६ आकृ० = आकृत्याः विशेषः (ष० त०) तस्य प्रत्ययः तस्मात् (प० त०) सुन्दर चेहरे का विश्वास करके, सुन्दर रूप देखकर। अनून० = न ऊनम् अनूनम् (नञ् त०) अनूनं [अनल्पं] वस्तु (वृत्तं) यस्याः सा (बहुव्रीहि) तथाभूताम्, जिसका वृत्त—चरित्र—हीन नहीं है, अर्थात् उच्च घराने की, कुलीन (Not of inferior stuff)। सम्भावयामि = सम् + √भू (भ्वा० होना) + णिच् + लोट् (उत्तम पुरुष एकवचन) समझता हूँ। पाश्चात्त्य दृष्टि-कोण में सौन्दर्य भ्रष्ट-चरित्र होता है। देखिए क्रोचे क्या कहता है :—'Ugly faithful ones or faithless beauties is a proverb' (Aesthatic PP. 113) परन्तु भारतीय विचारानुसार सौन्दर्य कुलीनता अथवा उच्च चरित्र का बोधक है। कालिदास ने अपने 'कुमारसम्भव' में भी 'पापवृत्तये न रूपम् [५/३६]' लिख कर भारतीय संस्कृति का समर्थन किया है। देखिए

है। उन्होंने यह कह कर कि यह लड़की नाचने-गाने के कार्य के योग्य है, इस-लिए इसे अपनी बहिन धारिणी के पास भेंट के रूप में भेजा है।

३६ गणदास—[मन ही मन] सुन्दर चेहरे को देखकर मैं समझता हूँ

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः ।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥६॥

सुभाषित—'यत्राकृतिस्तत्र गुणाः वसन्ति' और 'मृच्छकटिक'—'न ह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् १०/१६।' यशः अस्य अस्तीति यशस्+विन् (मतुवर्थ) तृ० एक०। भवितव्यम् = √भू (भ्वा० होना)+ तव्य (भावे) अर्थात् मुझे भी इसे सिखा-पढ़ाकर यश मिलना है। योग्य शिष्यों द्वारा गुरु का नाम होता ही है। गणदास की यह भविष्यवाणी आगे संगीत-प्रतियोगिता में सही सिद्ध हो जायेगी।

पात्रेत्यादि—अन्वयः पयोदस्य समुद्र-शुक्तौ न्यस्तं जलं मुक्ताफलताम् इव आधातुः शिल्पं पात्र-विशेषे (न्यस्तं) शिल्पं गुणान्तरं व्रजति। [आर्या]

पयः ददाति पयः+√दा [जु० देना] +अ [क कर्तरि] तस्य (उप०तत्पु०) मेघ का। समुद्रस्य शुक्तिः तस्याम् (प० तत्पु.) समुद्र की सीपी पर। न्यस्तम्=नि+अस् [दि०फेंकना] त (कर्मणि) फेंका हुआ, डाला हुआ। जलम्=जल। मुक्ताफलस्य भावः मुक्ताफलता (भावे तल्) ताम्=मोती के स्वरूप को। इव=जैसे। आधातुः—आदधाति, आ+√धा (जु० धारण करना)+तृच् (कर्तरि) ज्ञान का आधान करने वाले, शिक्षक, गुरु की। शिल्पम्=कला। पात्रेषु विशेषः तस्मिन् सप्त० तत्पु०) किसी विशेष पात्र अर्थात् शिष्य में। गुणा०= अन्यः गुणः गुणान्तरम्=दूसरे ही गुण को, विशेष गुण को। व्रजति=व्रज् (भ्वा० जाना +लट् प्र० पु० एकव०=प्राप्त हो जाती है। एक भारतीय धारणा के अनुसार स्वाति-

---

कि यह किसी उच्च घराने की लड़की है। (प्रकट) भली लड़की, मुझे भी तो यश कमाना है, क्योंकि—

अच्छे शिष्य की सिखाई हुई शिक्षक की कला इस तरह उत्कृष्ट रूप में निखर उठती है जैसे कि मेघ का जल समुद्र की सीपी में पड़ कर मोती बन जाता है ॥६॥

३७ वकुलावलिका— अज्ज, कहिं दाणिं वो सिस्सा। [आर्य, कुत्रेदानीं वः शिष्या।]

३८ गणदासः—इदानीमेव पञ्चाङ्गाभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्य-तामित्यभिहिता दीर्घिकावलोकनगवाक्षगता प्रवातमासेवमाना तिष्ठति।

नक्षत्र में मेघ से गिरा हुआ जल विन्दु सीप के मुँह में पड़कर मोती वन जाया करता है, देखिए भर्तृहरि का नीतिशतक—'स्वात्यां सागरशुक्ति-मध्य-पतितं सन्मौक्तिकं जायते। ६७।' गणदास अपनी शिष्या को सत्पात्र मानता है। उसे वह जो कुछ शिक्षा देता है, वह उसमें ऐसे भव्य और उत्कृष्ट रूप में परिणत होती है कि शिक्षक को उसकी तुलना उस जल-विन्दु से करनी पड़ती है जो सीप के भीतर पड़कर मोती वन जाता है। शिक्षा जल-विन्दु है, जो मालविकारूपी सीपी में जाकर मोती की तरह चमक उठता है। योग्य छात्र को दी गई विद्या इसी तरह निखर उठती है, देखिए कालिदास ने यही वात रघुवंश में भी दोहराई है—'क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ३/१९॥

३८ पञ्चानाम् अङ्गानाम् अभिनयः तम् (ष० तत्पु०) पाँचों अंगों का अभिनय। अभिनय चार प्रकार का होता है—(१) आंगिक (Gestural) (२) वाचिक (Vocal) (३) आहार्य (Extraneous) और (४) सात्त्विक (Internal) इनमें से आंगिक अभिनय पाँच प्रकार का होता है, क्योंकि वह पाँच अंगों से किया जाता है। टीकाकार नीलकंठ के अनुसार पाँच अंग ये हैं:— दो पैर, दो हाथ और शिर, लेकिन अन्य टीकाकारों के अनुसार पाँच अंग ये होते हैं:—चित्त, आँख, भ्रू, हाथ और पैर। विश्रम्यताम्=

---

३७ वकुलावलिका—आर्य, कहाँ है इस समय आपकी शिष्या ?

३८ गणदास—अभी-अभी पाँचों अंगों का अभिनय सिखा कर मैंने उसे कहा कि विश्राम करो। वह उस खिड़की पर वायु-सेवन करती हुई वैठी है, जहाँ से वावड़ी दिखलाई पड़ती है।

३९ वकुलावलिका—देण हि अणुजाणादु मं आआरिओ। जाव से अज्जस्स परिदोसणिवेअणेण उच्छाहं वड्ढेमि। [तेन ह्यनुजानातु मामाचार्यः। यावदस्या आर्यस्य परितोषनिवेदनेनोत्साहं वर्धयामि।]

वि+√श्रम् [दि०श्रम करना] लोट् प्र० पु० ए० (भाववाच्य) विश्राम करो। अभिहिता=अभि +√धा [जु० धारण करना]+त (कर्मवाच्य)+आ [स्त्री०] कही गई। दीर्घि०=दीर्घिकायाः अवलोकनं (प० त०) यस्मात् (बहुव्रीहि) तादृशं यत् गवाक्षं (कर्म०) तत्र गता (स० तत्पु०) उस खिड़की पर बैठी हुई, जहाँ पर से बाहर की बावड़ी दिखलाई पड़ती है। गवाक्ष खिड़की को इसलिए कहते होंगे कि उसमें गोः अक्षि इव [गो + अक्षि=गवाक्ष, अक्षि के पूर्व गो को सन्धि में गव आदेश है और अक्षि को समासान्त अ हो जाता है।] अर्थात् गाय की आँख की तरह गोल-गोल छोटे छिद्र हुआ करते थे, जिनसे हवा आया-जाया करती थी। पुराने जमाने की खिड़कियों पर छेद वाली जाली लगी रहती थी, जो आजकल भी कहीं-कहीं देखने को मिलती है। दीर्घिका एक लम्बे आकार की बावड़ी होती है, जिसमें कमल लगे रहते हैं। प्रकृष्टः वातः प्रवातः तम् [प्रादि त०] तेज हवा। आसेवमाना—आ + √सेव् [भ्वा० सेवन करना] + शानच् + आ (स्त्री०) सेवन करती हुई।

३९ अनुजानातु—अनु + √ज्ञा [क्र्या० जानना] + लोट् प्रथम पुरु० ए० = अनुज्ञा दो, इजाजत दो। परितोषस्य निवेदनम् तेन (प० त०) आपकी प्रसन्नता की सूचना द्वारा। वर्धयामि = √वृध् [भ्वा० बढ़ना] + णिच् + लट् उत्तम पुरुष एक० (उत्साह) बढ़ाती हूँ।

---

३९ वकुलावलिका – तो आचार्य मुझे आज्ञा दें कि मैं उसे आपकी प्रसन्नता बताकर उत्साहित करूँ।

४० गणदासः–दृश्यतां सखी । अहमपि लब्धक्षणः स्वगृहं गच्छामि ।

(इति निष्क्रान्तौ)

इति मिश्रविष्कम्भकः

---

४० दृश्य० = √दृश् [भ्वा० देखना] लोट् प्र० पु० एकवचन (कर्म-वाच्य) = देखो । लब्धः क्षणः (कर्मधारय) येन स तथाभूतः (बहुव्रीहि) = छुट्टी पाये हुए। देखिए—निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः [अमरकोष] । स्वं गृहम् (कर्मधारय) अथवा स्वस्य गृहम् (षष्ठी त०) अपने घर ।

मिश्रविष्कम्भकः— विष्कम्भक एक प्रकार का स्टेज-डाइरेक्शन होता है । इसे किसी भी अंक के आरम्भ में की जाने वाली उसी अंक की एक लघु भूमिका ही समझिए । इसमें नाटक की मुख्य कथावस्तु का अभिनय नहीं होता, परन्तु दो या तीन पात्र रंगमंच पर आकर कथावस्तु से सम्बन्ध रखने वाली कुछ अतीत की और कुछ भविष्य की बातों की परस्पर वार्तालाप द्वारा श्रोतागणों को सूचना दे देते हैं जिससे कथावस्तु की शृंखला ठीक-ठीक चलती रहती है । ध्यान रहे कि इसमें सूचना देने वाले पात्र मध्यवर्ग के होते हैं । देखिए दशरूपक :—

वृत्त-वर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्य-पात्र-प्रयोजितः ॥ १/५९

यदि पात्र मध्य वर्ग के ही हों, तब तो वह शुद्ध विष्कम्भक कहलाता है, किन्तु कोई पात्र संस्कृत बोलने वाला मध्यवर्गीय हो और कोई प्राकृत

---

४० गणदास—हाँ मिलो अपनी सखी को, छुट्टी पाये हुए मैं भी अपने घर जा रहा हूँ ।

(दोनों चले जाते हैं)

[मिश्रविष्कम्भक]

(ततः प्रविशत्येकान्तस्थितपरिजनो मन्त्रिणा लेखहस्तेनान्वास्यमानो राजा)

बोलने वाला निम्नवर्गीय हो, तो उसे **मिश्रविष्कम्भक** कहते हैं। गणदास तो मध्यवर्ग का है और दासियाँ निम्नवर्ग की इसलिए यह मिश्रविष्कम्भक है, मिश्र मिले हुए को कहते हैं। प्रकृत विष्कम्भक राजमहल का दृश्य उपस्थित करता है। राजा ने मालविका को चित्र में देख लिया है और वह उसके रूप पर मुग्ध है। महारानी धारिणी को इससे ईर्ष्या हो जाती है और वह मालविका को राजा से दूर ही रखती है जिससे कि वह राजा की निगाह में न आ पड़े। मालविका रानी के भाई द्वारा भेजी हुई एक उच्च घराने की लड़की है, जो बड़ी सुन्दर, समझदार और संगीत में रुचि रखने वाली है। धारिणी ने एक सर्पमुद्रांकित अँगूठी बनवाई है, जिसका चतुर्थ अंक की घटनाओं में उपयोग होगा। इस तरह विष्कम्भक की ये सभी बातें द्रष्टागणों के आगे नाटकीय कथावस्तु की पृष्ठभूमि रख देती हैं। इसके आगे असली नाटक प्रारम्भ होता है।

ततः···राजा एकान्ते स्थिताः (स० सत्पु०) **परिजनाः** (कर्मधा०) **यस्य सः तथाभूतः** (बहुव्रीहि)=जिसके नौकर-चाकर परे एकान्त में खड़े हैं, मन्त्री राजा के आगे एक गुप्त पत्र पढ़ रहा था, इसलिए नौकर-चाकरों को पृथक् एक कोने में भेज दिया गया। **लेख; हस्ते यस्य सः तथाभूतेन** (ब० व्री०) हाथ में एक लेख अर्थात् पत्र लिए हुए मन्त्री द्वारा। **अन्वा०**=अनु + √आस् [अ० बैठना]+शानच् (कर्मणि) सेवित किया जाता हुआ अर्थात् मन्त्री राजा की सेवा में उपस्थित था।

[राजा प्रवेश करता है, नौकर-चाकर दूर एकान्त में खड़े हैं और मन्त्री, हाथ में एक पत्र लिए राजा की सेवा में उपस्थित है]

४१ **राजा** (अनुवाचितलेखममात्यमवलोक्य)—**वाहतक, किं प्रतिपद्यते वैदर्भः ।**

४२ **अमात्य**—**देव, आत्मविनाशम् ।**

४३ **राजा**—**सन्देशमिदानीं श्रोतुमिच्छामि ।**

४४ **अमात्यः**—**इदमिदानीमनेन प्रतिलिखितम्—"पूज्येनाहमादिष्टः 'भवतः पितृव्यपुत्रः कुमारो माधवसेनः प्रतिश्रुतसम्बन्धो ममोपान्तिकमा-**

---

४१ **अनु०** = अनुवाचितः लेखः येन तथाभूतम् (ब० व्री०) **अनुवाचित** = अनु + √वाच् [चु० वाँचना, पढ़ना] + त (कर्मणि) **लेख** = √लिख् [तु० लिखना] + अ (भावे) लेख, पत्र । अमात्य मन्त्री को कहते हैं । राजाके आमात्य का नाम वाहतक है । **प्रतिपद्यते** = प्रति + √पद् [दि० चलना] + लट् , मान रहा है, करने जा रहा है ।

४२ **आत्मनः विनाशः तम्** (प० तत्पु०) अपना सत्यानाश । **वैदर्भः**= **विदर्भाणाम् ईश्वरः** (राजा) विदर्भ + अण् , विदर्भ देश का राजा यज्ञसेन । आजकल के बरार को पहले विदर्भ कहा करते थे ।

४३ **सन्देशम्**—सम् + दिश् (तु० दिखाना) + अ (भावे) संदेशको । **श्रोतुम्**=√श्रु (सु० सुनना) + तुम् सुनना । **इच्छामि** = चाहता हूँ ।

४४ **इदम्** + इदानीम् + अनेन प्रति + √लिख् (तु० लिखना) + त (कर्मणि) उत्तर में लिखा है । **पूज्यः** = √पूज् [चु० पूजना] + य (पूजयितुं

---

४१ **राजा**—[मन्त्री द्वारा पत्र बाँचे जाने के बाद उसकी ओर देखकर] वाहतक ! विदर्भ के राजा क्या करने जा रहे हैं ?

४२ **अमात्य**—अपना विनाश महाराज !

४३ **राजा**—अच्छा, अब मैं उसका सन्देश सुनना चाहता हूँ ।

४४ **अमात्य**—उन्होंने उत्तर में अब यह लिखा है कि 'आपने मुझे आज्ञा दी थी कि 'आपके चचेरे भाई कुमार माधवसेन (अपनी बहिन का) मेरे साथ

गच्छन्नन्तरा त्वदीयेनान्तपालेनावस्कन्द्य गृहीतः । स त्वया मदपेक्षया सकलत्रसोदर्यो मोचयितव्यः' इति । एतन्ननु वो विदितं यत्तुल्याभिजनेषु भूमिहरेषु राज्ञां प्रवृत्तिरीदृक् । अतोऽत्र मध्यस्थः पूज्यो भवितुमर्हति ।

योग्य:) तेन पूजनीय अर्थात् आपने । **आदिष्टः** = आ + √दिश् (तु० दिखाना) +त = (कर्मणि) मुझे आज्ञा दी है । **पितृव्यस्य** (पितुः भ्राता पितृ + व्यत्) पुत्रः (प० तत्पु०) चचेरा भाई । विदर्भ नरेश यज्ञसेन का माधवसेन चचेरा भाई लगता था । प्रति + √ श्रु (भ्वा० सुनना) + त (कर्मणि) **प्रतिश्रुतः** (प्रतिज्ञातः) सम्बन्धः (कर्मधा०) येन सः तथाभूतः (व० व्री०) जिसने सम्बन्ध पक्का कर रखा था । माधवसेन ने अपनी बहिन मालविका का विवाह-सम्बन्ध अग्निमित्र के साथ पक्का कर रखा था, क्योंकि वह यज्ञसेन के विरुद्ध युद्ध में अग्निमित्र की सहायता लेना चाहता था । माधवसेन और यज्ञसेन दोनों अपने-अपने को विदर्भ राज्य का अधिकारी मानते थे । **उपान्तिकम्** = समीप । **आग०** आ + √ गम् (भ्वा० चलना) + शतृ प्र० एकवचन = आता हुआ । **अन्तरा** (अव्यय) = बीच में । तव अयम् **त्वदीयः**=युष्मत् + छ [ईय और युष्मत् को त्वत् आदेश] आपके । **अन्तपालेन** = अन्तं पालयतोति तेन सीमान्त के रक्षक ने । **अवस्कन्द्य** = अव + √ स्कन्द् [भ्वा० आक्रमण करना] + क्त्वा (य) आक्रमण करके । **गृहीतः** = √ ग्रह [क्र्या० लेना, पकड़ना] + त (कर्मणि) गिरफ्तार कर लिया है । **मयि अपेक्षा तया** [स० त०] अपेक्षा इच्छा, आदर-भाव (Regard) को कहते हैं अर्थात् मेरा ख्याल करके । **सकलत्र०** = कलत्रं च सोदर्या च कलत्र-सोदर्ये [द्वन्द्व] ताभ्यां सह वर्तमानः [बहुव्रीहि] **सोदर्या** = समाने

सम्बन्ध पक्का करके मेरे पास आ रहे थे कि बीच में आपके सीमान्तरक्षक ने आक्रमण करके उन्हें पकड़ लिया है । आप मेरा खयाल करके पत्नी और बहिन सहित उन्हें छोड़ दीजिएगा ।' यह तो आपको विदित ही है कि अपने जाति-भाइयों के साथ राजाओं का ऐसा व्यवहार हुआ ही करता है । इसलिए आपको इस मामले में निष्पक्ष रहना चाहिए । हाँ, धर-पकड़ की गड़बड़ में उनकी बहिन

सोदर्या पुनरस्य ग्रहणविप्लवे विनष्टा। तदन्वेषणाय प्रयतिष्ये। अथावश्यमेव माधवसेनः पूज्येन मोचयितव्यः श्रूयतामभिसन्धिः।

उदरे शयिता = एक पेट में जो सोई हो अर्थात् सहोदर वहिन, सोदर + य। देखिए पा० सोदराद्य० [४/४/१०९] **समानम् उदरं** = सोदरम् 'समान' को 'स' हो जाता है विकल्प से, देखिए पा० ६।३।८८; जहाँ लोप नहीं होता, वहाँ 'समानोदर्या' वनेगा। समान का अर्थ यहाँ 'एक' है। पत्नी और वहिन समेत। **मोचयितव्यः** = √ मुच् [तु० छोड़ना]+तव्य [कर्मणि] छोड़ देना चाहिए। यहाँ तक तो पत्र का वही अंश है जो अग्निमित्र ने विदर्भ-नरेश को लिखा था। इस पर आगे विदर्भ-नरेश का उत्तर है। **एतत् ननु वः** = आपको **विदितम्** = ज्ञात ही है, पता ही है। **तुल्या०** = **तुल्यः अभिजनः** (कुलम्) **येषां ते तथोक्तेषु** (वहुव्रीहि) समान कुल वाले, एक ही घराने के, सजातीय। **भूमि०=भूमिं हरन्ति,** भूमि + √ हृ + अ (कर्तरि) **तेषां** = भूमि, दाय, जायदाद के हकदारों के प्रति। **राज्ञाम्** = राजाओं का (ऐसा ही व्यवहार होता है) अर्थात् राज्य के हक के लिए लड़ने वाले अपने सजातीय विद्रोही भाइयों को पकड़ उन्हें सभी राजे वन्दी वनाते ही हैं, इसलिए माधवसेन को पकड़ कर मैंने कोई अनुचित कार्य नहीं किया। **मध्यस्थः** = मध्ये तिष्ठतीति मध्य + √ स्था [भ्वा० वैठना] + अ [क कर्तरि] वीच में खड़ा रहने वाला, तटस्थ, हस्तक्षेप न करने वाला। **पूज्यः** = पूजयितुं योग्यः √ पूज् (चुरा० पूजना) + य [विधि० कृदन्त] पूजने योग्य, पूजनीय, आदरणीय। [Your Honour !] अर्थात् यह भाई-भाइयों के वीच का घरेलू मामला है, इसमें आपको हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। **सोदरा** = समानम् उदरं यस्याः सा (वहुव्रीहि) सहोदर वहिन। **ग्रहण०=ग्रहणस्य विप्लवः** (षष्ठी त०) **तस्मिन्** = पकड़-धकड़ की गड़वड़ी में। वि + √ नश् [दि० न दीखना] + त + आ = **विनष्टा** = गायव हो गई, खो गई। **तद्०** = **तस्याः अन्वेषणं** (षष्ठी तत्पुरुष) **तस्मै** = उसकी

खो गई है। मैं उसकी खोज के लिए प्रयत्न करूँगा। यदि आपको माधवसेन अवश्य ही छुड़ाना है, तो शर्त सुनिए:—

मौर्यसचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम श्यालम्।
मोक्ता माधवसेनं ततोऽहमपि बन्धनात्सद्यः ॥ ७ ॥ इति ।

खोज के लिए। **प्रयतिष्ये** = प्र + √ यत् [भ्वा० यत्न करना] + लृट् उत्तम पुरुष एकवचन=प्रयत्न करूँगा। **मोचयितव्यः** √ मुच् [तु० छोड़ना] + णिच्+ तव्य (विधि कृदन्त) (मेरे द्वारा) छुड़वाना है, तो, **श्रूयताम्** = √ श्रु [भ्वा० सुनना] + लोट् प्रथम पुरुष एकवचन [कर्मवाच्य] सुनिए। **अभिसन्धिः**=शर्त।

मौर्येत्यादि—अन्वयः—यदि पूज्यः संयतं मम श्यालं मौर्यसचिवं विमुञ्चति, ततः अहम् अपि सद्यः माधवसेनं बन्धनात् मोक्ता। [आर्या]

पूज्यः = पूजनीय, आप। **संयतम्** = सम् + √ यम् (भ्वा० रोकना) + त (कर्मणि) रोके हुए, पकड़े हुए अर्थात् बन्दी बनाये हुए। **श्यालम्** = साले, **मौर्य सचिवम्** = कुछ टीकाकार इसे महासेन के साले का नाम मानते हैं, पर यह उनकी गलत धारणा है। वास्तव में उसका साला तो मौर्यवंश के अन्तिम सम्राट् बृहद्रथ का सचिव था। अग्निमित्र का पिता पुष्यमित्र मौर्य-राज्य का सेनापति था। उसने धोखे से बृहद्रथ को मार कर राज्य हथिया लिया था और स्वयं पाटलीपुत्र के राज्यसिंहासन पर बैठ गया था। स्वामी-भक्त सचिव अग्निमित्र की कारागार में बन्दी बनकर पड़ा हुआ था। यज्ञसेन इसका बदला लेने की टोह में था कि अवसर मिलते ही उसने अग्निमित्र के भावी साले माधवसेन को बन्दी बना लिया **विमुञ्चति** = वि + √मुच् (तु० छोड़ना + लट् = छोड़ देते हैं। **सद्यः** (अव्यय) = तत्काल। **बन्धनात्** = कैद से। **मोक्ता** = मुञ्चतीति √मुच् + तृच् (कर्तरि), न लोकाव्यय० [२।३।६९] इस पाणिनि-नियम से 'माधवसेनम्' षष्ठी न होकर द्वितीया ही रहा। यह √मुच् का लुट् लकार का रूप नहीं है, क्योंकि उसके उत्तम पुरुष में 'मोक्तास्मि' होता है, 'मोक्ता' नहीं। विदर्भ-नरेश अग्निमित्र के साथ बराबरी के स्तर पर बर्ताव करना

यदि आप बन्दी बनाये गये मेरे साले मौर्य-सचिव को छोड़ देते हैं, तो भी तत्काल माधवसेन को मुक्त कर दूँगा॥ ७ ॥

४५ राजा (सरोषम्)—कथं कार्यविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञः। वाहतक, प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलचारी च मे वैदर्भः। तद्यातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्वसङ्कल्पितसमुन्मूलनाय वीरसेनप्रमुखं दण्डचक्रमाज्ञापय।

चाहता है अर्थात् यदि अग्निमित्र उसके साले मौर्य-सचिव को छोड़ दे, तो वह (विदर्भ-नरेश) भी उसके भविष्य में बनने वाले साले माधवसेन को छोड़ देगा।

४५ सरोषम्=रोषेण सहितं यथा स्यात् तथा = (क्रियावि०) क्रोध से। कार्यस्य विनिमयः (ष० तत्पु०) तेन=कार्य की अदला-बदली द्वारा। व्यवहरति वि+अव + √हृ (भ्वा० हरना) + लट् = व्यवहार, वर्ताव करता है। ध्यान रहे कि इस अर्थ में √व्यवहृ धातु से सप्तमी होती है। अनात्मज्ञः = आत्मानं जानाति इति आत्मन्+√ज्ञा (क्र्या० जानना)+अ(कर्तरि) आत्मज्ञः (उपपदतत्पु०), न आत्मज्ञः अनात्मज्ञः = अपने-आपको न जानने वाला, मूर्ख। यह विदर्भ नरेश की मूर्खता ही थी कि वह एक विशाल साम्राज्य के स्वामी अग्निमित्र के साथ बराबरी का दर्जा रखे। अग्निमित्र के राज्य की सीमा के साथ सटे हुए होने के कारण छोटा-सा विदर्भ-राज्य तो राजनीति के अनुसार उसका खाद्य ही था, अतः यह यज्ञसेन की धृष्टता ही है कि उससे टक्कर ले रहा है। प्रकृत्यमित्रः=प्रकृत्या अमित्रः तृ० तत्पु०) स्वाभाविक शत्रु। कौटिल्य के अनुसार पड़ोसी राजा स्वाभाविक शत्रु हुआ करता है, अतः विजिगीषु राजा को सबसे पहले उसी का सफाया करना पड़ता है। प्रतिकूलं यथा स्यात् तथा चरतीति प्रतिकूल + √चर् (भ्वा० चलना) + इन् (कर्तरि) विरुद्ध

---

४५ राजा—(रोष में आकर) किस तरह मूर्ख मेरे साथ कार्य की अदला-बदली का बर्ताव कर रहा है। वाहतक ! विदर्भ-नरेश मेरा स्वाभाविक शत्रु है और मेरे प्रति विरुद्ध आचरण भी कर रहा है। इसलिए वह हमारे आक्रमण-योग्य लोगों में से है। जैसे कि मैंने पहले ही सोच रखा है, उसे जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए वीरसेन के सेनापतित्व में सैन्य-दल को आज्ञा दीजिए।

४६ अमात्यः—यदाज्ञापयति देवः ।

४७ राजा—अथवा किं भवान् मन्यते ।

चलने वाला। यातुं योग्यः √या (अ० जाना) + तव्य, यात०यानां (प० तत्पु०) पक्षे (स० तत्पु०) **स्थितस्य**=अभियान, आक्रमण किये जाने योग्यों के पक्ष (Party, Catagory) में स्थित हुए अर्थात् शत्रु-पक्षीय। **पूर्व०=पूर्वं यथा स्यात् तथा संकल्पितं यत् समुन्मूलनं** (कर्मधा०) **तस्मै**=सम् + √ कल्प् (भ्वा० कल्पना करना) + त कर्मणि) **उद्गतं मूलं यस्य तत्** (ब० व्री०) **उन्मूलम्**, उन्मूलनं करोति, उन्मूलन + √णिच् उन्मूलयति 'तत्करोति तदाचष्टे' इस पाणिनि-नियम से नामधातु बना, √सम् + उन्मूल (नामधातु, जड़ से उखाड़ फेंकना) + अन (ल्युट् भावे) तस्मै=जैसे कि पहले ही निश्चय कर रखा है, उसको जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए। इससे पता चलता है कि अग्निमित्र पहले से ही अपने स्वाभाविक शत्रु यज्ञसेन के विनाश का निश्चय किए बैठा था। वह तो कोई निमित्त ही देख रहा था जिसे यज्ञसेन के धृष्टता-पूर्ण पत्र ने उसे दे दिया। **वीर०=वीरसेनः प्रमुखः यस्य तत्** (ब० व्री०) वीरसेन जिसका मुखिया, सेनानी है अर्थात् वीरसेन के सेनापतित्व में। **दण्ड०**=दण्ड्यते शत्रुः एभिः इति √दण्ड् + अ (करणार्थे) **दण्डाः**=सैन्यानि **तेषां चक्रम्** (ष० तत्पु०)= समूहम्=सैनिक दल को **आज्ञापय**=आ + √ ज्ञा (क्र्या० जानना) + णिच् + लोट् म० पु० ए०=आज्ञा दो। अग्निमित्र के वचनों से उसकी उग्र प्रकृति का परिचय मिलता है, साथ ही हम उसकी तत्काल निर्णय करने की क्षमता का भी पता लगा सकते हैं।

४७ राजा अपना निर्णय कर चुकने पर मन्त्री की भी सम्मति पूछता है। राजा को सन्देह होता है कि मेरा निर्णय शायद मन्त्री के विचारों से न मिले अथवा वह राजनीति-शास्त्र के अनुकूल न हो। राजतन्त्र की सफलता राजा और

---

४६ अमात्य—जैसी महाराज की आज्ञा।

४७ राजा—अथवा आपकी अपनी क्या सम्मति है ?

४८ अमात्यः—शास्त्रदृष्टमाह देवः । कुतः

अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात् ।
नवसंरोहणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् ॥ ८ ॥

मन्त्री दोनों के परस्पर मतैक्य तथा राजनीति-शास्त्र की अनुकूलता पर ही आधारित होती है। देखिए महाभारत—'मन्त्रिणां मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते।'

४८ **शास्त्रेषु दृष्टम्** (स० त०) शास्त्र से अभिप्रेत यहाँ कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र, महाभारत आदि है।

अचिरा०—अन्वयः—अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकतिपु अरूढमूलत्वात् नव-संरोहण-शिथिलः तरुः इव समुद्धर्तुं सुकरः । [आर्या]

अचिरा०=अचिरं (यथा स्यात् तथा) **अधिष्ठितं राज्यं येन सः** (ब० ब्री०) जो अभी-अभी राजगद्दी पर वैठा है। अधि + √स्था [भ्वा० वैठना] + त (कर्मणि **अधिष्ठितम्**, स्था धातु अकर्मक होने पर भी अधि उपसर्ग लगने से सकर्मक वन जाया करता है। इससे मालूम होता है कि यज्ञसेन हाल ही मे राज्यारूढ़ हुआ है और यही कारण है कि माधवसेन और उसमे प्रतिद्वन्द्विता छिड़ पड़ी। **प्रकृतिपु** = इस शब्द के दो अर्थ है (१) प्रजा (राजा की तरफ,) (२) भूमि, जमीन, (वृक्ष की तरफ) **अरूढ़० = न रूढ़ मूलं यस्य सः तथोक्तः** (बहुव्रीहिः) **तस्य भावः तत्त्वम् तस्मात्** (१) प्रजा मे स्थिति अभी जमी न होने के कारण, अर्थात् जिसने अभी लोकप्रियता प्राप्त

---

४८ **अमात्य**—महाराज ने तो शास्त्रानुकूल ही वात कही है, क्योंकि—

जो शत्रु अभी-अभी राजगद्दी पर वैठा हो और प्रजा का विश्वास न जमने के कारण जिसका नव राज्यारोहण दृढ़ नहीं हुआ हो, उसे सहज ही यों उखाडा जा सकता है जैसे जमीन में जड़ जमी न रहने के कारण ढीलाढाला पड़ा, नया लगाया हुआ वृक्ष ॥८॥

४१ राजा—तेन ह्यवितथं तन्त्रकारवचनम्। इदमेव निमित्तमादाय समुद्योज्यतां सेनापतिः।

नहीं की। (२) जिसकी जड़ अभी जमी नहीं है। इसलिए नव० = नवं यत् संरोहणम् (कर्मधा०) तेन शिथिल तृ० तत्पु० = (१) अभी-अभी राज्यारोहण होने के कारण अस्थिर, (२) अभी-अभी लगाये जाने के कारण ढीलाढाला। तरुः इव = वृक्ष की तरह। समुद्धर्तुम् = सम्+उद्+√हृ (भ्वा० हरना) + तुम् = उखाड़ फेंकने को। सुकरः = सुखेन कर्तुं योग्यः सु + √ कृ (त० करना। + अ (खल् कृत्यप्रत्यय) = सरल होता है अर्थात् जो राजा अभी-अभी राजगद्दी पर बैठा हो, उसे हटाना कोई कठिन कार्य नहीं, क्योंकि वह नया-नया होने के कारण न तो प्रजा का विश्वास और भक्ति प्राप्त किये रहता है और न ही उसकी स्थिति दृढ़ रहती है। वह तो एक ऐसा पौदा है, जिसे अभी-अभी लगाया गया हो और जो जड़ जमीन में जमी न होने के कारण जब चाहे उखाड़ा जा सकता है। राजनीति में ऐसे कच्चे शत्रु को तत्काल उखाड़ फेंकने का विधान है, देखिये कौटिल्य क्या कहता है—हीनेन विगृह्णीयात्। मालूम होता है कि कालिदास राजनीति और अर्थशास्त्र से सुपरिचित थे।

४१ अवितथम् न वितथम् = मिथ्या, अर्थात् सत्य। तन्त्रम्=शास्त्रं कुर्वन्ति इति तन्त्र+√कृ (त० करना)+अ (अण् कर्तरि) तन्त्रकाराः (उपपद तत्पु०) तेषां वचनम् (ष० तत्पु०)=शास्त्रकारों का वचन। शास्त्र से अभि-प्रेत यहाँ राजनीति-शास्त्र है। कुछ टीकाकारों ने 'वचनम्' का अर्थ यहाँ यज्ञसेन का 'परस्पर कार्यविनिमय वाला वचन' किया है, किन्तु यह दूर खींचा हुआ अर्थ है। निमित्तम्=व्याज, बहाना। उपादाय=उप+आ√दा (जु० देना) य (क्त्वा को ल्यप्)=लेकर। समुद्योज्यताम् सम्+उद्+√युज् (रु० लगाना) लोट् प्र० पु० एकवचन (कर्मवा०)=लगाओ, तैयार करो।

---

४१ राजा—तब तो राजनीति-शास्त्रकारों का वचन सत्य ही है। इसी वचन को निमित्त बनाकर सेनापति को तैयार कीजिए।

५० अमात्यः—तथा ।

(इति निष्क्रान्तः परिजनश्च यथाव्यापारं राजानमभितः स्थितः)

५१ (प्रविश्य) विदूषकः—आणत्तोह्मि, तत्तहोदा रण्णा, गोदम, चिन्तेहि दाव उवाअं जह मे अइच्छ दिट्ठपडिकिदी मालविआ पच्चक्खदंसणा होदित्ति । मए वि तं तह किदं । जाव से णिवेदेमि । (इति परिक्रामति) [आज्ञप्तोऽस्मि तत्रभवता राज्ञा 'गौतम, चिन्तय तावदुपायं यथा मे यदृच्छादृष्टप्रतिकृतिर्मालविका प्रत्यक्षदर्शना भवति' इति । मयापि तत्तथा कृतम् । यावदस्मै निवेदयामि । (इति परिक्रामति)]

---

५० तथा=यह 'यथा देव ! आज्ञापयति तथा करिष्ये' का संक्षिप्त रूप है अर्थात् जैसी आपकी आज्ञा, वैसा ही करूँगा ।

यथा०=व्यापारान् अनतिक्रम्य इति यथाव्यापारम् (अव्ययीभाव समास)=जैसा-जैसा जिसका काम, वैसा-वैसा ही । अभितः (अव्यय)=दोनों ओर । इसके योग में द्वितीया हुआ करती है ।

५१ विदूषक—संस्कृत-नाटकों में विदूषक एक हास्यप्रद पात्र हुआ करता है । वह जाति का ब्राह्मण और नायक का अन्तरंगमित्र होता है । अपनी वेश-भूषा, बोल-चाल तथा विचित्र व्यवहार से नाटक में हास्य-रस का वातावरण बनाये रखते हुए उसका नाटक के कार्य-व्यापार की प्रगति में, विशेषतः नायक के प्रणय-व्यापार में बड़ा हाथ रहता है । देखिए साहित्य-दर्पण—कुसुम-

---

५० अमात्य—अच्छा बात ।

(चला जाता है ओर सेवक अपने कार्यों के अनुसार राजा के दोनों ओर खड़े हो जाते हैं ।)

[प्रवेश करके]

५१ विदूषक—मुझे महाराज ने आज्ञा दी थी कि 'गौतम ! कुछ उपाय तो सोचो जिससे कि अकस्मात् चित्र में देखी हुई मालविका को मैं आँखों से प्रत्यक्ष देख लूँ ।' वह उपाय मैंने सोच लिया है । तो [अब] महाराज को सूचित कर देता हूँ । [घूमता है]

५२ राजा (विदूषकं दृष्ट्वा)—अयमपरः कार्यान्तरसचिवोऽस्मानुपस्थितः।

वसन्ताद्यभिधः कर्म-वपुर्वेश-भाषाद्यैः। हास्यकरः कलह-रतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः॥ ४।४२॥ प्रकृत नाटक में उसकी सूझ परख, उद्भावना एवं बुद्धि-चातुर्य का कथावस्तु के विकास में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग है। वह राजा का 'नर्म-सचिव' है।

आज्ञप्तः=आ + √ज्ञा (क्र्या० जानना) + णिच् + त क्त कर्मणि) आज्ञा दिया हुआ। **तत्रभवान्** यह नाटक में परोक्ष व्यक्ति के सम्बन्ध में आदर-सूचक शब्द होता है। प्रत्यक्ष व्यक्ति को **'अत्रभवान्'** कहते हैं। दोनों का अर्थ मान्य, आदरणीय है। **चिन्तय**=सोचो। **यदृच्छा०**=यदृच्छया दृष्टा [तृ० तत्पु० प्रतिकृतिः (कर्मधारय) यस्याः सा तथोक्ता [बहुव्रीहि] यह मालविका का विशेषण है। यदृच्छा योग (Chance) को कहते हैं, जिसका चित्र अकस्मात् ही देखा गया है, ऐसी मालविका। **प्रत्यक्ष०**=प्रत्यक्षं दर्शनं यस्याः सा (बहुव्रीहि)=प्रत्यक्ष देखने में आई हुई, अपनी आँखों से देखी हुई। **अस्मै निवे०**= उन्हें सूचित करता हूँ।

५२ **अपरः**=दूसरा। **कार्या०**=अन्यत् कार्यं कार्यान्तरम् तस्य सचिवः [षष्ठी तत्पुरुष] दूसरे कार्य का मन्त्री। दूसरे कार्य का मतलब यहाँ प्रणय-व्यापार है। वाहतक जहाँ राजनीतिक कार्यों का मन्त्री है, वहाँ विदूषक गौतम राजा के अन्तःपुर में प्रेम-व्यापारों, प्रणय-कलहों, अनुनय-विनयों का मन्त्री है। इसीलिए आगे उसे 'नर्म-सचिव', 'कामतन्त्र-सचिव' कहा गया है। कालिदास के अन्य नाटकों के विदूषकों की तुलना में हमारा गौतम अधिक चतुर बुद्धिमान् एवं उद्भावक मस्तिष्क का है और नायक-सम्बन्धी कामतन्त्र के संचालन में पूरा सफल सिद्ध हुआ है।

---

५२ राजा—(विदूषक को देखकर) यह हमारे अन्य कार्य के मन्त्री हमारे पास आ पहुंचे हैं।

५३ विदूषकः (उपसृत्य)—वढढदु भवं। [वर्धतां भवान्।]

५४ राजा (सशिरःकम्पम्)—इत आस्यताम्। (विदूषक उपविष्टः) वयस्य, कच्चिदुपेयोपायदर्शने व्यापृतं ते प्रज्ञाचक्षुः ?

५५—विदूषकः—पओअसिद्धिं पुच्छ। [प्रयोगसिद्धिं पृच्छ।]

---

५३ उपसृत्य=उप+√सृ [भ्वा० चलना] + य (क्त्वा को ल्यप्)=पास जाकर। वर्धताम्=√वृध् [भ्वा० बढ़ना] + लोट् प्रथम पुरुष एकवचन। बढ़िए वृद्धि को प्राप्त होवें, बधाई हो।

५४ शिरसः कम्पः (षष्ठी तत्पु०) शिरः कम्पेन सहितं यथा स्यात्तथा [बहुव्रीहि क्रिया-वि०]=शिर हिला कर। शिर हिलाने का मतलब यह बताना है कि वह गौतम की बधाई का संकेत समझ गये हैं। आस्यताम्=√आस् [अ० बैठना] + लोट् प्रथम पुरुष एकवचन (भाववाच्य) बैठो। कच्चित्=अव्यय यह ऐसे प्रश्न में प्रयुक्त होता है जिसका उत्तर प्रत्याशित हो; देखिए अमरकोश— "कच्चित् कामप्रवेदने"। अतः इस अव्यय को, 'मैं आशा करता हूँ' (I hope) इस अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। देखिए, रघुवंश—"कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः। ५।७। उपेय० = उपेतुं योग्यम् = उप + √इण् (अ० जाना) + य [कृत्य प्र०] उपेयं तस्य उपायः तस्य दर्शने (ष० त०) = प्राप्तव्य वस्तु (मालविका का प्रत्यक्ष-दर्शन-रूप) का उपाय सोचने में। व्यापृतम् = वि + आङ् √पृङ् (तु० लगना) + त (क्त कर्तरि) लगा हुआ। प्रज्ञा एव चक्षुः (कर्मधा०) बुद्धिरूप चक्षु, समझ अर्थात् क्या आपका मन मालविका का प्रत्यक्ष दर्शन करने के उपाय को सोचने में लगा है या नहीं ?

५५ प्रयोग० = प्रयोगस्य सिद्धिः (ष० त०) ताम् = उपाय की सफलता

---

५३ विदूषक—(पास पहुँच कर) आपकी वृद्धि हो (महाराज !)

५४ राजा—(शिर हिला कर) इधर बैठो। (विदूषक बैठ जाता है) मित्र ! जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, क्या उसका उपाय सोचने में तुम्हारी भीतर की आँख कुछ काम कर रही है या नहीं ?

५५ विदूषक—(अजी अब तो) उपाय की सफलता पूछिए।

४

५६ राजा—कथमिव ।

५७ विदूषकः (कर्णे)—एव्वं विअ । [एवमिव ।]

५८ राजा—साधु वयस्य, निपुणमुपक्रान्तम् । इदानीं दुरधिगमसिद्धावप्यस्मिन्नारम्भे वयमाशंसामहे । कुतः—

अर्थं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव ।
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि ॥९॥

को। गौतम को राजा द्वारा यह पूछा जाना कि क्या कोई उपाय सोचा है ? जरा बुरा लगा, क्योंकि इससे उसकी मन्द-मतिता सिद्ध होती है। अतः राजा का आक्षेप वह नहीं सह सकता और तत्काल उत्तर देता है कि महाराज, स्थिति अब उपाय-चिन्तन से कहीं आगे गई हुई है, इसलिए उपाय-चिन्तन के स्थान में अब तो उपाय की सफलता देखनी है।

५८ **साधु** (अव्यय) = ठीक है। **निपुणम्** (क्रिया-वि०) चतुराई के साथ, अच्छे ढंग से। **उपक्रा०** उप + √क्रम् (भ्वा० चलना) + त (क्त भाववाच्य) प्रारम्भ किया। उप-पूर्वक और प्र पूर्वक क्रम धातु का अर्थ प्रारम्भ करना होता है। **दुर०** = दुःखेन अधिगन्तुं योग्या **दुरधिगमा** = दुर् + अधि + √गम् (भ्वा० जाना) + अ (खल् कृत्यप्रत्यय) + आ **दुरधिगमा सिद्धिः यस्य स तथाभूते** (व० ब्री) = जिसमें सफलता कठिनाई से मिलने योग्य है ऐसे आरम्भ=

---

५६ **राजा**—वह किस तरह ?

५७ **विदूषक**—(कान में) इस तरह।

५८ **राजा**—वाह मित्र, तुमने बड़ी चतुराई से कार्य आरम्भ किया है। अब तो बनने में कठिन होते हुए भी इस कार्य में हमारी आशा बँध रही है, क्योंकि :—

जिस मनुष्य का कोई सहायक हो, वही विघ्न-बाधा वाले कार्य को बना सकता है; आँख वाला भी होता हुआ मनुष्य बिना दीपक के देखने की वस्तु को नहीं देख पाता है ॥ ९ ॥

५९ (नेपथ्ये) अलमलं बहु विकत्थ्य। राज्ञः समक्षमेवावयोरवरोत्तरव्यक्तिर्भविष्यति।

कार्य में। आशंसामहे = आ + √शंस् (भ्वा० कहना) लट् उ० पु० एकव० = हम आशा करते हैं।

अर्थमित्यादि—अन्वयः—सहायवान् एव सप्रतिबन्धम् अर्थम् अधिगन्तुं प्रभुः; सचक्षुः अपि दीपेन विना तमसि दृश्यं न पश्यति [आर्या]

सहायः अस्य अस्तीति सहाय + मत् = सहायवान्, सहायक या साथी वाला मनुष्य ही। **प्रतिबन्धेन सह वर्तमानः** (व० व्री०) **तादृशम्**=प्रतिबन्धक, विघ्न-बाधा वाले कठिन। **अर्थम्** = वस्तु को। **अधिगन्तुम्** = अधि + √गम् (भ्वा० जाना) + तुम् = प्राप्त करने को। **प्रभुः** = समर्थ होता है। कोई भी कार्य क्यों न हो, विना सहायक के वह बनता नहीं है। प्रकृत में प्राप्तव्य वस्तु मालविका का साक्षात्कार और बाद को उसकी प्राप्ति है। इसमें दोनों रानियाँ प्रतिबन्धक हैं। भला कौन ऐसी नारी है, जो सपत्नी चाहे। परन्तु अपने चतुर 'कामतन्त्र-सचिव' गौतम की सहायता से राजा सभी बाधाओं को दूर करके अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर ही लेते हैं। इस बात को कवि दृष्टान्त द्वारा बतलाता है। **सचक्षुः = चक्षुषा सह वर्तमानः सचक्षुः** (व० व्री०)=आँख वाला होता हुआ भी (मनुष्य) **दीपेन विना** = विना दीपक के। **तमसि** = तमस् (अन्धकार) का सप्त० एक व० अन्धकार में। **दृश्यम् = द्रष्टुं योग्यम्**√दृश् (भ्वा० देखना) + य (कृत्यप्र०) देखने योग्य (वस्तु) को। **न पश्यति** = नहीं देखता है। दीपक से अभिप्रेत यहाँ सहायक है। ऐसे ही भाव के लिए देखिए महाभारत = यदप्यल्पतरं कार्यं तदप्येकेन दुष्करम्। पुरुषेणासहायेन किमु राज्यं पितामह!।१२।८०।१।

५९ अलम्=यह अव्यय क्त्वा और ल्यप् के साथ निषेध अर्थ में आता है।

(नेपथ्य में)

५९—(बस-बस, बहुत डींग मत हाँको। राजा के सामने ही यह प्रकट हो जायगा कि हम दोनों में से कौन घटकर और कौन बढ़कर है।)

६० राजा—सखे, त्वत्सुनीतिपादपस्य कुसुममुद्भिन्नम्।

६१ विदूषकः—फलं वि दक्खिस्ससि। [फलमपि द्रक्ष्यसि।]

बहु (क्रियावि०) = बहुत। विकत्थ्य = वि + √कत्थ् (भ्वा० डींग मारना) + य (क्त्वा को ल्यप्) डींग मत हाँको। निषेध को जोरदार बनाने के लिए 'अलम्' दो बार कहा गया है। समक्षम्=सामने। आवयोः अधरो०=अधरश्च उत्तरश्च (कर्मधा०) तयोः व्यक्तिः (प० तत्पु०) हम दोनों में से कौन छोटा और कौन बड़ा यह प्रकट भविष्यति=√भू (भ्वा० होना) + लृट् प्र० पु० ए० हो जायगा। नेपथ्य के कोलाहल से पता चलता है कि किन्हीं दो में संघर्ष छिड़ गया है जो भावी प्रतियोगिता का पूर्वाभ्यास है।

६० त्वत्०=सुष्ठु नीतिः सुनीतिः तव सुनीतिः एव पादपः (कर्मधा०) तस्य=तुम्हारी सुन्दर नीति-रूपी वृक्ष का। कुसुमम्=फूल। उद्भिन्नम्=उत्+√भिद् (रु० फोड़ना) + त (क्त कर्तरि) फूट पड़ा है। विदूषक ने अन्तःपुर में दो नाट्याचार्यों के मध्य संघर्ष का बीज बो दिया था यह कहकर कि उनमें से एक दूसरे की नृत्य-कला की निन्दा किया करता है। धीरे-धीरे वह बीज वृक्ष बनकर फूलने लगा है।

६१ फलम्......०सि=फल भी देख लेंगे। फल से अभिप्राय है मालविका का साक्षात्कार, क्योंकि मालविका गणदास की शिष्या है। प्रतियोगिता में अपनी शिष्या का नृत्य दिखाने जब गणदास रंगमंच पर लायेगा, तो मालविका को राजा प्रत्यक्ष देख ही लेंगें जिसके लिए विदूषक ने यह सारा षड्यन्त्र रचा है।

---

६० राजा—(सुनकर) मित्र, तुम्हारी सुन्दर नीति के वृक्ष पर फूल तो फूट पड़ा है।

६१ विदूषक—थोड़े समय बाद आप फल भी देख लेंगे।

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

६२ कञ्चुकी—देव अमात्यो विज्ञापयति। अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा। एतौ पुनर्हरदत्तगणदासौ—

उभावभिनयाचार्यौ परस्परजयोद्यतौ।
त्वां द्रष्टुमिच्छतः साक्षाद्भावाविव शरीरिणौ ॥१०॥

६३ राजा—प्रवेशय तौ।

---

६२ कञ्चुकी—राजाओं के अन्तःपुर में रहने वाला एक विशेष पात्र हुआ करता है। वह जाति का ब्राह्मण और गुणी वृद्ध पुरुष होता है। लम्बा चोगा (कञ्चुक) पहने रहने से ही उसको कञ्चुकी कहते हैं; देखिए नाट्य-शास्त्र—अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते॥ विज्ञापयति=सूचना देते हैं। अनुष्ठिता=कर ली है। प्रभोः आज्ञा=आपकी आज्ञा।

उभावित्यादि—अन्वयः—साक्षात् शरीरिणौ भावौ इव परस्परजयोद्यतौ उभौ अभिनयाचार्यौ त्वां प्रष्टुम् इच्छतः। (अनुष्टुभ्)

साक्षात् (अव्यय)=प्रत्यक्ष। शरीरम् अनयोः अस्तीति=शरीरम् + इन् (मतुवर्थ) प्र० द्वि० शरीर धारण किए। भावौ=हृदय के दो भाव, दो आंतरिक

(तदनन्तर कञ्चुकी आता है)

६२ कञ्चुकी—महाराज! मंत्री जी कहते हैं कि आपकी आज्ञा पालन कर ली है। किन्तु ये हरदत्त और गणदास—

दोनों के दोनों नाट्याचार्य एक दूसरे को जीतने के लिए कमर कसे हुए आप से मिलना चाहते हैं। वे ऐसे लग रहे हैं जैसे कि शरीर धारण किए प्रत्यक्ष (नाट्य के) दो भाव हों ॥१०॥

६३ राजा—दोनों को लिवा लाओ।

६४ कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रम्य पुनस्ताभ्यां सह प्रविश्य) इत इतो भवन्तौ ।

६५ हरदत्तः (राजानमवलोक्य)—अहो दुरासदो राजमहिमा । तथाहि

न च न परिचितो न चाप्यगम्य-
श्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य ।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे
भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः ॥११॥

बत्तियाँ । देखिए अमरकोश—'विकारो हृद्गतो भावः' । परस्परस्य जयः (ष० त०) तस्मिन् उद्यतौ (स० तत्पु०)=एक दूसरे को जीतने के लिए कमर कसे हुए, एक दूसरे को हराने की ठाने हुए । अभिनयस्य आचार्यौ (ष० तत्पु०)=नाट्याचार्य । त्वाम्...तः=आपसे मिलना चाहते हैं । देखिए कालिदास भी छायावादी कवियों की तरह मूर्त को अमूर्त से तुलना किया करते थे ।

६५ दुरा० = दुःखेन आसादयितुं योग्यः दुर् + √आसाद् (चु० प्राप्त करना) + अ (खल् कृत्य प्र०) कठिनता से जिसके पास जाया जाय । राजा एक तेजस्वी पुरुष होता है, इसलिए उसके आगे जाने में हर एक को डर लगता है । राज० राज्ञः महिमा (ष० तत्पु०) राजा की महिमा, तेज, प्रभाव, रोब । महिमा महिमन् शब्द का प्र० ए० व० पुंल्लिंग है यद्यपि हिन्दी में स्त्रीलिंग है ।

---

६४ कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा । (बाहर जाकर दोनों को साथ लिए आकर) इधर-इधर से (आइए) आप लोग ।

६५ हरदत्त—(राजा को देख कर) ओहो, राजा का तेज भी कैसा होता है कि पास में जाना कठिन हो रहा है, क्योंकि—

ये मेरे परिचित न हों सो बात नहीं, और न हो यह बात है कि मैं इनके पास न जा सकूँ, फिर भी इनके पास जाते हुए मुझे भय-सा लगता है; समुद्र की तरह क्षण-क्षण में ये वही मेरी आँखों के प्रति नये-नये हो रहे हैं ॥११॥

६६ गणदासः—महत् खलु पुरुषकारमिदं ज्योतिः । तथा हि—

न चेत्यादि—अन्वयः—(अयं) च न परिचितः इति न, अपि च अगम्यः (इति) न; तथापि अस्य पार्श्वं चकितम् उपैमि; स एव अयं सलिलनिधिः इव मे अक्ष्णोः प्रतिक्षणं नवः नवः भवति । (पुष्पिताग्रा)

न च न परि० = परिचित न हों, ऐसी बात भी नहीं अर्थात् भलीभाँति परिचित ही हैं । दो निषेधार्थक नञ् विधि को बल देते हैं । **न च अगम्यः** = **न गन्तुं योग्यः** √गम् (भ्वा० जाना) + य (कृत्य प्र०) न पास जाने योग्य हों, यह बात भी नहीं **चकितम्** (क्रियावि०) भय के साथ, भयभीत-सा, हिचकता-सा । **उपैमि** = उप + √इण (अ० जाना) लट्० उ० पु० ए० पास जा रहा हूँ । हरदत्त के कहने का आशय यह है कि यद्यपि महाराज उसके नित्य के जाने-पहचाने हुए हैं और वह उनके पास आया-जाया भी करता है, फिर भी उनका राजकीय तेज हृदय में एकदम भय और हिचक पैदा कर देता है, जिससे वह उनके सामने घबराए बिना नहीं रहता । **सलिलस्य निधिः** (प० त०) इव = समुद्र की तरह । **अक्ष्णोः**=आँखों में । **क्षणे क्षणे इति प्रतिक्षणम्** (अव्ययी०) = क्षण-क्षण में, पल-पल में । **नवः नवः** = नया-नया, अर्थात् रात-दिन के देखे हुए भी राजा उसके आगे क्षण-क्षण में नये-नये से लगते हैं जैसे कि समुद्र । समुद्र हमारा देखा हुआ रहता है लेकिन हमारे हृदय में उसे फिर-फिर देखने की उत्सुकता बनी रहती है और यही एक ऐसी बात है जो किसी भी वस्तु में सौन्दर्य-तत्त्व पैदा करती हैं । माघ के शब्दों में 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' अर्थात् जो वस्तु क्षण-क्षण में नई-नई बनती रहती है, वही सौन्दर्य का रूप होता है । इससे सिद्ध होता है कि राजा के व्यक्तित्व में जहाँ एक ओर तेज है, वहाँ दूसरी ओर सौन्दर्य भी है ।

---

६६ **गणदास**—पुरुष के आकार में यह सचमुच एक बड़ा तेज है, क्योंकि —

द्वारे नियुक्तपुरुषानुमतप्रवेशः
सिंहासनान्तिकचरेण सहोपसर्पन्।

६६ पुरु० = पुरुषस्य आकारो यस्य तत् तादृशम् (ब० व्री०) यह ज्योतिः का विशेषण है। ज्योति तेज को कहते हैं और यह षान्त नपुंसकलिंग है। राजा का शरीर ऐसा तेज वाला है कि गणदास को वे स्वयं पुरुषाकार एक ज्योति-पिण्ड प्रतीत हुए।

द्वारे इत्यादि—अन्वयः—द्वारे नियुक्त-पुरुषानुमत-प्रवेशः सिंहासनान्तिकचरेण सह उपसर्पन् (अहं) अस्य विनिवर्तित-दृष्टि-पातैः तेजोभिः वाक्यात् ऋते पुनः प्रतिवारित इव अस्मि। [वसन्ततिलका]

द्वारे नियुक्त० = नियुक्तः पुरुषः (कर्मधारय) तेन अनुमतः (तृ० त०) प्रवेशो (कर्मधारय) यस्य सः (ब० व्री०) तादृशः = दरवाजे पर नियुक्त पुरुष (द्वारपाल) ने जिसे भीतर जाने की अनुमति दे रखी है। यहाँ 'नियुक्त-पुरुष शब्द 'द्वारे' से सम्बन्ध रखता है, इसलिए द्वार-सापेक्ष होने से पाणिनि-नियमानुसार यहाँ समास नहीं होना चाहिए था, किन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि के 'सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः' इस कथनानुसार कहीं-कहीं सापेक्षता में भी समास हो जाता है, जैसे—देवदत्तस्य गुरुकुलम्। अतः विशेष आपत्ति की बात नहीं। कालिदास ने अपने अन्य ग्रन्थों में भी ऐसे बहुत से 'असमर्थ' समास कर रखे हैं। सिंहा०=सिंहाङ्कितम् आसनम् सिंहासनम् (मध्यम-पदलोपी तत्पु० समास) सिंहासनस्य अन्तिके (ष० त०) चरतीति √चर् (भ्वा० चलना) = अच् तेन = राजा के सिंहासन के पास रहने वाले व्यक्ति (कञ्चुकी) के साथ। उपसर्पन् = उप √ + सृप् (भ्वा० जाना) + शतृ प्र० ए० = पास जाता हुआ। अस्य=इस राजा के। विनि०=विनिवर्तितः दृष्टिपातः यैः तादृशैः (बहुव्रीहि) वि + नि + √वृत् (भ्वा० होना) + णिच् + त (क्त कर्मणि) विनिवर्तितः= लौटा दिया है दृष्टेः पातः (ष० तत्पु०) आँखों का प्रक्षेप जिन्होंने; जो आँखों

(यद्यपि) द्वारपाल ने मुझे (भीतर) आने की आज्ञा दे रखी है और मैं राजा के सिंहासन के पास रहने वाले व्यक्ति (कञ्चुकी) के साथ आ रहा हूँ, फिर

तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टिपातै-
र्वाक्यादृते पुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि ॥ १२ ॥

६७ कञ्चुकी—एष देवः । उपसर्पतां भवन्तौ ।

६८ उभौ (उपसृत्य)—विजयतां देवः ।

को लौटा देते हैं, अर्थात् आँखों को चौंधियाने वाले । तेजोभिः = प्रभावों से । वाक्यात् ऋते=वाक्य के विना अर्थात् विना कहे; ऋते (विना) के योग में पंचमी होती है । पुनः प्रतिवारित इव = प्रति + √वृञ् (चुरा०—रोकना, ढकना)+ त (क्त) रोका हुआ-सा । अस्मि = हूँ । हरदत्त की तरह गणदास भी राजा के तेज से प्रभावित हुए अपने को ऐसा अनुभव कर रहा है कि उनकी आँखों को चौंधियाने वाला राजा का तेज मानो उसे फिर उनके पास जाने से रोक रहा हो । एक वार तो द्वारपाल ने उसे पहले द्वार पर रोक लिया था, किन्तु उसकी अनुमति से वह भीतर गया ही था कि राजा का तेज भी फिर उसे रोकता हुआ-सा लगा । हरदत्त और गणदास का अनुभव इस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर प्रकाश डालता है कि कोई भी आगन्तुक किसी राजा-महाराजा अथवा महापुरुष के तेज के आगे घबरा-सा जाता है । प्रकृत में यह बात अग्निमित्र के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करती है, जो तेज-पूर्ण था ।

६७ उपसर्पताम् = उप + √सृप् (भ्वा० जाना) + लोट् प्र० पु० द्वि०= आगे बढ़िए, पास जाइए । कञ्चुकी के इन वचनों से पता चलता है कि दोनों नाट्याचार्य राजा के तेज से चौंधिया कर कुछ दूरी पर ही खड़े हो गए, आगे न जा सके ।

भी ऐसा लगता है मानो आँखों को चौंधियाने वाले राजा के तेज द्वारा मैं विना कहे ही फिर रोक दिया गया हूँ ॥ १२ ॥

६७ कञ्चुकी—ये महाराज हैं, आप दोनों आगे बढ़ जाइए ।

६८ दोनों—(आगे बढ़कर) महाराज की जय हो ।

६९ राजा—स्वागतं भवद्भ्याम् (परिजनं विलोक्य) आसने तावदत्र-भवतोः । (उभौ परिजनोपनीतयोरासनयोरुपविष्टौ) किमिदं शिष्योपदेशकाले युगपदाचार्ययोरुपस्थानम् ।

७० गणदासः—देव, श्रूयताम् । मया सुतीर्थादभिनयविद्या शिक्षिता । दत्तप्रयोगश्चास्मि । देवेन देव्या च परिगृहीतः ।

---

६९ स्वागतम् = सु + आ + √गम् (भ्वा० जाना) + त (भावे)। भवद्भ्याम् = भवत् शब्द का च० द्वि व० । आसने = द्वि० द्वि व०, यहाँ 'आनयत' यह क्रिया-शब्द गम्य है। अपना व्यक्तित्व भूल कर राजा का स्वयं नौकर-चाकरों को नाट्याचार्यों के लिए आसन लाने को कहना—इस बात का द्योतक है कि राजा का उनके लिए बड़ा मान है, साथ ही इससे राजा की अधीरता भी व्यक्त होती है कि कब इन दोनों नाट्याचार्यों की प्रतियोगिता होवे और कब वे उसमें मालविका को देख पायें। परिजनो० = परिजनैः उपनीते (तृ० त०) तयोः = नौकर-चाकरों द्वारा लाये हुए। आसनयोः = आसीदन्ति अस्मिन् आ + √सद् (भ्वा०—बैठना) + अन (ल्युट् अधिकरणे) सप्त० द्वि व० = आसनों पर। उपविष्टौ=उप + विश् (तु० बैठना) + त (क्त कर्तरि) द्वि० द्वि व०। शिष्यो० = शिष्येभ्यः उपदेशः (च० तत्पु०) तस्य काले (ष० तत्पु०) = शिष्यों को पढ़ाने-सिखाने के समय में। उप + √स्था (भ्वा० ठहरना) + अन (ल्युट् भावे) उपस्थानम् = उपस्थित होना।

७० श्रूयताम् = √श्रु + (भ्वा० सुनना) लोट् प्र० ए० व०

---

६९ राजा—आप दोनों का स्वागत है। (नौकरों को देखकर) आप दोनों के लिए आसन लाओ। (नौकरों द्वारा लाये हुए आसनों पर दोनों बैठ जाते हैं) यह क्या बात है कि इस समय जब कि आपको शिष्यों को पढ़ाना-सिखाना चाहिए था, आप दोनों आचार्य एक साथ आ पहुँचे हैं ?

७० गणदास—सुनिए महाराज ! मैंने सुयोग्य गुरु से अभिनय-विद्या सीखी है और उसकी शिक्षा भी दे रहा हूँ। महाराज और महारानीजी ने मुझे अपनाया हुआ भी है।

७१ राजा—दृढं जाने। ततः किम्।

७२ गणदास—सोऽहममुना हरदत्तेन प्रधानपुरुषसमक्षमयं न मे पादरजसापि तुल्य इत्यधिक्षिप्तः।

७३ हरदत्तः—देव, अयमेव मयि प्रथमं परिवादकरः। अत्रभवतः

(कर्मवाच्य) सुनिए। **सुतीर्थात्** = सुष्ठु तीर्थं सुतीर्थं तस्मात् (प्रादितत्पु०) अच्छे गुरु से। तीर्थ गुरु को भी कहते हैं, देखिए अमरकोश—'तीर्थमृषि-जुष्टे जले गुरौ'। **अभिनयस्य विद्या** (ष० त०) नाट्य-विद्या। **शिक्षिता**=सीखी। **दत्त०**= दत्तः प्रयोगो येन स तथोक्तः (ब० व्रीहि) जिसने प्रयोग = क्रियात्मक शिक्षा (Practical Traning) भी दे रखी है, अर्थात् न केवल शास्त्रीय ज्ञान (theory), बल्कि प्रयोगात्मक रूप (Practical) में भी निपुण हूँ। **परिगृहीत** = परि √ग्रह् (क्र्या० लेना) + त (क्त कर्मणि) अपनाया हुआ हूँ, अर्थात् अपने यहाँ नौकर रखा है।

७१ **दृढम्** (क्रियावि०) = अच्छी तरह, निश्चय-पूर्वक।

७२ **सः अहम्** = ऐसा जो मैं हूँ, अर्थात् जिसने अच्छे गुरु से शिक्षा पा रखी है, जो पढ़ा-सिखा रहा भी है और राज-संरक्षण भी प्राप्त किये हुए हैं। **प्रधान०** = प्रधानाश्च ते पुरुषाः (कर्मधारय) तेषां समक्षम् (ष० तत्पुरुष) बड़े-बड़े लोगों, मुख्य कर्मचारियों के आगे। **पाद०**=पादयोः रजः तेन (षष्ठी तत्पुरुष) पैरों की धूल के। **तुल्यः** = बराबर। **अधिक्षिप्तः** = अधि + √क्षिप् (तु० फेंकना) त (क्त कर्मणि) अपमानित किया।

७३ **अयम् एव**=यही। **परिवादकरः**=परिवादं करोति तच्छीलः परिवाद + √कृ (त० करना) अ + (ट कर्तरि) निन्दा करने वाला।

---

७१ **राजा**—वह तो मैं अच्छी तरह जानता ही हूँ, फिर क्या ?

७२ **गणदास**—मुझे इस हरदत्त ने बड़े-बड़े लोगों के सामने यह कहकर अपमानित किया है कि यह तो मेरे पैरों की धूल के बराबर भी नहीं है।

७३ **हरदत्त**—नहीं महाराज, इन्होंने ही पहले मेरी यों निन्दा की है कि

किल मम च समुद्रपल्वलयोरिवान्तरमिति । तदत्रभवानिमं मां च शास्त्रे प्रयोगे च विमृशतु । देव एव नौ विशेषज्ञः प्राश्निकः ।

७४ विदूषकः—समत्थं पडिण्णादं । [समर्थं प्रतिज्ञातम् ।]

अत्रभवतः=इन महाराज का (व्यङ्ग्य रूप से) समुद्र०=समुद्रश्च पल्वलश्च समुद्र-पल्वले (द्वन्द्व) तयोः=समुद्र और तलैया का अर्थात् आकाश-पाताल का। यहाँ वाक्य-निर्माण में कुछ गड़बड़ी है । 'अत्रभवतः' से हरदत्त अभिप्रेत है, तो उसके साथ यथाक्रम सम्बन्ध जोड़ने के लिए पहले पल्वल शब्द और मम (गणदास) से सम्बन्ध जोड़ने के लिए बाद को 'समुद्र' शब्द आना चाहिए था, क्योंकि ये गणदास के शब्द हैं कि मैं तो समुद्र हूँ और मेरे आगे हरदत्त एक छोटी-सी तलैया है। तत् अत्रभवान् इमं मां च=इसलिए आप इन्हें और मुझे। शास्त्रे प्रयोगे च=शास्त्र, आगम, अथवा सिद्धान्त (Theory) को कहते हैं और प्रयोग क्रियात्मक ज्ञान (Practical) को । विमृशतु=वि + √ मृश् (तु० विचार करना) लोट प्र० ए० व० विचार करें=हम दोनों का निर्णय करें कि विद्या और प्रयोग में कौन बड़ा और कौन छोटा है। विशेषज्ञः=विशेषं जानातीति विशेष + √ज्ञा (क्र्या० जानना) + अ (कर्तरि) विशेष जानकारी रखने वाला, आलोचक । प्राश्निकः=प्रश्ने नियुक्तः प्रश्न + अक 'तत्र नियुक्तः' (४।४। ६८) इस पाणिनि-नियम से टिठन्=पूछने के लिए नियुक्त,, परीक्षक, निर्णायक (Judge) इससे पता चलता है कि अग्निमित्र स्वयं नृत्य और अभिनय-कला का विशेषज्ञ था।

७४ समर्थम्=युक्तियुक्त, ठीक । प्रतिज्ञातम्=कहा है, सुझाव दिया है।

मुझमें और इसमें तो समुद्र और तलैया का अन्तर है । इसलिए आप ही मेरे और इनके शास्त्र-ज्ञान तथा उसके प्रदर्शन पर विचार करें। आप विशेषज्ञ हैं, इसलिए हमारे परीक्षक बनें।

७४ विदूषक—ठीक ही कहा है।

७५ गणदासः—प्रथमः कल्पः । अवहितो देवः श्रोतुमर्हति ।

७६ राजा—तिष्ठतु तावत् । पक्षपातमत्र देवी मन्येत । तत्तस्याः पण्डित-कौशिक्या-सहितायाः समक्षमेव न्याय्यो व्यवहारः ।

७७ विदूषकः— सुट्ठु भवं भणाइ । [सुष्ठु भवान् भणति ।]

---

७५ प्रथम· कल्पः=सबसे बढ़िया सुझाव, बड़ा अच्छा विचार । 'प्रथम' शब्द यहाँ 'उत्तम' अर्थ का वाचक है । अवहितः=अव + √ धा (अ० धारण करना त (क्त कर्तरि) सावधान, ध्यानपूर्वक । श्रोतुम् अर्हति=सुनने योग्य है, सुनिएगा ।

७६ पक्षपातम्=झुकाव, तरफदारी । मन्येत=√मन् (दि० मानना) + वि० लिङ् प्रथम पुरुष ए० माने, समझे अर्थात् अकेले मैं ही निर्णय दूँगा तो महारानी धारिणी इसे पक्षपात समझेंगी । ध्यान रहे कि गणदास धारिणी की तरफ से मालविका को नृत्य सिखाने के लिए नियुक्त है जबकि हरदत्त महारानी इरावती को नृत्य सिखाता है। वैसे राजा को जब किसी मामले पर विचार करना होता है तब धर्मशास्त्रानुसार सलाह के लिए विद्वान् ब्राह्मणों को भी साथ रखने का विधान है ही, देखिए याज्ञवल्क्य-स्मृति—'व्यवहारान् नृपः पश्येद् विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह' । किन्तु नाट्याचार्यो के इस झगड़े में तो राजा को अपने को बिल्कुल ही तटस्थ दिखाना है जिससे किसी को भी यह पता न लग जाय कि इसमें उसकी दिलचस्पी है । देखिए किस चतुरता के साथ राजा अपना काम बना रहा है । पण्डित० = पण्डित चासौ कौशिकी (कर्मधा०) तया सहिता याः (तृ० तत्पु०) = पण्डित कौशिकी-सहित । पण्डित

---

७५ गणदास—हाँ, सबसे अच्छा सुझाव है महाराज सावधान होकर सुनें ।

७६ राजा—अभी ठहरो ! महारानी समझेंगी कि हमने इस मामले में पक्षपात किया है, इसलिए पण्डित कौशिकी सहित महारानी के सामने ही इस मामले पर विचार करना ठीक रहेगा ।

७७ विदूषक—आप ठीक कहते हैं ।

७८ आचार्यौ—यद्देवाय रोचते ।

७९ राजा—मौद्गल्य, अमुं प्रस्तावं निवेद्य पण्डितकौशिक्या सार्धमाहूयतां देवी ।

८० कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रम्य सपरिव्राजिकया देव्या सह प्रविश्य) इत इतो देवी ।

कौशिकी अन्तःपुर में रहने वाली एक परिव्राजिका है । वास्तव में पण्डित कौशिकी माधवसेन के मन्त्री सुमति की बहिन है और वह रानी के साथ परिव्राजिका (संन्यासिन) का वेश बना कर रह रही है । इस रहस्य का उद्घाटन आगे पाँचवें अंक में होगा । तस्याः समक्षमेव=रानी के सामने ही । न्याय्यः = न्यायात् अनपेतः न्याय + य (पा० ४।४।९२) । न्याययुक्त, उचित । व्यवहार = मामला, विवाद अर्थात् निर्णय ।

७८ रोचते = √रुच् (भ्वा० अच्छा लगना)+लट् प्रथम पुरुष ए०, अच्छा लगता है । ध्यान रहे कि इस धातु के योग में चतुर्थी विभक्ति आती है ।

७९ मौद्गल्य—यह कञ्चुकी का नाम है । अमुम् = यह अदस् (इस) शब्द का प्र० द्वि० एक व० का रूप है । प्रस्तावम् = प्र + √ष्टुञ् (अ० स्तुति करना) + घञ् प्रस्ताव, सुझाव (Proposal) को निवेद्य=सूचित करके । आहूयताम् = आ + √ह्वे (भ्वा० बुलाना) + लोट् प्र० पु० ए० (कर्मवा०) ।

---

७८ दोनों आचार्य—जैसा महाराज ठीक समझें ।

७९ राजा—मौद्गल्य, यह (सब) वृत्तान्त कहकर पण्डित कौशिकी सहित महारानी को बुला लाओ ।

८० कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा । (जाकर परिव्राजिका सहित महारानी के साथ आ जाता है) इधर से, इधर से महारानीजी !

८१ देवी (परिव्राजिकां विलोक्य)—**भअवदि हरदत्तस्स गणदासस्स अ संरम्भे कहं पेक्खसि।** [(परिव्राजिकां विलोक्य) भगवति, हरदत्तस्य गण-दासस्य च संरम्भे कथं पश्यसि।]

८२ परिव्राजिका—**अलं स्वपक्षावसादशङ्कया। न परिहीयते प्रति-द्वन्द्विनो गणदासः।**

---

८१ **भगवति**—भगम् अस्य अस्तीति भग + मतुप् भगवान् स्त्रीलिंग में भगवति; यह सम्बोधन है। भग ऐश्वर्य को कहते हैं और ऐश्वर्य वाले व्यक्तियों को भगवत् शब्द से सम्बोधित करते हैं, जैसे—भगवान् कृष्ण, भगवान् बुद्ध इत्यादि और उच्च स्त्रियों को भगवती; जैसे—भगवती दुर्गा आदि। अंग्रेजी में इसका पर्याय Your Holiness है। **संरम्भे** = सम्√रभ् (भ्वा० आरम्भ करना) + अ (भावे) संघर्ष में, विवाद में, झगड़े में अर्थात् इस प्रतियोगिता में आप किसको हार और किसकी जीत समझती हैं।

८२ **स्वपक्ष० = स्वस्या पक्षः स्वपक्षः तस्य अवसादः तस्य शङ्का तया** (ष० तत्पु०) = अपने पक्ष (Party) अर्थात् गणदास के गिरने-हारने की शंका नहीं करनी चाहिए। **अलम्** (अव्यय) यहाँ निषेधार्थक है और इसके योग में तृतीया विभक्ति होती है। **परिहीयते** = परि + √हा (जु० छोड़ना) + लट प्र० पु० एकव० कर्मणि = कर्म है। **प्रतिद्वन्द्विनः=द्वौ-द्वौ इति द्वन्द्वम्, द्वन्द्वम् अस्य अस्तीति द्वन्द्वी, प्रतिगतः द्वन्द्वी प्रतिद्वन्द्वी, तस्य** (प्रादि-तत्पु०) प्रतियोगी = प्रतिपक्षी, विरोधी से। परिव्राजिका संस्कृत बोल रही है। स्त्री-पात्रों के लिए प्राकृत बोलने का नियम अपवाद-स्वरूप साधुनी, संन्यासिनी तथा उच्चस्तर की

---

८१ **देवी**—(परिव्राजिका को देख कर) भगवती! हरदत्त और गणदास के बीच जो झगड़ा छिड़ पड़ा है, उसके सम्बन्ध में आपका क्या विचार है?

८२ **परिव्राजिका**—आप अपने पक्ष के हारने की शंका ही न कीजिए। गणदास अपने प्रतिद्वन्द्वी से (किसी भी तरह) कम नहीं है।

८३ देवी—जइ वि एव्वं तह वि राअपरिग्गहो से पहाणत्तणं उव-हरइ। [यद्यप्येवं तथापि राजपरिग्रहोऽस्य प्रधानत्वमुपहरति।]

८४ परिव्राजिका—अयि राज्ञीशब्दभाजनमात्मानमपि तावच्चिन्तयतु भवती। पश्य

महिलाओं को छोड़ कर ही समझना चाहिए। देखिए—साहित्यदर्पण-संस्कृतं संप्रयोक्तव्यं लिङ्गिनीषूत्तमासु च ॥६/८३॥

यद्यप्येवम् = यदि + अपि + एवम्। **राज०** = राज्ञः परिग्रहः (षष्ठी तत्पुरुष) = राजा का अनुग्रह, संरक्षण, अर्थात् राजा द्वारा अपनाया जाना। **प्रधानस्य भावः प्रधानत्वम्** = प्रधानता, बड़प्पन, विशेषता। **उपहरति** = दे रहा है। राजा ने रानी इरावती को नृत्य सिखाने हरदत्त को नियुक्त कर रखा था जबकि गणदास रानी धारिणी का नौकर था।

८४ **राज्ञी०** = राज्ञी इति शब्दः (पदम्) तस्य भाजनम् पात्रम् (षष्ठी तत्पुरुष) अर्थात् 'रानी' पद धारण करने वाली। **आत्मानम् अपि** = अपने को भी। **चिन्तयतु** = √चित् (चु० सोचना) लोट् प्रथम पुरुष एकवचन = सोचिए। यदि हरदत्त राजा का आश्रय प्राप्त किये हुए है, तो गणदास आपका और आप भी तो राजा की तरह रानी का उच्चपद ग्रहण किये हुए हैं। अतः आप अपने प्रति और अपने आचार्य गणदास के प्रति किसी तरह का भी हीनम्मन्य-भाव और राजा एवं उनके आचार्य हरदत्त के प्रति श्रेष्ठ-भाव मत रखिए। दोनों आचार्य राजकीय संरक्षण की दृष्टि से बराबर हैं।

---

८३ देवी—यद्यपि यह ठीक है, तो भी राजा द्वारा अपनाया जाना उसे (हरदत्त को) प्रधानता प्रदान कर रहा है।

८४ परिव्राजिका—अजी! आप अपने को भी तो सोचिए कि आप भी महारानी हैं। देखिए :—

अतिमात्रभासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादनलः ।
अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशापरिगृहीतः ॥१३॥

अतिमात्र०-अन्वयः—अनलः भानोः परिग्रहात् अतिमात्र-भासुरत्वं पुष्यति, चन्द्रः अपि निशा-परिगृहीतः (सन्) महिमानम् अधिगच्छति । [आर्या]

अनलः = आग । **भानोः परिग्रहात्** = सूर्य की कृपा से । **अतिमात्रं भासुरत्वम्** = भासते इति भासुरः √भास् (भ्वा० चमकना) + उरच् कर्तरि **भासुरस्य भावः भासुरत्वम्** = बहुत चमकीलापन, चमक **पुष्यति** = + पुष् (दि० पुष्ट करना बढ़ाना) + लट प्र० पु० ए० बढ़ाती है । **निशया परिगृहीतः** (तृ० तत्पु०) = रात्रि द्वारा अनुगृहीत । **महिमानम्** = महत्त्व, चमक, प्रकाश को । **अधिगच्छति** = पा लेता है । यह स्वाभाविक है कि आग दिन को कम चमकती है, किन्तु रात को उसमें बहुत चमक आ जाती है । पर कवि की दृष्टि में इसका कारण है अग्नि पर सूर्य की कृपा । शास्त्रों में कहा गया है कि सूर्य अस्त होने पर अग्नि में प्रवेश कर जाता है, देखिए वेद—'आदित्यो वा अस्तं यन्नग्निं प्रविशति' । दूसरी तरफ, चन्द्रमा भी रात की कृपा से अधिक चमकता है । वास्तव में यह सारा श्लोक अन्योक्ति (Symbolism) है । इसमें किसी वस्तु के सम्बन्ध में सीधा न कह कर परोक्ष-रूप में (Indirectly) ही कहा जाता है । अग्नि और भानु यहाँ हरदत्त तथा राजा के स्थानापन्न है । हरदत्त-रूप अग्नि राजा-रूप भानु के अनुग्रह से प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुये हैं । दूसरी ओर चन्द्रमा और निशा क्रमशः गणदास और महारानी धारिणी के स्थानापन्न हैं । रानी के आश्रय और कृपा से गणदास भी तो कम प्रतिष्ठा प्राप्त किए नहीं है । दोनों के दोनों आचार्य प्रतिष्ठा में बराबर ही हैं । इसलिए कौशिकी रानी को अपने पक्ष (गणदास) के हारने की शंका से रोकती है ।

आग यदि सूर्य की कृपा से (रात को) बहुत चमक उठती है, तो चन्द्रमा भी रात की कृपा से बड़ा प्रकाश पा जाता है ॥१३॥

८५ विदूषकः—अविहा अविहा, उवट्ठिदा पीठमद्दिअं पण्डिअकोसिअं पुरोकदुअ देवी। [अविहा, अविहा, उपस्थिता पीठमर्दिकां पण्डितकौशिकीं पुरस्कृत्य देवी।]

८६ राजा—पश्याम्येनाम्, यैषा—

मङ्गलालंकृता भाति कौशिक्या यतिवेषया।
त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया ॥१४॥

---

८५ अविहा—यह एक अव्यय है, जिसको सावधान होने के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। विदूषक राजा को सावधान कर देता है कि अब वे ऐसी कोई बात न करें जिससे रानी को कोई सन्देह हो। **पीठमर्दिका**=पीठमर्द शब्द का स्त्रीलिंग है। पीठमर्द नायक का सहायक (Personal assistant) होता है और नायक को सभी कार्यों विशेषतः प्रेम-व्यापारों में सहायता देता रहता है। यहाँ कौशिकी रानी की पीठमर्दिका है। वास्तव में वह साधुनी के वेश में मालविका के हितों की रक्षार्थ रानी के पास रह रही है और यही सोचती रहती है कि किसी तरह मालविका का राजा के साथ विवाह हो जाय। **पुरस्कृत्य** = आगे करके।

८६ **पश्याम्येनाम्** = पश्यामि+एनाम्। इन्हें मैं देख ही रहा हूँ। या+एषा= ये जो।

मङ्गला०—अन्वयः— मङ्गलालंकृता यति-वेषया कौशिक्या समम् (विग्रहवती) त्रयी विग्रहवत्या अध्यात्मविद्यया (समम्) इव भाति। (पथ्यावक्त्रम्) **मंगलैः अलंकृता** (तृ० त०) मंगल का अर्थ यहाँ माङ्गलिक सौभाग्यीय

---

८५ **विदूषक**—सावधान-सावधान ! महारानी धारिणीजी अपनी साथिन पण्डित कौशिकी को आगे किये हुए इधर आ रही हैं।

८६ **राजा**—हाँ, मैं देख रहा हूँ इन्हें, जो ये—

सौभाग्य-वस्त्रों और आभूषणों से सजी हुई, साधुनी के वेश वाली कौशिकी के साथ ऐसी लग रही हैं जैसी कि साकार अध्यात्म-विद्या के साथ साकार वेदत्रयी हो ॥१४॥

८७ परिव्राजिका (उपसृत्य)—विजयतां देवः ।

८८ राजा—भगवति ! अभिवादये ।

८९ परिव्राजिका—महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयोर्द्वयोः ।

वस्त्राभरण है । सौभाग्य के आभूपणों और वस्त्रों से सजी । यति०=यतेः (परिव्राजकस्य) वेषः इव वेषो यस्याः सा (ब० व्री०) तथाभूतया कौशिक्या समम्=साधुनी का वेष बनाये हुए कौशिकी के साथ । त्रयी=वेद । वेद तीन होते हैं—ऋक्, यजु और साम, इन तीनों के समूह (त्रयः अवयवा यस्य) को त्रयी (Triad) कहते हैं । अथर्ववेद और ही जाति का होने से उक्त वेदों में परिगणित नहीं होता है । 'विग्रहवत्येव' यहाँ दो तरह सन्धिच्छेद होता है—(१) विग्रहवती+एव (२) विग्रहवत्या इव । विग्रह शरीर को कहते हैं । विग्रहः अस्या अस्तीति विग्रहवती=विग्रह+मतुप् ई (स्त्रियाम्)=सशरीर, शरीर धारण किये हुए, साकार, मूर्त । त्रयी के साथ जोड़ने पर विग्रहवती प्रथमा एक वचन है और अध्यात्म-विद्यया के साथ जोड़ने पर विग्रहवत्या तृतीयान्त एकवचन है । अध्यात्म-विद्या वेदान्त-विद्या को कहते हैं । यहाँ कौशिकी के साथ वाली रानी की तुलना अध्यात्म-विद्या के साथ वाली त्रयी से की गई है । रानी तो सांसारिक कामनाओं को संजोये रहने से त्रयी-जैसी है, क्योंकि तीनों वेद कामनावाद से पूर्ण हैं; देखिए गीता—'त्रैगुण्य-विषया वेदाः' । इसके विपरीत कौशिकी वैराग्य-भावना लिये वेदान्त-विद्या है, जिसमें संसार से परे ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश है । शान्तवेश कौशिकी के साथ मंगलालंकृत धारिणी ऐसी लग रही है मानो साकार वेदान्त-विद्या के साथ साकार त्रयी हो ।

८९ महासार०—अन्वयः—महासार-प्रसवयोः सदृश-क्षमयोः धारिणी-भूत-धारण्योः द्वयोः भर्ता शरच्छतं भव । (अनुष्टुप्)

महासार०=इस शब्द में श्लेप है और इसके दो अर्थ हैं । द्विवचनांत

---

८७ परिव्राजिका—(पास आकर) महाराज की जय हो ।

८८ राजा—भगवती ! प्रणाम करता हूँ ।

८९ परिव्राजिका—आप धारिणी और धरा—दोनों के सौ वर्ष

धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम् ॥१५॥

होने से एक अर्थ रानी धारिणी की ओर और दूसरा भूतधारिणी (पृथ्वी) की ओर लगता है—(१) **महान् सारः** = बलं यस्य सः (ब० व्री०) **महासारः तथाभूतः प्रसवः = पुत्रः यस्याः सा** (ब० व्री०)=महाबलवान् पुत्र (वसुमित्र) को जन्म देने वाली (रानी)। (२) **महान् आसारः** = धारासारः (Shower) [क० धा०] **तस्मात् प्रसवः** = धान्यम् (अनाज) [पं० तत्पु०] **यस्याः सा** (ब० व्री०) खूब वृष्टि द्वारा अन्न पैदा करने वाली (पृथ्वी)। **सदृशी क्षमा ययोः ते तथोक्तयोः** (ब० व्री०) धारिणी में क्षमा गुण है जो उसके उच्चपद के सदृश (अनुकूल) है। हम आगे देखेंगे कि धारिणी कितनी उदार हृदय की है और यही कारण है कि वह राजा के द्वारा मालविका के प्रति प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करके नैतिक अपराध किये जाने पर भी उन्हें क्षमा कर देती है। पृथ्वी में भी क्षमा अर्थात् सहिष्णुता है, जो उसके कर्तव्य के अनुरूप है। उसका कर्त्तव्य है प्राणिमात्र को धारण करना; इसीलिए वह भूत-धारिणी, धात्री अथवा धरा कहलाती है। कौशिकी राजा को आशीष देती है आप धारिणी और भूत-धारिणी (पृथ्वी) दोनों के **भर्ता** = भरतीति√भृञ् (भ्वा० भरण-पोषण करना) + तृच् (कर्तरि) = पति, स्वामी। **शरदाम् शतम्** (ष० तत्पु०) = सौ वर्ष तक। यहाँ शतम् को द्वितीया 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इस पाणिनि-नियम से हुई। यदि कोई क्रिया किसी काल अथवा अध्वा (प्रदेश) में लगातार होती हुई बताई जाय, तो कालवाचक और अध्ववाचक शब्दों को द्वितीया हो जाया करती है। **भव** = √भू (भ्वा० होना) + लोट् म० ए० ब०। संस्कृत-कवि राजों को प्रायः

तक स्वामी बने रहें—धारिणी यदि महासार (महाबली) प्रसव (सन्तान = वसुमित्र) को जन्म देने वाली हैं, तो धरा भी महासार प्रसव (महावृष्टि से अन्न पैदा करने वाली) है और धारिणी में यदि (स्वपद के) अनुरूप क्षमा-गुण है, तो धरा में भी (स्वकर्त्तव्य के) अनुरूप सहनशीलता है ॥ १५ ॥

९० देवी—जेदु अज्जउत्तो । [जयत्वार्यपुत्रः ।]

९१ राजा—स्वागतं देव्यै । (परिव्राजिकां विलोक्य) भगवति, क्रियतामासनपरिग्रहः । (सर्वे यथार्हमुपविशन्ति)

९२ राजा—भगवति, अत्रभवतोर्हरदत्तगणदासयोः परस्परविज्ञानसङ्घर्षो जातः । तदत्र भगवत्या प्राश्निकपदमध्यासितव्यम् ।

रानी और पृथ्वी का पति कहा करते हैं, देखिए शकुन्तला नाटक में भी कालिदास यही कहते हैं—परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे ।' समुद्र-रशना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥३।१९॥

९० आर्यपुत्रः—पत्नी द्वारा पति को सम्बोधन करने का शब्द । देखिए नाट्यशास्त्र—'आर्यपुत्रेति सम्बोध्यः पतिः पत्नी-जनेन च' ।

९ आसनस्य परिग्रहः (ष० त०)=आसन-ग्रहण । क्रियताम् √कृ (तु० करना) + लोट् प्र० पु० ए० (कर्मवाच्य)=कीजिए । यथार्हम्=अर्हाम् अनतिक्रम्य (अव्ययी०)=अपनी-अपनी योग्यतानुसार, यथोचित । उपविशन्ति =उप+√ विश् (तु० बैठना) लट् प्र० पु० ब०= बैठ जाते हैं ।

९ परस्पर०=परस्परं विज्ञाने सङ्घर्षः (स० तत्पु०) आपस में विज्ञान, नाट्यकला के सम्बन्ध में विवाद । जातः=√जन् (दि० होना) + त (क्त कर्तरि)=हो उठा है, छिड़ा हुआ है । प्राश्निकस्य पदम् (ष० तत्पु०) परीक्षक, निर्णायक (Judge) का स्थान । अध्यासितव्यम्=अधि+√आस् (अ० बैठना) + तव्यम् (विधि कृदन्त कर्मवाच्य) आस् धातु अकर्मक होने पर भी अधि उपसर्ग लगने से सकर्मक हो जाया करता है (देखिए पाणिनिनियम — अधिशीङ्स्थासां कर्म २।४।४६)

---

९० देवी—आर्यपुत्र की जय हो ।

९१ राजा—महारानी का स्वागत है । (परिव्राजिका को देखकर) भगवती ! आसन ग्रहण कीजिए । (सबके सब यथोचित आसनों पर बैठ जाते हैं ।)

९२ राजा—भगवती ! हरदत्तजी और गणदासजी के मध्य

९३ परिव्राजिका (सस्मितम्)—अलमुपालम्भेन। पत्तने विद्यमानेऽपि ग्रामे रत्नपरीक्षा।

९४ राजा—मा मैवम्। पण्डितकौशिकी खलु भगवती। पक्षपातिनावनयोरहं च देवी च।

---

९३ सस्मितम्=स्मितेन सहितं यथा स्यात् तथा (क्रियावि०)= मुस्करा कर। उपालम्भेन=हँसी-मखौल, ठिठोली (Taunt) पत्तने...... परीक्षा=यह अन्योक्ति है: पत्तने=शहर के। विद्यमाने=√विद् (दि० होना)+ शानच् स० ए० व० (सति सप्तमी Absolute Phrase) रहते हुए। रत्नस्य परीक्षा (ष० तत्पु०) अर्थात् शहर के रहते कौन मनुष्य रत्न की जाँच कराने गाँव को जायगा। पत्तन यहाँ राजा का और ग्राम कौशिकी का स्थानापन्न है। कौशिकी का मतलब यह है कि नाट्य-कला के सभी गुण-दोषों की गहरी परख स्वयं महाराज में है, फिर सांसारिक व्यापारों, नाट्य-संगीत आदि से विरक्त तथा अनभिज्ञ मुझे यह काम सौंपना ठीक नहीं है।

९४ पण्डित०—पण्डिता चासौ कौशिकी (कर्मधा०) = भगवती पण्डित—कौशिकी हैं। पण्डा=नवनवोन्मेषशालिनी सर्वंकषा बुद्धिः संजाता अस्य पण्डा + इतच् = पण्डित + आ (स्त्री०)। कवि यहाँ पण्डित शब्द का कौशिकी शब्द के साथ समास करके गलती कर बैठा है। राजा का मतलब कौशिकी को पण्डिता बताना है, इसलिए उसके पाण्डित्य पर जोर दिया गया

परस्पर (नाट्य —) विज्ञान के विषय में विवाद छिड़ा हुआ है, इसलिए आप निर्णायक का पद ग्रहण कीजिए।

९३ परिव्राजिका—(मुस्करा कर) क्यों बनाते हैं मुझे? शहर के रहते क्या गाँव में कहीं रत्न की परीक्षा हुआ करती है?

९४ राजा—नहीं, नहीं, ऐसा न कहिए कौशिकीजी, आप तो पण्डित है। हम और महारानी तो अपने-अपने आचार्यों के पक्षपाती ठहरे।

९५ आचार्यौ—सम्यगाह देवः। मध्यस्था भगवती गुणदोषौ नः परिच्छेत्तुमर्हति।

९६ राजा—तेन हि प्रस्तूयतां विवादः।

है और साहित्यिक दृष्टि से जिस पद पर जोर (विधेयत्व) हो, उसे समास में नहीं रखते, वह पृथक् ही रहता है और उद्देश्य के बाद आता है। समास कर देने से अथवा पहले रख देने से उसकी विधेयता जाती रहती है। इसे साहित्यिकों ने विधेयाविमर्श दोष कहा है। यहाँ 'भगवती कौशिकी पण्डिता' यों कहना चाहिए था। **पक्षे पततीति तच्छीलः पक्षपाती पक्ष** + √पत् (भ्वा० गिरना) + इन् (कर्तरि) तौ = किसी ओर झुकाव रखने वाले।

९५ **सम्यक्** + आह। आह=√ब्रू (अ० बोलना) + लट् प्र० पु० ए०, ब्रू का विकल्प से 'आह' हो जाता है, देखिए पाणिनि-नियम—३।४।८४। **मध्यस्था—मध्ये तिष्ठतीति** मध्य + √स्था (भ्वा० ठहरना, + अ (क कर्तरि) + आ (स्त्री०) बीच में रहने वाली पक्षपात-रहित, तटस्थ अर्थात् न किसी के रत्ते में, न किसी के मत्ते में। **गुण० = गुणश्च दोषश्च तौ** (द्वन्द्व०) गुण और दोष को। **परिच्छेत्तुम्** = परि + √छिद् (रु० काटना) + तुम् = विश्लेषण करने, परखने, जाँचने को। **अर्हति**—√अर्ह (भ्वा० योग्य होना (deserve,+ लट् प्र० पु० ए०) योग्य हो।

९६ **प्रस्तूयताम्** = प्र + √स्तु (अ० स्तुति करना) + लोट् प्र० पु० ए० (कर्मवाच्य) रखिए, आरम्भ करिए।

---

९५ **दोनों आचार्य**—महाराज ने ठीक कहा है। पक्षपात से रहित भगवती ही हमारे गुण-दोष की जाँच करने योग्य हैं।

९६ **राजा**—तो आरम्भ कीजिए विवाद।

९७ परिव्राजिका—देव ! प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्। किमत्र वाग्व्यवहारेण। कथं वा देवी मन्यते ?

९८ देवी—जइ मं पुच्छसि एदाणं विवादो एव्व ण मे रुच्चइ। [यदि मां पृच्छसि एतयोर्विवाद एव न मे रोचते।]

९९ गणदासः—न मां देवी समानविद्यतः परिभवनीयमनुमन्तुमर्हति।

---

९७ प्रयोग० = प्रयोगः (Practical) प्रधानं यस्मिन् तथाभूतं (ब० ब्री०) वाग्व्य० वाचां व्यवहारः (प० तत्पु०) तेन = बातचीत से। किम् (अव्यय) के योग में तृतीया होती है।

९८ रानी—भाँप गई है, उसे दाल में कुछ काला दीख रहा है, इसलिए वह नहीं चाहती कि विवाद आगे बढ़े, परन्तु उसे विवश होना पड़ रहा है।

९९ समान० = समाना विद्या यस्य सः तथोक्तात् (ब० ब्री०) समान—एक—विद्या वाले से। परिभवनीयम् = परिभवितुं योग्यः परि + √भू + अनीय [विधि कृ०] तम् = हराये जाने योग्य। अनुमन्तुम् = अनु + √मन् [दि० मानना] + तुम् = स्वीकार करने को। अर्हति = योग्य हो। अर्थात् हम दोनों की प्रतियोगिता रुकवा कर लोगों के हृदय में आप यह प्रभाव न जमने दें कि मेरी अपेक्षा हरदत्त बड़ा है और मैं उससे छोटा हूँ। रानी के ना करने में गणदास को यह शंका हुई कि सम्भवतः वह उसे हरदत्त की अपेक्षा छोटा समझ रही है इसलिए वह रानी को विश्वास दिलाता है कि वह हरदत्त से यदि कला

---

९७ परिव्राजिका—महाराज ! नाट्य-शास्त्र में प्रधान बात तो (अभिनय) दिखाने की होती है। इसमें (केवल) बातचीत से क्या होना है ? अथवा महारानी का इस पर क्या विचार है ?

९८ देवी—यदि मुझे पूछती हो, तो इन दोनों का विवाद ही मुझे नहीं भाता है।

९९ गणदास—महारानी ! आप यह न मानें कि मैं अपनी जैसी विद्यावाले से हार खा जाने वाला हूँ।

१०० विदूषकः—होदु देक्खामो उरब्भसंवादं। किं मुहा वेअणदाणेण। [भवतु द्रक्ष्याम उरभ्रसम्पातम्। किं मुधा वेतनदानेन।]

१०१ देवी—णं कलहप्पिओसि [ननु कलहप्रियोऽसि।]

१०२ विदूषकः—मा दाव। अण्णोण्णकलहिदाणं मत्तहत्थीणं एक्कदरस्सिं अणिज्जिदे कुदो उवसमो। [मा तावत्। अन्योन्यकलहितयोर्मत्तहस्तिनोरेकतरस्मिन्ननिर्जिते कुत उपशमः।]

में ऊँचा नहीं, तो नीचा भी नहीं है। वास्तव में रानी के ना करने का कारण था इस विवाद में किसी षड्यन्त्र को सूँघना न कि गणदास को हरदत्त से कम समझना।

१००—द्रक्ष्यामः = √दृश् [भ्वा० देखना] लृट् उ० पु० ब० देखेंगे। उरभ्र० = उरभ्रयोः सम्पातः तम् [प० त०] दो मेढ़ों को परस्पर टक्कर। सम्पातः = सम् +√पत् + अ (घञ् भावे) मेढ़ों से यहाँ गणदास और हरदत्त की ओर संकेत है। नर्म-सचिव होने से विदूषक की भाषा परिहास-पूर्ण होती है। सुधा (अव्यय)=व्यर्थ। वेतनस्य दानं (प० त०) तेन=वेतन—तनख्वाह–देने से। मनोविनोद के लिए लोग मेढ़ों, मुर्गों, बैलों आदि की लड़ाइयों का आयोजन किया करते हैं। मोटी-मोटी वेतन लेने वाले नाट्याचार्यों में भी यदि विनोद की कोई प्रतियोगिता न हो, तो उन्हें वेतन देने से क्या लाभ ? वास्तव में विदूषक का भड़काव अपने पूर्व-चिन्तित षड्यन्त्र के अनुकूल ही है।

१०१ कलह० = कलहः प्रियो यस्य सः (ब० व्री०) = झगड़ा पसन्द करने वाला विदूषक के व्यक्तित्व में कलह-प्रियता जन्म-सिद्ध है। रानी इस पर आक्षेप करती है।

१०२ अन्योन्य० = अन्योन्यम् परस्परम् कलहितयोः=कलहः संजातः

---

१०० विदूषक—हाँ, तो दो मेढ़ों की टक्कर हम देखेंगे; नहीं तो व्यर्थ वेतन देने से क्या लाभ ?

१०१ देवी—तुम्हें तो लड़ाई-झगड़ा देखना ही सुहाता है।

१०२ विदूषक—नहीं (महारानीजी !) ऐसी बात नहीं। दो मस्त

१०३ राजा—ननु स्वाङ्गसौष्ठवाभिनयमुभयोर्दृष्टवती भगवती।

१०४ परिव्राजिका—अथ किम्?

अनयोः इति कलह+इतच् [देखिए पाणिनि-नियम—'तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्' ॥५।२।३६॥]। अन्योन्य-कलहितौ तयोः परस्पर लड़ते-झगड़ते। मत्तौ च तौ हस्तिनौ (कर्मधा०) तयोः = दो मस्त हाथियों में से। एकतरस्मिन् = द्वयोः एकः एक+तर [दो में एक के निर्धारण में 'तर' प्रत्यय] तस्मिन्, एक के। अनिर्जिते = निश्शेषेण जितः=निर् + √जि [भ्वा० जीतना] + त (क्त कर्मणि) न निर्जितः इति अनिर्जितः तस्मिन् = अच्छी तरह न हारने पर। कुतः (अव्यय) = क्यों। उपशमः = शान्ति, चैन हो। विदूषक अपने को रानी द्वारा 'कलह-प्रिय' कहा जाने का विरोध करता है और दोनों नाट्याचार्यों के मध्य विवाद की जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेता हुआ स्वयं उन्हीं दोनों के ऊपर डालता है कि वे स्वयं ही लड़ रहे हैं और तुम्हारे-हमारे बीच-बचाव करने पर भी नहीं रुकेंगे जब तक कि दो मस्त हाथियों की तरह वे एक-दूसरे को पूरी तरह न पछाड़ लेंगे। देखिए किस तरह विदूषक का षड्यन्त्र कच्चे धागों से न बुना जाकर नाट्याचार्यों के अपने दृढ चरित्र पर आधारित है।

१०३ स्वाङ्ग०—सुष्ठु इत्यस्य भावः सौष्ठवम्=सुष्ठु+अण् (भावे) सौष्ठवपूर्णः अभिनयः सौष्ठवाभिनयः (मध्यमपदलोपी समास) अथवा सौष्ठवेन अभिनयः (तृ० त०) स्वाङ्गे-स्वस्मिन् अङ्गे (कर्मधा०) सौष्ठवाभिनयः (सम०

हाथियों में से जब तक कोई एक हार नहीं जाता है, तब तक उन्हें चैन कहाँ?

१०३ राजा—भगवती! आप ने इन दोनों का अपने आप में सुन्दर अभिनय तो देख ही रखा है।

१०४ परिव्राजिका—हाँ, देख तो रखा ही है।

१०५ राजा—तदिदानीमतः परं किमाभ्यां प्रत्याययितव्यम्।
१०६ परिव्राजिका—तदेव वक्तुकामास्मि।

तत्पु०) **तम्**=अपने आप में सुन्दर अभिनय, दोनों आचार्यो का अपने-अपने शरीर द्वारा सुन्दर अभिनय अथवा नृत्य। **उभयोः** = दोनों का। **दृष्टवती**✓दृश् (भ्वा० देखना) तवत् (क्तवत् कर्तरि) + ई (स्त्री०) देख रखा है। राजा का अभिप्राय यह है कि दोनों आचार्यो का स्वयं सुन्दर अभिनय कितने ही बार देख ही रखा है और दोनों के दोनों अपनी-अपनी अभिनय-कला में किसी से कम नहीं हैं, तब निर्णय किया जाय तो किस तरह? इस कथन में राजा का यह छिपा हुआ संकेत है कि दोनों आचार्य अपनी-अपनी शिष्याओं द्वारा उन्हें दी हुई शिक्षा का प्रदर्शन करायें, परन्तु रानी के भय से वे यह प्रस्ताव स्वयं न रखकर परिव्राजिका से रखवाना चाहते हैं।

१०५ **तत् + इदानीं + अतः** = तो अब इससे। **परम्** = आगे, अधिक। **किम् + आभ्याम्** = क्या इन दोनों ने। **प्रत्या०** = प्रति+✓इण् (अ० जाना) + णिच् + तव्यम् = विश्वास दिलाना है अर्थात् दोनों ने जब अपना-अपना अभिनय दिखा ही रखा है, तब वे अपने बढ़कर-घटकर होने का क्या प्रमाण दें। देखिए राजा ने किस चतुराई के साथ विवाद को एक गतिरोध (Dead-lock) बना दिया है, जिसका हल सिवा इसके क्या हो सकता है कि दोनों अपनी-अपनी शिष्याओं द्वारा अपनी सिखाई हुई कला का प्रदर्शन कराएँ।

१०६ **तत् + एव** = वही। **वक्तुकामा** = **वक्तुं कामः यस्याः सा** (ब० व्री०), ✓वच् (ब्रूञ् बोलना) + तुम् + कम् (भ्वा० चाहना) + अ (घञ् भावे) और (तुम् के म् का लोप) + आ (स्त्री०) = बोलना चाहती। देखिए नियम—'तुम् काम-मनसोरपि'।

---

१०५ **राजा**—तब इससे अधिक और विश्वास इन्होंने क्या दिलाना है?

१०६ **परिव्राजिका**—वही तो मैं कहना चाह रही हूँ।

शिलष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
सङ्क्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥१६॥

शिलष्टा०—अन्वयः—कस्यचित् आत्मसंस्था क्रिया शिलष्टा; अन्यस्य संक्रान्तिः विशेषयुक्ता; यस्य उभयं साधु, स एव शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्यः । (उपजातिः)

कस्यचित् = किसीकी । आत्म०—आत्मनि संस्था (स्थितिः) यस्याः सा (बहुव्रीहि) अपने में ही रहने वाली । क्रिया = शिक्षा, विद्याभ्यास, अभिनय-क्रिया । शिलष्टा = √शिलप् (दि० मिलना) + त (क्त कर्तरि) + आ (स्त्री०) ठीक बैठती है, सुसंगत रहती है, सुन्दर होती है अर्थात् किसी में तो विद्या, कला की निपुणता अथवा सौष्ठव व्यक्तिगत दिखलाई पड़ता है । वे स्वयं बहुत अच्छा जानते हैं, किन्तु दूसरों को नहीं सिखा सकते । इसके विपरीत; अन्यस्य=दूसरे की । संक्रान्तिः=सम्√क्रम् (भ्वा० चलना) + ति (क्तिन् भावे) संक्रमण (Transference) अपनी कलाक्रिया को दूसरों पर संक्रमण करना अर्थात् सिखाना । विशेषेण युक्ता (तृ० त०) विशिष्ट—अच्छी —[होती है] अर्थात् स्वयं में वे कला-प्रदर्शन नहीं कर सकते हैं, किन्तु दूसरों को अच्छी तरह सिखा सकते हैं । यस्य=जिस (व्यक्ति) का । उभयम्=दोनों बातें अर्थात् स्वयं भी कला-कौशल दिखाना और दूसरों को भी सिखाना । साधु=अच्छे हैं । सः एव=वही । शिक्षकाणाम्=अध्यापकों, आचार्यों के ।

कोई तो ऐसा होता है कि उसकी क्रिया—विद्या—अपने आप में ही सुन्दर रहती है, और दूसरा ऐसा होता है कि वह अच्छी तरह सिखाना ही जानता है, किन्तु जिसमें दोनों ही बातें अच्छी हों, वही शिक्षकों में सर्व-श्रेष्ठ माना जाना चाहिए ॥१६॥

१०७ विदूषकः—सुदं भअवदीए वअणं अज्जेहिं । एसो पण्डिदत्थो उवदेसदंसणेण णिण्णओत्ति । [श्रुतं भगवत्या वचनमार्याभ्याम् । एष पिण्डितार्थ उपदेशदर्शनेन निर्णय इति ।]

१०८ हरदत्तः—परमुचितं नः ।

धुरि=(धुर् शब्द का स्त्री० सप्तमी एकवचन) आगे । प्रतिष्ठा०=प्रति+√स्था (भ्वा० ठहरना)+णिच्+तव्य (कृत्य प्र०) रखा जाने योग्य है अर्थात् वही सर्व-श्रेष्ठ कलाकार है । विद्वान् हुए और शिक्षक नहीं हुए, तो क्या और शिक्षक हुए पर विद्वान् नहीं तो क्या ? इसलिए विद्वान् और शिक्षक दोनों होना आवश्यक है । देखिये कौशिकी किस चतुराई से गतिरोध का हल निकालना चाहती है । अपने में दोनों के दोनों पूरे गुणी हैं, यह तो देख ही रखा है । अब यह देखना शेष है कि कौन अपनी शिष्या को किस तरह सिखाता है ? उसी से उसका बड़ा अथवा छोटा होना सिद्ध हो सकेगा । स्पष्ट है परिव्राजिका मालविका को राजा के आगे लाना चाहती है ।

१०७ भगवत्या वचनम्=भगवती कौशिकी की बात । आर्याभ्याम् =आप दोनों आचार्यों ने । पिण्डितश्चासौ अर्थः (कर्मधा०)=सार-भूत अर्थ सारांश, तात्पर्यार्थ, निष्कर्ष (Gist) उपदेशस्य दर्शनम् तस्मात् (प० त०) शिक्षा देख कर, यह देख कर कि किस तरह सिखाया है - इसीसे; निर्णयः= बड़े-छोटे होने का निश्चय (हो सकेगा ।)

१०८ परम् उचितम् नः=हमारे लिए सबसे उचित यही है ।

---

१०७ विदूषक—सुन ली आप दोनों (आचार्यो) ने भगवती की बात ? इसका सार यह निकला कि आप लोगों ने कैसी शिक्षा दी है—यह देख कर ही (बड़े-छोटे का) निर्णय हो सकेगा ।

१०८ हरदत्त—हाँ, हमारे लिए यही सब से अच्छा होगा ।

१०९ गणदासः—देवि ! एवं स्थितम् ।

११० देवी—जइ पुण मन्दमेहा सिस्सा उवदेसं मलिणेदि तदा आअरिअस्स दोसो णं । [यदा पुनर्मन्दमेधा शिष्योपदेशं मलिनयति तदा आचार्यस्य दोषो नु ?]

१११ राजा—देवि, एवमापद्यते । विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धि-लाघवं प्रकाशयति ।

---

१०९ **एवं स्थितम्** = यों ही ठहरा । गणदास प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है और रानी से अनुरोध करता है कि वह भी इसे स्वीकार कर ले, क्योंकि उसकी शिष्या मालविका उन्हीं की दासी है और उनकी अनुमति के बिना वह रंगमंच पर नहीं जा सकती है ।

११० **पुनः** = किन्तु । **मन्द०** = मन्दा मेधा यस्याः सा (ब० व्री०) मेधा ज्ञान, धारण करने वाली बुद्धि को कहते हैं, वह जिसकी मन्द हो, मन्द-मति, मूर्ख । **उपदेशम्** शिक्षा को, पढ़े-सीखे को । **मलिनयति=मलिनं करोति** मलिन + णिच् (नाम-धातु) लट् प्र० पु० ए० = मलिन कर देती है, बिगाड़ देती है, धव्वा लगा देती है । नु (अव्यय) प्रश्नार्थक = क्या ? रानी को षड्यन्त्र का पता चल गया है और वह नहीं चाहती है कि मालविका राजा के सामने आये और अपना नृत्य दिखाये ।

१११ **आपद्यते** आ + √पद् (दि० जाना) + लट् प्र० पु० ए० = प्राप्त

---

१०९ गणदास—महारानी ! यही ठहरा ।

११० देवी—किन्तु यदि मन्दमति शिष्या पढ़े-पढ़ाये पर धव्वा लगा दे, तो क्या आचार्य का दोष है ?

१११ राजा—हाँ, देवी, बात तो ऐसी ही सिद्ध होती है । यदि गुरु अयोग्य शिष्य को अपनाता है, तो यह भी गुरु की बुद्धि-हीनता प्रकट करता है ।

११२ **देवी** (स्वगतम्)—**कहं दाणिं । (गणदासं विलोक्य जनान्तिकम्) अलं अव्जउत्तस्स उच्चाहकालणं मणोरहं पूरिअ । (प्रकाशम्) विरम णिरत्थआदो आरम्भादो ।** [(स्वगतम्) कथमिदानीम् (गणदासं विलोक्य जनान्तिकम्) अलमार्यपुत्रस्योत्साहकारणं मनोरथं पूरयित्वा । (प्रकाशम्) विरम निरर्थकादारम्भात् ।]

होता है, सिद्ध होता है । बात ऐसी ही है । **विनेतुः**=वि+√नी (लट् ले जाना)+तृच् कर्तरि + षष्ठी, शिक्षक, गुरु का । **अप्रशस्तं द्रव्यम् अद्रव्यम्, अद्रव्यस्य परिग्रहः** (प० तत्पु०) **अद्रव्य**—निकम्मा अथवा अयोग्य शिष्य (bad stuff)-का अपनाना । **बुद्धेः लाघवम्** (प० तत्पु०) लघोः भावः लघु + अण् (भावे) बुद्धि के हल्केपन को, मन्दमतिता को, मूर्खता को । **प्रकाशयति** = प्र + √काश् (भ्वा० चमकना) + णिच् + लट् प्र० पु० एक० = प्रकाशित करता है, प्रकट करता है, जतलाता है ।

११२ **विलोक्य** = देख कर । **जनान्तिकम्** = यह नाटक का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'अलग' 'पृथक्' । जब कोई पात्र किसी दूसरे पात्र को इस ढंग से कहना चाहता है कि जिससे तीसरा कोई और न सुन ले, क्योंकि कही जाने वाली बात गुप्त है, तो वह हथेली खड़ी करके मध्य को तीन उँगलियों को फैला कर कहता है । यह एक प्रकार की कानाफूसी समझिए, यद्यपि द्रष्टागण इसे सुन लेते ही हैं । देखिए, साहित्यदर्पण—

> त्रिपताकाकरेणान्यान् अपवार्यान्तरा कथाम् ।
> अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्यात् तज्जनान्ते जनान्तिकम् ॥६।१३९॥

अलम् + आर्यपुत्रस्य + उत्साह-कारणम् । **उत्साहस्य कारणम्** (प० तत्पु०) आर्यपुत्र अर्थात् राजा को प्रोत्साहन देने वाले । **मनोरथम्** = इच्छा

---

११२ **देवी** (अपने मन में)—अब क्या किया जाय ? (गणदास को देख कर अलग) अरे, आर्यपुत्र की इच्छा मत पूरी करो । यह तो उनके प्रोत्साहन का कारण है । (प्रकट) रुको इस व्यर्थ के काम से ।

११३ विदूषक—सुट्ठु होदी भणादि । भो गणदास संगीदव-देसेण सरस्सईउवाअणमोदआइं खादमाणस्स किं दे सुलहणिग्गहेण विवादेण । [सुष्ठु भवती भणति । भो गणदास ! सङ्गीतव्यपदेशेन सरस्वत्युपायनमोदकानि खादतः किं ते सुलभनिग्रहेण विवादेन ।]

को । पूरयित्वा = पूरा करके । अलम् शब्द क्त्वान्त क्रिया के साथ लगने पर उस क्रिया का प्रतिषेधक बन जाता है, अर्थात् इच्छा पूरी न करो । विरम = वि + √रम् (भ्वा० हटना) + लोट् म० पु० ए० । ध्यान रहे कि √रम् धातु आत्मनेपद है, किन्तु वि उपसर्ग लगने से वह परस्मैपद हो जाया करता है, देखिए पाणिनि-नियम 'व्याङ्परिभ्यो रमः' (१–३–८३) निरर्थ०=निर्गतः अर्थः यस्मात् (ब० व्री०) तथाभूतात्—बेकार, व्यर्थ के । आरम्भात् = कार्य से । देखिए रानी किस तरह गणदास को राजा के जाल में न फँसने का अनुरोध करती है, पर गणदास तो इसे आत्म-सम्मान का प्रश्न बनाये बैठा है ।

११३ भणति=√भण (भ्वा० कहना) + लट् प्र० पु० ए० = कहती है । संगीत०=संगीतस्य व्यपदेशः (ष० तत्पु०) तेन=संगीत के बहाने से । सर०=सरस्वत्यै उपायनानि (च० तत्पु०) एव मोदकानि (कर्मधा०) तानि= सरस्वती को भेंट चढ़ाये हुए लड्डुओं को । खादतः=√खाद् (भ्वा० खाना) शतृ (षष्ठी ए० व०) खाते हुए । भारतीय प्रथा के अनुसार अध्ययन आरम्भ करते समय भगवती सरस्वती की पूजा की जाती है और नैवेद्य के रूप में लड्डू चढ़ाये जाते हैं । सुलभ०=सुखेन लब्धुं योग्यः सु+√लभ् (भ्वा० पाना) + ख (खल् कृत् प्र०), सुलभः निग्रहः (कर्मधा०) यस्मिन् तथाभूतेन (ब० व्री०) जिसमें हार सहज में मिल जाती है, पराजय निश्चित है, ऐसे । विवादेन= झगड़े, संघर्ष से । किम्=क्या ?

---

११३ विदूषक—आप ठीक कहती हैं ! गणदासजी ! तुम तो संगीत सिखाने के बहाने सरस्वती देवी को चढ़ाये लड्डुओं को खाने वाले ठहरे, तुम्हें ऐसे विवाद से क्या मतलब, जिसमें सहज में ही हार हो जाय ।

११४ गणदासः—सत्यमयमेवार्थो देवीवचनस्य। श्रूयतामवसर-प्राप्तमिदम्।

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरो-
स्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।

रानी के वचनों को सुनकर विदूषक डर गया कि मेरी सारी योजना मिट्टी में मिलती दीख रही है, अतः वह गणदास को अब आत्म-सम्मान के नाम पर भड़काने लगा है।

११४ **सत्यम्** = सचमुच। **अयम् + एव + अर्थः** = यही मतलब है। **देव्या वचनं तस्य** (ष०) रानी जी के कथन का। देखिए विदूषक का तीर लक्ष्य को वेध ही गया। गणदास हरदत्त द्वारा किए गए अपमान से जल ही रहा था; उस पर विदूषक का आक्षेप घी का काम कर बैठा। **श्रूयताम्** = √श्रु (भ्वा० सुनना) + लोट् प्र० पु० ए० (कर्मवाच्य) = सुनिए। **अवसरं प्राप्तम्** (द्वि० तत्पु०) समय पर प्राप्त, समयोचित।

लब्धा०—अन्वयः—लब्धास्पदः अस्मि—इति विवादभीरोः, परेण निन्दां तितिक्षमाणस्य अस्य आगमः केवल-जीविकार्थं, तं ज्ञान-पण्यं वणिजं वदन्ति। (उपजातिः)

लब्धा०—लब्धम् आस्पदम् येन सः तथोक्तः (ब० व्री०) =जिसने स्थान प्राप्त कर लिया है, जिसे नौकरी मिल गई है। **इति** = इस कारण। **विवादात् भीरु तस्य** (पं० तत्पु०) विवाद—प्रतियोगिता—से डरने वाला कि कहीं हार न खा जाऊँ। **परेण** कृताम् इति शेषः, दूसरे द्वारा की गई। **निन्दाम्** = बुरो

---

११४ **गणदास**—सचमुच महारानी के कहने का यही मतलब है। इस अवसर पर जो (मुझे) उचित लग रहा है, वह सुनिए यह है :—

मुझे नौकरी मिल ही गई है—इस विचार से जो अध्यापक विवादों से डरता है, दूसरे से की गई अपनी निन्दा को सहता रहता है और जिसका

यस्यागमः केवल-जीविकायै
तं ज्ञान-पण्यं वणिजं वदन्ति ॥ १७ ॥

११५ **देवी**—अइरोवणीदा दे सिस्सा। ता अवरिणिट्ठिदस्स अण्णाअं पदंसणम्। [अचिरोपनीता ते शिष्या । तदपरिनिष्ठितस्योपदेशस्यान्याय्यं प्रदर्शनम् ।]

आलोचना, बदनामी को। तितिक्ष० = √तिज् भ्वा० आ०) + सन् (क्षमा अर्थ में) + शानच् + षष्ठी० ए० व० सहन करते हुए। **यस्य आगमः**=जिसका शास्त्र-ज्ञान, पांडित्य। केवलं जीविका कर्मधा०) **तस्यै** केवल आजीविका के लिए है। **तम् ज्ञानम् एव पण्यं यस्य सः तथाभूतम्** (ब० व्री०)। **पण्यम्**=पणितुं योग्यम्√पण् (भ्वा० आ० व्यापार करना) + य (कृत्य प्र०) बेचने की वस्तु, ज्ञान बेचने वाले। **वणिजम्**=वनिया। **वदन्ति**=कहते हैं। वाद-विवाद, शास्त्रार्थ, संघर्ष आदि ही अध्यापन में जीवन के चिह्न हुआ करते हैं। इनसे कतराने वाला विद्वान् अपनी वृत्ति को भूलता है। इससे गणदास का यही अभिप्राय है कि वह हरदत्त के साथ होने वाली प्रतियोगिता से मुँह मोड़ कर अपने को अब गिराना नहीं चाहता और उसके साथ अवश्य प्रतियोगिता करेगा।

११५ **अचिरो०**— **अचिरात्** = न देर से हाल ही में। **उपनीता**=उप+√नी (भ्वा० ले जाना) त (क्त) + आ (स्त्री) अध्यापनार्थ गुरु के पास लाई गई। बालक को पढ़ने-लिखने के लिए गुरु के समीप ले जाना ही उपनयन-संस्कार कहलाता है। तत् + **अपरिनिष्ठितस्य** + **उपदेशस्य + अन्याय्यम्**। **अपरिनिष्ठितस्य** = जिसकी परिनिष्ठा, समाप्ति, पूर्णता. पक्कापन नहीं हुआ है, अर्थात् कच्चे, अपूर्ण। **उपदेशस्य** = शिक्षा, नाट्य

शास्त्र-ज्ञान केवल पेट भरने के लिए ही है, उसे बनिया कहते हैं, वह अपना ज्ञान बेचा करता है॥ १७ ॥

११५ **देवी**— तुम्हारी शिष्या हाल ही में तुम्हारे पास पढ़ने-सीखने लाई गई है, इसलिए अपूर्ण पढ़े-सीखे का प्रदर्शन करना ठीक नहीं होता।

११६ गणदासः—अत एव मे निर्बन्धः।

११७ देवी—तेण हि दुवे वि भअवदीए उवदेसं दंसह। [तेन हि द्वावपि भगवत्या उपदेशं दर्शयतम्।]

का। प्रदर्शनम् = दिखाना। अन्याय्यम् = न न्याय्यम् (नञ् तत्पु०) न्यायात् अनपेतम् न्याय्यम् न्याय + य (तद्धित) न्यायोचित— ठीक—नहीं होता। रानी गणदास को विवाद से फिसलता न देखकर अपना दूसरा शस्त्र प्रयोग करती है कि तुम्हारी शिष्या ने पढ़ना-सीखना तो हाल ही में आरम्भ किया है। जब उसका पढ़ा-सीखा अभी पक्का ही नहीं हुआ है, कच्चा है, तब उसका प्रदर्शन गुरु और शिष्या—दोनों के लिए अनुचित है। नीति भी यही कहती है— 'अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धि-लक्षणम्'!

११६ निर्बन्धः = आग्रह, हठ है। गणदास रानी की आपत्ति का इसी आधार पर खण्डन कर देता है कि मेरी इसमें प्रतिष्ठा है कि मेरी शिष्या थोड़े समय से ही नृत्य सीखने लगी है, फिर भी मैंने उसे कितना निपुण बना दिया है। इसलिए मेरा आग्रह है कि प्रदर्शन होगा ही।

११७ द्वौ + अपि = दोनों आचार्य। भगवत्यै + उपदेशम्। सन्धि में 'ऐ' का आय् और विकल्प से य् का लोप हो जाता है। दर्शयतम् √दृश् (भ्वा० देखना) + णिच् + लोट् म० पु० द्वि० = दिखाओ। देखिए, रानी कितनी चौकस है और अब यह प्रस्ताव रखती है कि यदि दोनों को अपनी-अपनी शिष्याओं के द्वारा नृत्य-प्रदर्शन कराना ही है, तो कौशिकी के ही सामने वे यह कार्य करें, सभी के सामने क्यों? निर्णायिका अकेली ही निर्णय दे सकती है। रानी के इस नये तर्क से राजा और विदूषक के पैरों के तले से मिट्टी खिसकने लगी ही थी कि इतने में परिव्राजिका उनकी सहायता करती है।

---

११६ गणदास—इसीलिए तो मेरा आग्रह है।

११७ देवी— तब तो तुम दोनों अपनी-अपनी शिक्षा का प्रदर्शन भगवती कौशिकी के ही आगे करो।

११८ परिव्राजिका—देवि ! नैतन्न्याय्यम् । सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय ।

११९ देवी (आत्मगतम्) मुद्धे ! किं मं जग्गदिं वि सुत्तं विअ करेसि ।

---

११८ न + एतत् + न्याय्यम् = यह ठीक नहीं है । सर्वज्ञस्य + अपि + एकाकिनः । सर्वं जानाति इति सर्व + √ज्ञा (क्र्या० जानना) + अ (क कर्तरि) = सब कुछ जानने वाला होते हुए भी । एकाकिनः = अकेले का निर्णयस्य अभ्युपगमः (ष० तत्पु०) निर्णय में पहुँचना, निर्णय करना । दोषाय = गलती के लिए हुआ करता है अर्थात् अकेले व्यक्ति का निर्णय करने में भूल कर देना स्वाभाविक ही है । माघ के शब्दों में —'ज्ञात-सारोऽपि खल्वेकः संदिग्धे कार्यवस्तुनि ।' शिशुपालवध ॥२।२६॥ इसीलिए तो महत्त्वपूर्ण निर्णय के लिए जजों का बैंच अथवा जजों को सहायता देने के लिए जूरी या ऐसेसर्स बैठा करते हैं । देखिए परिव्राजिका के उचित तर्क ने रानी के अन्तिम ब्रह्मास्त्र को भी बेकार कर दिया । अब रानी को सिवाय रूठ जाने के और चारा ही न रहा ।

११९ मुग्धे = मुग्धा शब्द का सम्बोधन भोली स्त्री । जाग्रतीम् अपि √जागृ (अ० प० जागना) शतृ + ई स्त्री द्वि० ए० व०=जागती हुई भी मुझे । सुप्ताम् इव = √स्वप् (अ० सोना) त (क कर्तरि) सोती-सी । करोषि = बना रही हो । रानी को सरल-स्वभाव परिव्राजिका पर क्रोध आ रहा है कि किस तरह वह भी अनजाने में राजा के हाथ में खेल रही है । वास्तव में परिव्राजिका भी चाहती ही है कि मालविका राजा के सामने आ जाय, यद्यपि रानी इस बात से बिल्कुल अनभिज्ञ है और परिव्राजिका पर पूरा-पूरा विश्वास रखती है।

---

११८ परिव्राजिका—देवी, यह उचित नहीं है । चाहे कोई सर्वज्ञ क्यों न हो, अकेले निर्णय करने में गलती हो ही जाया करती है ।

११९ देवी—(अपने मन में) अरी मूर्खे, जागती हुई भी मुझे तुम सोती-

[(आत्मगतम्) मुग्धे, किं मां जाग्रतीमपि सुप्तामिव करोषि ।]
(इति सासूयं परावर्तते)

(राजा देवीं परिव्राजिकायै दर्शयति ।)

१२० परिव्राजिका (विलोक्य)—

अनिमित्तमिन्दुवदने ! किमत्रभवतः पराङ्मुखी भवसि ।

सासूयम् = असूयया सहितं यथा स्यात् तथा (क्रियावि०) परावर्तते =परा + √वृत् (भ्वा० होना) + लट् प्र० ए० व० = मुँह फर देती है । राजा... दर्शयति = राजा रानी को रूठी हुई देख कर परिव्राजिका को संकेत करके कहता है कि देखो रानी का फुलाया हुआ मुँह ।

१२० अनिमित्त०—अन्वयः—इन्दु-वदने ! अनिमित्तम् अत्रभवतः किं पराङ्मुखीभवसि ? कुटुम्बिन्यः प्रभवन्त्यः अपि भर्तृषु कारण-कोपा हि । [आर्या]

इन्दुः इव वदनं यस्याः सा (बहुव्रीहि) तत्सम्बुद्धौ=हे चाँद-सा मुखड़े वाली । न निमित्तं यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात्तथा (बहुव्रीहि क्रिया-वि०) विना निमित्त के, यूँ ही । अत्रभवतः=इनसे (महाराज से) किम् (अव्यय) क्यों ? पराङ्=परा+अञ्चतीति परा +√अञ्च (भ्वा० जाना +क्विप् कर्तरि; पराक् मुखं यस्याः सा तथोक्ता (बहुव्रीहि) मुँह-फेरे । भवसि=हो ? रानी को इन्दुमुखी कह कर प्ररिव्राजिका व्यंग्य-रूप से यह बताना चाहती है कि रानी को अमृतवर्षी चाँद की तरह शान्त और ठण्डा रहना चाहिए । कुटुम्बः आसाम्

जैसी बना रही हो । (ईर्ष्या से मुँह फेर देती है)

(राजा रानी की ओर परिव्राजिका का ध्यान दिलाता है)

१२० परिव्राजिका (देखकर)—

हे चाँद-सा मुखड़े वाली ! बिना कारण तुम क्यों महाराज से मुँह फेरे बैठी हो ? कुल-स्त्रियों का माना कि पतियों पर पूर्ण अधिकार रहता है, फिर भी

प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः ॥१८॥

१२१ विदूषकः—णं कारणादो एव्व अत्तणो पक्खो रक्खिदव्वो त्ति। (गणदासं विलोक्य) दिट्ठिआ कोववआएण देवीए परित्तादो भवं। सुसि·

अस्तीति कुटुम्बिन्यः, कुटुम्ब+इन् (मतुवर्थ)+ई [स्त्री] प्र० ब० कुटुम्ब वाली, स्त्रियाँ, कुल-स्त्रियाँ। प्रभवन्त्यः=प्र+√भू (भ्वा० होना)+शतृ + ई [स्त्री] प्र० ब० व० प्रभुत्व रखती हुई भी, पतियों पर पूरा अधिकार जमाती हुई भी। भर्तृषु = (अपने) पतियों पर। कारणकोपाः = कारणेन कोप यासां ताः तथोक्ताः (बहुव्रीहि) कारण से ही कोप वाली होती हैं। अर्थात् यदि वे रूठती हैं, तो किसी कारण से ही रूठती हैं, यों ही नहीं। इस तरह कौशिकी रानी का रोष शान्त करने की चेष्टा करती है।

१२१ ननु कारणात् एव=सचमुच कारण से ही (रूठ रही है)। आत्मनः पक्षः=अपना पक्ष (Side) अर्थात् गणदास। रक्षितव्यः=√रक्ष्+(भ्वा० बचाना) +तव्य (कृत्य प्र०) बचाना है। गणदास को हार खाने की बदनामी से बचाना है। विदूषक बड़ा चतुर है। वह क्रोध में रानी का समर्थन करता हुआ कितना चुभता व्यंग्य कसता है। पहले सब तरह के तर्क दो और फिर बचे-खुचे की पूर्ति क्रोध से करो—इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का अनुसरण रानी कर रही है, देखिए नीति-वचन—'शेषं कोपेन पूरयेत्'। दिष्ट्या = यह अव्यय है जिसका अर्थ है 'सौभाग्य से'। कोपस्य व्याजः (ष० तत्पु०) तेन = क्रोध के बहाने। परित्रातः = परि + √त्रा (दि० बचाना) +त (क्त कर्मणि) बचा लिया है। विदूषक गणदास की तरफ मुख कर उसे बधाई देने लगता है कि धन्य हो तुम, जिसे रानी के संरक्षण ने बचा लिया है। सुशिक्षितः=सु + √शिक्ष् [भ्वा०

वे किसी कारण के होने पर ही रूठती हैं ॥१८॥

१२१ विदूषक—वे कारण से ही रूठ रही हैं, क्योंकि, उन्हें अपने पक्ष (गणदास) का बचाव जो करना है। गणदास को देख कर) यह तुम्हारे

क्खिदी वि सव्वो उवदेसदंसणे ण णिउणो होदि [ननु कारणादेव। आत्मनः पक्षो रक्षितव्य इति। (गणदासं विलोक्य) दिष्ट्या कोपव्याजेन देव्या परित्रातो भवान्। सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशदर्शने न निपुणो भवति।]

१२२ गणदासः —देवि! श्रूयताम्। एवं जनो गृह्णाति। तदिदानीम्

विवादे दर्शयिष्यन्तं क्रियासङ्क्रान्तिमात्मनः।

सीखना। क्त (कर्तरि)=अच्छी तरह पढ़ा-सीखा हुआ अर्थात् विद्वान् होता हुआ भी **उपदेशस्य दर्शनम्** = शिष्यों को शिक्षा देने में। **निपुणः न भवति** = निपुण नहीं हुआ करता है। भाव यह है कि विद्वान् बनना और बात है और शिक्षक बनना और, अधिकतर लोग विद्वान् तो रहते हैं, पर दूसरों को सिखा नहीं सकते हैं, अपने ज्ञान को दूसरों में संक्रमण नहीं कर सकते हैं। अतः गण-दासजी महाराज! यदि तुम आचार्य हो, तो इसका यह मतलब नहीं कि तुम सिखाना भी जानते हो। असली शिक्षक तो हरदत्तजी ही है।

१२२ **एवं जनः गृह्णाति** = इस तरह लोग समझेंगे, अर्थात् लोगों मे मेरे सम्बन्ध में यह प्रभाव जम जायगा कि मैं पढ़ाना-सिखाना नहीं जानता हूं, आपके आश्रय में रह कर केवल पेट-मात्र भर रहा हूँ। यह मेरी प्रतिष्ठा पर बड़ा कलंक है।

विवादे०—अन्वयः—यदि विवादे आत्मनः क्रियासंक्रान्तिं दर्शयिष्यन्तं मां न अनुजानासि (तर्हि) त्वया अहं परित्यक्तः अस्मि। (पथ्यावक्त्रम्)।

बड़े भाग हैं कि रूठने के बहाने महारानी ने तुम्हें बचा लिया है। अध्यापक कितने ही पढ़े-सीखे क्यों न हों, किन्तु अपने ज्ञान को शिष्यों में दिखाने में कभी निपुण नहीं होते।

१२२ **गणदास**—महारानीजी सुनिए, लोग ऐसा ही समझ रहे हैं, इस लिए अब तो—

यदि मां नानुजानासि परित्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ॥१६॥

(आसनादुत्तिष्ठति)

१२३ देवी (स्वगतम्)—का गई । (प्रकाशम्) पहवदि आअरिओ

विवादे = प्रतियोगिता में । आत्मनः क्रियायाः संक्रान्तिः ताम् (प० तत्पु०) अपनी क्रिया, गुण अथवा विद्या को (शिष्यों में) संक्रमण करना अर्थात् शिष्य-शिष्याओं को सिखाना, उन्हें प्रैक्टिकल ट्रेनिंग देना । **दर्शयिष्यन्तम्** = √दृश् (भ्वा देखना) + णिच् + शतृ प्र० द्वि० ए० व० । शतृ प्रत्यय प्रायः वर्तमान में होता हुआ भी कभी-कभी भविष्यत्काल में भी हो जाया करता है, देखिए पाणिनि-नियम—लृटः सद्वा ३।३।१४, दिखाना चाहते हुए । **मां न अनुजानासि** = अनु + √ ज्ञा (क्र्या० जानना) + लट् म० पु० ए० व० मुझे आज्ञा नहीं देती हो । **त्वया अहं परित्यक्तः** = परि + √त्यज् (भ्वा० छोड़ना) + त (क्त कर्मवा०) आपने मुझे छोड़ दिया है, अपने यहाँ से निकाल दिया है । देखिए विदूषक के विष-वमन से गणदास के आत्म-सम्मान में कितनी ठेस पहुँच रही है कि वह अपनी शिष्या मालविका का नृत्य दिखाने की अनुमति न मिलने की अवस्था में रानी की नौकरी से त्याग-पत्र तक देने को तैयार हो गया है । गणदास चल पड़ने के लिए **आसनात् + उत्तिष्ठति** = आसन से उठ जाता है ।

१२३ **का गतिः** = क्या किया जाय, कोई चारा नहीं । बेचारी रानी आखेट-पशु की तरह चारों तरफ से घिर गई है । विदूषक की कुटिल नीति, राजा की बाहरी सौम्यता, परिव्राजिका का रहस्यमय रुख और गणदास का

यदि विवाद में अपनी शिक्षा को दिखाना चाहते हुए मुझे आप आज्ञा नहीं देतीं, तो (मैं समझूँगा कि आपने मुझे त्याग दिया है ॥१६॥

(आसन से उठता है)

१२३ देवी—(अपने मन में) अब तो कोई चारा नहीं । (प्रकट) आचार्य का अपने शिष्यों पर [पूरा-पूरा] अधिकार होता है ।

सिस्सअणस्स। [(स्वगतम्) का गतिः। (प्रकाशम्) प्रभवत्याचार्यः शिष्यजनस्य।]

१२४ गणदासः-चिरमपदे शङ्कितोऽस्मि। (राजानमवलोक्य) अनुज्ञातं देव्या। तदाज्ञापयतु देवः। कस्मिन्नभिनेयवस्तुन्युपदेशं दर्शयिष्यामि।

मूर्खता-पूर्ण दुराग्रह– सभी ने मिलकर रानी को घुटने टेकने को विवश कर दिया। अन्त में रानी को स्वीकार ही करना पड़ता है कि 'आचार्यः शिष्यजनस्य प्रभवति' = आचार्य का अपने शिष्यों पर पूरा अधिकार होता है। प्रभुत्व रखना अर्थ वाले धातुओं के कर्म में षष्ठी विभक्ति ही आया करती है। इसलिए 'शिष्यजनस्य' यहाँ षष्ठी हुई। देखिए मालतीमाधव—'प्रभवति निजस्य कन्यका-जनस्य महाराजः'।

१२४ चिरम्=बहुत देर से। अपदे=न पदम् (स्थानम्) तस्मिन् अस्थान में, बिना आधार के, यों ही। शङ्कितः+अस्मि=मैं शङ्का करता रहा, अर्थात् मैं बहुत समय से डर रहा था कि आप मुझे अपनी शिष्या द्वारा नृत्य दिखाने की अनुमति नहीं देंगी, किन्तु मेरा डर निराधार ही था। अनुज्ञातम्=अनुमति, आज्ञा दे दी है। तत्+आज्ञापयतु=तो आज्ञा दें। कस्मिन् = अभिनेयस्य वस्तुनि ष० तत्पु०) अभिनय की किस वस्तु पर, नृत्य की किस चीज पर। उपदेशम् = शिक्षा को। दर्शयिष्यामि = √दृश् (भ्वा० देखना) + णिच्+ लट् उ० ए० व० दिखलाऊँगा अर्थात् मैंने अपनी शिष्या को जो कुछ भी नृत्य की बातें पढ़ाई-सिखाई हैं, उनमें से क्या दिखलाऊँ।

---

१२४ गणदास—मैं यों ही बहुत देर से डर रहा था [कि सम्भवतः महारानी मुझे अपनी शिष्या द्वारा नृत्य दिखाने की अनुमति न दें]। (राजा को देख कर) महारानी ने आज्ञा दे दी है। अतएव अब महाराज आज्ञा दें कि अभिनय की किस वस्तु पर अपनी शिक्षा दिखलाऊँ?

१२५ राजा—यदादिशति भगवती।

१२६ परिव्राजिका—किमपि देव्या मनसि वर्तते। तच्छङ्कितास्मि।

१२७ देवी—भण विस्सद्धम्। णं पहविस्सं अत्तणो परिअणस्स।

---

१२५ यत् + आदिशति, आ + √दिश् (तु० दिखाना) + लट् प्र० पु० ए० व० जो आज्ञा देती हैं। **भगवती** = कौशिकी। देखिए राजा कितनी तटस्थता दिखा रहे हैं और कितनी कुटिल चाल के साथ स्वयं नृत्य को कोई भी वस्तु न बता कर कौशिकी के ऊपर ही सब कुछ छोड़े देते हैं जिससे कि रानी को किसी तरह भी शंका न होने पाये कि उनका भी इसमें कोई हाथ है। इसी लिए तो राजा अगले श्लोक में कहेंगे कि 'न खलु मनस्विनि मया प्रयुक्तमिदम्' [मानिनी, यह मेरा रचा हुआ नहीं है]।

१२६ **किमपि...वर्तते** = परिव्राजिका रानी को चिन्तामग्न पाती है। शायद रानी के मन में यह बात हो कि यह सारा विवाद मालविका को रंगमञ्च पर लाने का ढोंग है, अतः कौशिकी नहीं चाहती कि वह रानी को अप्रसन्न करे, इसलिए वह सकुचा रही है कि कैसे किसी नृत्य को दिखलाने को कहूँ। उसे डर है कि इससे कहीं रानी और भी अप्रसन्न न हो जाय। वह रानी को शान्त करना तथा अपने वचन पर दृढ़ रखना चाहती है।

१२७ **विस्रब्धम्** (अव्यय) निस्संकोच, बिना हिचक। **प्रभविष्यामि + आत्मनः परिजनस्य** = मेरा अपनी नौकरानियों पर पूरा अधिकार है अर्थात् जो कुछ भी तुम आज्ञा दोगी, मेरी नौकरानियाँ उसका पालन करेंगी। क्योंकि

---

१२५ **राजा**—जैसी आज्ञा भगवती [कौशिकी] दें।

१२६ **परिव्राजिका**—देवी के मन में कुछ बात है। इसीलिए मैं सकुचा रही हूँ।

१२७ **देवी**—नहीं बिना संकोच के कहो। मुझे अपनी नौकरानियों पर पूरा अधिकार है।

[भण विस्रब्धम् । ननु प्रभविष्णाम्यात्मनः परिजनस्य ।]

१२८ राजा—मम चेति ब्रूहि ।

१२९ देवी—भअवदि भण दाणिं । [भगवति भणेदानीम् ।]

१३० परिव्राजिका—चतुष्पदोद्भवं चलितं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति ।

वे सब मेरे अधीन हैं; इसलिए मालविका जो कुछ तुम कहोगी, उसे वह अवश्य करेगी। रानी के इस कथन में एक दूर का व्यंग्य भी है कि इस समय मालविका को तुम चाहो राजा के आगे रंगमंच पर ले आओ, किन्तु इसके बाद मैं अपनी नौकरानियों से ऐसा प्रबन्ध करवाऊँगी कि राजा उसे देख तक न सकेगा, क्योंकि उसपर मेरा पूर्ण अधिकार है।

१२८—देखिए राजा की चापलूसी, जो इस समय रानी को प्रसन्न करने के स्थान में अप्रसन्न ही कर देने वाली है। रानी इस ओर ध्यान ही नहीं देती।

१२९ भण + इदानीम् = अब कह दो।

१३० चतुष्पः = चत्वारि पदानि चतुष्पदानि तेभ्यः उद्भवो यस्य तत् अथवा चतुष्पदातः उद्भवो यस्य तत् (ब० व्री) चतुष्पदा एक गीति होती है, जिसके चार पद (पाद) होते हैं अथवा जिसमें चार पद पद्य) होते हैं। गणदास के [अंक II] अनुसार 'चतुष्पदोद्भवम्' चलित-नृत्य में चार पद्य होते हैं, जिनमें से प्रत्येक की अपनी पृथक् वस्तु रहती है। देखिए 'देव...

१२८ राजा—'और मुझ पर भी' यह भी कहिए न।

१२९ देवी—भगवती! अब आप कह दीजिए [कि कौन-सा नृत्य दिखलाया जाय]?

१३० परिव्राजिका—महाराज! चौपदों वाले चलित नाम के नृत्य का अभिनय कठिन कहते हैं। उसी की किसी एक चीज के सम्बन्ध में दोनों आचार्यों

तत्रैकार्थसंश्रयमुभयोः प्रयोगं पश्यामः । तावता ज्ञायत एवात्रभवतोरुपदेशान्तरम् ।

चतुष्पदा । तस्याश्चतुर्थवस्तुकं प्रयोगम्····· देवः ।' अंग्रेजी में भी चार पद्यों की एक ऐसी ही गीति होती है, जिसे Sonnet कहते हैं । टीकाकार नीलकंठ के मतानुसार 'चतुष्पदोद्भवम्' का अर्थ है 'चतुर्विधाभिनयोद्भूतम्' अर्थात् चार प्रकार के अभिनय वाले । चार प्रकार के अभिनय के लिए पीछे ३८ संख्या वाली गणदास की उक्ति पर टिप्पणी देखिए । **दुष्प्रयोज्यम्** = दुःखेन प्रयोक्तुम् शक्यम् दुस् + प्र + √युज् [लगाना] + अ [कृत्य प्र०] कठिनाई से अभिनय किये जाने योग्य । **उदाहरन्ति**=उद् + आ + √हृ [भ्वा० हरना] + लट् प्र० व० ब०=कहते हैं अर्थात् इस नृत्य का करना बड़ा कठिन बताया जाता है । **तत्र+एकार्थ-संश्रयम्**=एकः अर्थः [प्रयोज्य वस्तु] संश्रयः यस्य स तथाभूतम् [ब० व्री०] एक वस्तु से सम्बन्ध रखने वाली, एक वस्तु पर आधारित । **प्रयोगम्** = अभिनय, प्रदर्शन को । **पश्यामः** = देखेंगे । **तावता**= तावत् शब्द का तृ० एकव० = उतने से । **ज्ञायते** = √ज्ञा [क्र्या० जानना] + लट् कर्मवाच्य = जाना जायगा, पता चल जायगा । **पश्यामः ज्ञायते**— यहाँ समीपवर्ती भविष्य काल में वर्तमान काल का प्रयोग हुआ है, देखिए पाणिनि-नियम— वर्तमान-सामीप्ये वर्तमानवद् वा ३/३ १३१ । **एव + अत्रभवतोः + उपदेशान्तरम्**=**उपदेशस्य अन्तरम्**=उपदेश अर्थात् पढ़ाने-सिखाने का अन्तर, भेद । इतना मात्र अभिनय दिखाने से मालूम हो जायगा कि किस आचार्य का पढ़ाना-सिखाना बढ़िया है और किसका घटिया ।

का [सिखाया हुआ] अभिनय देख लेते है । उतने से ही पता चल जायगा कि दोनों की शिक्षा में कितना अन्तर है ?

१३१ उभौ—यदाज्ञापयति भगवती ।

१३२ विदूषकः—तेण हि दुवे वि वग्गा पेक्खाघरए सङ्गीदरअणं कदुअ अत्तहोदो दूदं पेसअन्दु । अहवा मिअङ्गसद्दो एव्व णो उट्ठावइस्सदि । [तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे सङ्गीतरचनां कृत्वात्रभवतो दूतं प्रेषयतम् अथवा मृदङ्गशब्द एव न उत्थापयिष्यति ।]

१३३ हरदत्तः—तथा । (इत्युत्तिष्ठति) [गणदासो देवीं विलोकयति]

१३१—यत् + आज्ञापयति आ + √ज्ञा [क्र्या० जानना] + णिच् + लट् प्र० ए० जैसे भगवती आज्ञा दें ।

१३२—द्वौ + अपि = द्वावपि । **वर्गौ** = दोनों पक्ष अर्थात् पार्टियाँ । **प्रेक्षागृहे**=रङ्गमञ्च पर, संगीत-शाला में । **संगीतस्य रचना ताम्** (ष० त०) संगीत का प्रबन्ध, नाच-गाने की तैयारी । **कृत्वा + अत्रभवतः** = करके महाराज के पास । **दूतम्** = किसी नौकर को । **प्रेषयतम्** = भेज दो । **मृदङ्गस्य शब्दः** [ष० त] मृदंग की ध्वनि । मृदंग तबलों के नमूने का एक ढोलक-जैसा वाद्य होता है । **नः + उत्थापयिष्यति**=उत् +√ स्था (भ्वा० बैठना) + णिच् + लृट् प्र० पु० ए० व० हम लोगों को उठने के लिए प्रेरणा करेगी अर्थात् जब मृदंग की धमक हम सुनेंगे, तो हम अपने आप ही उठ कर देखने चले जाएँगे । देखिए गौतम छोटा-छोटा निर्देश भी दे रहा है इस डर के मारे कि कहीं इस बीच में रानी बना-बनाया खेल न बिगाड़ दे ।

१३३ इति + उत्तिष्ठति = यह कह कर खड़ा हो जाता है ।

---

१३१ दोनों – जैसी भगवती की आज्ञा ।

१३२ विदूषक—तो दोनों ही पक्ष [पार्टियाँ] रंगमंच पर संगीत का प्रबन्ध करके [सूचनार्थ] महाराज के पास दूत भेज दें कि सब ठीक-ठाक है अथवा मृदंग की ध्वनि ही हम लोगों को उठ पड़ने की प्रेरणा कर देगी ।

१३३ हरदत्त—ठीक है । (उठता है) [गणदास रानी की ओर देखता है ।]

१३४ देवी—ण खु विअअपच्चत्थिणी अहं अज्जस्स। विअई होहि।
[न खलु विजयप्रत्यर्थिन्यहमार्यस्य। विजयी भव।]

[उभौ प्रस्थितौ]

१३५ परिव्राजिका—इतस्तावदाचार्यौ।

१३६ उभौ [परिवृत्य] इमौ स्वः।

१३७ परिव्राजिका— निर्णयाधिकारे ब्रवीमि। सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये

---

१३४ विजयस्य प्रत्यर्थिनी [ष० तत्पु०] प्रति + √अर्थ [चु० मांगना] + इन् [णिनि कर्तरि] + ई [स्त्री] विरोध करने वाली, विरोधिनी। रानी यहाँ अपने विरोध की व्याख्या कर ही देती है अर्थात् वह गणदास को विश्वास दिलाती है कि उसके ना करने का कारण यह नहीं था कि वह अपने आचार्य की प्रतिष्ठा नहीं देखना चाहती, किन्तु उसका कारण व्यक्तिगत था जिसे वह सबके सामने बताना नहीं चाहती थी अर्थात् राजा को मालविका देखने का अवसर न देना। अब जब प्रदर्शन ठहर ही गया, तब वह विजयमाला अपने ही आचार्य के गले में पड़ी हुई देखना चाहती है।

१३५ इतः + तावत् आचार्यौ=इधर आयें दोनों आचार्य।

१३७ निर्णयस्य अधिकारः [ष० तत्पु०] तस्मिन् स्थिता इति शेषः। क्योंकि निर्णय देने का अधिकार मुझे मिला है, इसलिए निर्णायक के रूप में।

---

१३४ देवी—सचमुच मैं आपके विजय की विरोधिनी नहीं हूँ। आप विजयी बनें।

[दोनों आचार्य चल पड़ते हैं]

१३५ परिव्राजिका—आचार्यो! इधर तो सुनिए।

१३६ दोनों आचार्य—[लौट कर] कहिए हम दोनों ये [आ गये] हैं।

१३७ परिव्राजिका-क्योंकि निर्णय का अधिकार मुझे मिला है, इसलिए मैं

विरलनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु।

१३८ आचार्यौ— नेदमावयोरुपदेश्यम्। (इति निष्क्रान्तौ)

१३९ देवी (राजानमवलोक्य)— जइ राअकज्जेसु वि ईरिसी उवाअ-

ब्रवीमि=कहती हूँ। सर्वेषाम् अङ्गानां सौष्ठवस्य अभिव्यक्तिः तस्यै प० त०] सभी अङ्गों का सौन्दर्य साफ-साफ दिखाई देने के लिए। अंगों से यहाँ शरीर के अंग और नाटच के अंग दोनों लिए जाते हैं। विरलं नेपथ्यं ययो [ब० व्री०] तादृशयोः पात्रयोः प्रवेश + अस्तु; अर्थात् अपनी-अपनी शिष्याओं को बहुत सजा-धजा कर न रखें, क्योंकि बहुत साज-सज्जा में उनके अंग ढके रह जायेंगे जिनसे उनका सौष्ठव स्पष्ट नहीं हो सकेगा, साथ ही बहुत सज्जा के भार से वे नाटच के सभी अंगों को अच्छी तरह न दिखा सकेंगी। वास्तव में परिव्राजिका का मालविका को 'विरल नेपथ्य' में लाने का अभिप्राय यह है कि राजा उसका सर्वांग-सौंदर्य भली भाँति देख ले और पहली ही नजर में उस पर मोहित हो जाय।

१३८ न + इदम् + आवयोः + उपदेश्यम् = हमें इस बात का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं। आचार्य स्वयं जानते ही हैं कि अधिक वेष-भूषा नृत्य में बाधक हुआ करती हैं।

१३९ राजकार्येषु + अपि + ईदृशी + उपायनिपुणता + आर्यपुत्रस्य। राज्ञः कार्याणि तेषु (ष० तत्पु०) अपि=राज-सम्बन्धी कार्यों में भी। ईदृशी= ऐसी उपायेषु निपुणता (ष० तत्पु०) उपायों अर्थात् उपाय-चिन्तन में निपु-

---

कहती हूँ कि अपने पात्रों को अधिक सजा-धजा कर न लाएँ जिससे [शरीर और नाटच के] सभी अंगों का सौन्दर्य अभिव्यक्त हो जाय।

१३८ दोनों आचार्य— यह हमें उपदेश देने की बात नहीं।

(दोनों चले जाते हैं)

१३९ देवी—(राजा को देख कर) यदि आर्यपुत्र की राज्य-कार्यों में

णिउगदा अज्जउत्तस्स तदा सोहणं हवे। [(राजानमवलोक्य) यदि राजकार्येष्वपीदृश्युपायनिपुणतार्यपुत्रस्य तदा शोभनं भवेत्।]

१४० राजा—देवि !

अलमन्यथा गृहीत्वा न खलु मनस्विनि ! मया प्रयुक्तमिदम्।

णता = चतुराई। रानी को राजा को फटकारने का अच्छा अवसर मिला है। वह इस सारे षड्यन्त्र का मूल-कारण राजा को ही समझती है और आश्चर्य प्रकट करती है कि राजा का उद्भावक मस्तिष्क जिस तरह अन्तःपुर के प्रणय-व्यापारों में काम कर रहा है, उसी तरह यदि राजनीतिक कार्यों में भी कार्य करता, तो राज्य का कितना कल्याण होता ! वास्तव में रानी ने चिढ़ कर ही राजा के जीवन के राजनैतिक पहलू पर यह गलत आक्षेप किया है, अन्यथा राजा का मस्तिष्क राजनैतिक कार्यों में भी बड़ा सचेत और जागरूक है जैसा कि हम पीछे मन्त्री के साथ राजा के विदर्भ-नरेश-सम्बन्धी वार्तालाप में देख आये हैं।

१४० अलम्०—अन्वयः—अन्यथा गृहीत्वा अलम्; मनस्विनि ! इदं मया न खलु प्रयुक्तम्; समान-विद्याः प्रायः परस्परयशः-पुरोभागाः (भवन्ति)।

[आर्या]

अन्यथा गृहीत्वा अलम् = अलम् (अव्यय) के साथ क्त्वान्त क्रिया निषेध बताती है—यह हम पीछे देख ही आये हैं। ग्रहण का अर्थ यहाँ ज्ञान है। अन्यथा = और ही तरह अर्थात् गलत मत समझो रानी। प्रशस्तं मनः अस्याः अस्तीति मनस् + विन् (प्रशस्तार्थ में) + ई स्त्री० तत्सम्बुद्धौ हे मनस्विनि, हे प्रशस्त, ऊँचे मन वाली, मानिनी, आत्माभिमानिनी। इदम् =

सम्बन्ध में भी इसी तरह उपायों (के सोचने) में निपुणता होती, तो कितना अच्छा होता !

१४० राजा—देवी !

कुछ और ही मत समझ बैठो। हे मानिनी ! सचमुच इसमें मेरा कोई

प्रायः समानविद्याः परस्परयशःपुरोभागाः ॥२०॥

(नेपथ्ये मृदङ्गशब्दः । सर्वे कर्णौ ददति)

१४१ परिव्राजिका—हन्त प्रवृत्तं सङ्गीतकम् । तथा ह्येषा

यह सब कुछ अर्थात् नृत्य-प्रदर्शन । मया···प्रयुक्तम् = मेरी योजना नहीं है, इसमें मेरा हाथ नहीं है । समान० = समाना (एका) विद्या येषां ते तथोक्ताः (ब० व्री०) एक-सी विद्या वाले अर्थात् जो लोग एक ही विद्या, एक ही कला को जानते हैं, वे प्रायः परस्परस्य यशसः पुरोभागाः (ष० तत्पु०) । पुरः भागो येषां ते (ब० व्री०) = एक दूसरे की प्रतिष्ठा पर, नाम पर, गौरव पर पुरोभाग = दोष लगाने वाले, नाक-भौं सिकोड़ने वाले होते हैं; देखिए अमरकोष–'दोषैकदृक् पुरोभागः' दोष ही, बुराई ही देखने वाला पुरोभाग होता है । हम मानव स्वभाव में पाते हैं कि जो एक-जैसी विद्या को जानते हैं, वे परस्पर एक-दूसरे से ईर्ष्या-द्वेष रखते हैं और एक-दूसरे की प्रतिष्ठा को नहीं सह सकते । गणदास और हरदत्त—दोनों नाट्याचार्य हैं, इस लिए वे स्वयं यदि एक-दूसरे की निन्दा करें, तो यह स्वाभाविक ही है । इस सम्बन्ध में माघ का कथन भी देखिए —'पर-वृद्धि-मत्सरि मनो हि मानिनाम्' शिशु० । पर रानी के आगे यह सारी दलील पोची, नकली ही सिद्ध होती है । वह बड़ी समझदार है और गहराई टटोलती है ।

१४१—हन्त (अव्यय) प्रसन्नता की बात है ! संगीतम् एव संगीतकम् स्वार्थे क प्रत्यय । हि + एषा=ह्येषा । हि (अव्यय) क्योंकि ।

हाथ नहीं है । जिनमें एक-सी विद्या होती है, वे प्रायः एक-दूसरे की प्रतिष्ठा पर नाक-भौं सिकोड़ा ही करते हैं ॥ २० ॥

(नेपथ्य में मृदंग का शब्द होता है । सब सुनते हैं)

१४१ परिव्राजिका—ओ ! संगीत आरम्भ हो गया है, क्योंकि यह—

जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरै-
रुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य ।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था
मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥२१॥

जीमूत०=अन्वयः—जीमूत-स्तनित-विशङ्किभिः उद्ग्रीवैः मयूरैः अनुरसितस्य पुष्करस्य निर्ह्रादिनी उपहित-मध्यम-स्वरोत्था मायूरी मार्जना मनांसि मदयति । (प्रहर्षिणी)

जीमूतस्य=जो=जलस्य मूतः=थैला जीमूतः (मेघः) तस्य स्तनितं विशङ्कन्ते इति तैः=बादल की गर्जना की शंका करने वाले, मृदंग की आवाज को गलती से मेघ की गर्जना समझते हुए । उद्=ऊर्ध्वं ग्रीवा येषां ते तथोक्ताः (बहुव्री०) गर्दन ऊपर उठाये हुए, उत्कंठित । मयूरैः=मोरों द्वारा । अनुरसितस्य=अनु+√रस् (भ्वा० शब्द करना)+त (क्त कर्मणि ष० ए०=अनुध्वानित अर्थात् जवाब में अपने केका शब्द द्वारा गुँजाया जाता हुआ । संस्कृत-साहित्य में यह प्रसिद्ध है कि मेघ-गर्जना सुनकर मयूर बड़े प्रसन्न होते हैं और स्वयं भी शब्द करते हुए नाचने लगते हैं । मेघदूत में भी कालिदास ने मयूरों की अपनी केका-ध्वनि द्वारा मेघों का स्वागत करते हुए यों उल्लिखित किया है:—

शुक्लापाङ्गैः सजल-नयनैः स्वागतीकृत्य केकाः,
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत् । [पू० मे०२२]

पुष्करस्य=मृदंग की । निर्ह्रादिनी=निःशेषेण ह्रादते इति निर् +√ह्राद् (भ्वा० आ० शब्द करना) + इन् + ई (स्त्री०) खूब गूँजने वाली । गंभीर शब्द

मृदंग घहराती हुई मायूरी-नामक थाप, जो मिले हुए मध्यम स्वर से उठ रही है और 'यह मेघ की गर्जना है, ऐसा (गलती से) समझ कर मोर भी जिसके पीछे गर्दन ऊपर किए हुए बोल रहे हैं, मन को विभोर किए जा रही है ॥२१॥

१४२ राजा—देवि सामाजिका भवामः।

१४३ देवी (स्वगतम्)—अहो अविणओ अज्जउत्तस्स। [(स्वगतम्) अहो अविनय आर्यपुत्रस्य।] (सर्वे उत्तिष्ठन्ति)

वाली, घहराती। उपहित०=उपहितः=(योजितः) यः मध्यमः स्वरः तस्मात् उत्तिष्ठतीति। (बाजों से) मिलाए हुए मध्यम स्वर से पैदा हुई। संगीत-शास्त्र के अनुसार स्वर सा-रे-ग-म-प-ध-नि (षड्ज-ऋषभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषाद) ये सात होते हैं। अन्य बाजों से मिलाए हुए मृदंग की थाप मध्यम स्वर से उठ रही है। मायूरी=इस नाम की। मार्जना=थाप, गमक, ध्वनि। मृदंग की इस जाति की थाप को मायूरी इसलिए कहते हैं कि उससे मोर मस्त हो जाते हैं। मनांसि=सुनने वालों के मनों को। मदयति=√मद् (दि० मस्त होना) + णिच् + लट् = मस्त, आनन्द-विभोर कर देती है। मन को मुग्ध कर देने वाली मृदंग की मध्यम स्वर की थाप से पता लग जाता है कि प्रतियोगिता की तैयारी ठीक-ठाक हो गई है। संगीत की इन बारीकियों के उल्लेख से सिद्ध होता है कि कालिदास संगीतशास्त्र में भी सुनिपुण थे।

१४२ सामाजिकाः = समाजम् समवयन्तीति—समाज + अक (ठक्) = सभ्य, समाज (audience) के सदस्य, द्रष्टागण। मृदङ्ग की थाप सुनते ही चल पड़ने से राजा की मालविका को देखने के लिए अधीरता अभिव्यक्त होती है।

१४३ अविनयः—न विनयः नञ्० त० धृष्टता, ढिठाई। रानी को राजा की यह धृष्टता ही लग रही है कि वे उनकी एक दासी के प्रति इस तरह मुग्ध हो रहे हैं और इसे वह अपना अपमान समझ रही है। अपवार्य = यह नाट्य

---

१४२ राजा—देवी! (चलिए) हम (अब) द्रष्टा-गण बनें।

१४३ देवी—(मन-ही-मन) आश्चर्य है कि आर्यपुत्र की यह कितनी ढिठाई है। (सब के सब उठ जाते हैं)

१४४ विदूषकः (अपवार्य)—भो वअस्स धीरं गच्छ। मा तत्तहोदी धारिणी विसंवादइस्सदि। [(अपवार्य) भो वयस्य धीरं गच्छ। मा तत्रभवती धारिणी विसंवादयिष्यति।]

१४५ राजा—

धैर्यावलम्बिनमपि त्वरयति मां मुरजवाद्यरागोऽयम्।

शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। इसे अपवारितम् भी कहते हैं। जब कोई पात्र किसी से कोई गुप्त बात करना चाहता है, तब वह अन्यों से पीठ फेर कर बोलता है। इस सम्बन्ध में देखिए साहित्यदर्पण—'तद् भवेद् अपवारितम्। रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते।' VI—१८८। यह 'जनान्तिक' में हुई बात-चीत से और अधिक गुप्त हुआ करती है।

१४४ विसंवा० वि + सम् + √वद् (भ्वा० बोलना) + णिच् + लृट्= विपरीत कर देगी, गड़बड़ कर देगी। विदूषक राजा को समझा रहा है कि अधिक अधीर होने की आवश्यकता नहीं, अन्यथा भंडाफोड़ हो जाएगा।

१४५ धैर्या०=अन्वय—अयं मुरज-वाद्य-रागः सिद्धि-पथम् अवतरतः स्व-मनोरथस्य शब्दः इव धैर्यावलम्बिनम् अपि मां त्वरयति। (आर्या)

अयम् = यह। मुरज एव वाद्यं तस्य रागः = मृदङ्ग बाजे की धुन। सिद्धेः पन्थाः (ष० त० सम्, पथिन् शब्द को समास में 'टच्' हो जाता है और वह अकारान्त होकर राम शब्द की तरह चलता है)। सफलता के मार्ग पर। अवतरतः=अव+√तृ (भ्वा० तरना)+शतृ षष्ठी ए० व० उतरते हुए।

---

१४४ विदूषक—(अलग) मित्र, धीरे-धीरे चलिए। कहीं धारिणीजी (अब भी) गड़बड़ न कर बैठें।

१४५ राजा—यद्यपि मैं धीरज रख ही रहा हूँ, फिर भी मृदंग बाजे का यह राग मुझे ऐसा लग रहा है जैसा कि सफलता के मार्ग पर उतरते हुए मेरे

अवतरतः सिद्धिपथं शब्दः स्व-मनोरथस्येव ॥२२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ इति प्रथमोऽङ्कः ॥

स्वः मनोरथः तस्य (कर्मधा०) अपने मनोरथ (इच्छा) के। **शब्द इव** = शब्द की तरह। **धैर्याव०=धैर्यम् अवलम्बते इति 'धैर्यावलम्बी तस्य** = धैर्य रखते हुए भी **मां**। **त्वरयति**√त्वर् (भ्वा० जल्दी करना +णिच् + लट्, मुझसे त्वरा (शीघ्रता) करा रहा है। राजा को मृदंग की थाप ऐसी लग रही है मानो वह सिद्धि के मार्ग पर उतरते हुए अपने ही मनोरथ का शब्द हो और यही कारण है कि वह धीरज रखते हुए भी सिद्धि (मालविका-दर्शन) के लिए उतावला हो रहा है।

॥ प्रथम अंक समाप्त ॥

ही मनोरथ का शब्द हो और वही मुझ में उतावली पैदा कर रहा हो ॥२२॥

(सब के सब चल पड़ते हैं)

॥ प्रथम अंक समाप्त ॥

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति सङ्गीतरचनायां कृतायामासनस्थः सवयस्यो राजा धारिणी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः)

१ राजा—भगवति, अत्रभवतोराचार्ययोः कतरस्य प्रथममुपदेशं द्रक्ष्यामः।

२ परिव्राजिका—ननु समानेऽपि ज्ञानवृद्धभावे वयोवृद्धत्वाद् गणदासः पुरस्कारमर्हति।

ततः संगीतस्य रचना तस्यां (प० तत्पु०) (संगीत का प्रबन्ध) कृतायाम्=किये जाने पर (सति सप्तमी=Absolute phrase)। आसनस्थ.=आसने तिष्ठतीति आसन+√स्था (भ्वा० बैठना)+अ (क-कर्तरि। (उपपद तत्पु०) आसन पर बैठा हुआ। वयस्येन सह वर्तमानः (ब० व्री०) मित्र गौतम-सहित। विभवतः=अपने-अपने पदानुसार।

१ अत्रभवतोः+आचार्ययोः=मान्य दोनों आचार्यों में से। कतरस्य=किम्+तर=किस एक का। प्रथमम् (क्रियावि०)=पहले। उपदेशम्=शिक्षा। द्रक्ष्यया०=√दृश् (भ्वा० देखना)+लृट् उ० एक०=देखेंगे।

२ ज्ञानेन वृद्धः (तृ० तत्पु०) तस्य भावे=ज्ञान की वृद्धता के अर्थात् नाट्य-शास्त्र के बढ़े-चढ़े ज्ञान के। समानेऽपि=बराबर होने पर भी (सति

दूसरा अङ्क

(संगीत का प्रबन्ध हो चुकने पर अपने मित्र (विदूषक) सहित राजा, धारिणी, परिव्राजिका तथा नौकर-चाकर अपने-अपने पदानुसार आसनों पर बैठे दिखाई देते हैं।)

१ राजा—भगवती! दोनों आचार्यों में से पहले किसका प्रदर्शन देखेंगे?

२ परिव्राजिका—यद्यपि (नाट्य-शास्त्र के) ज्ञान में दोनों एक-जैसे बढ़े-चढ़े हैं, फिर भी अवस्था में गणदास बड़े हैं, इसलिए उन्हें ही प्राथमिकता देनी चाहिए।

३ राजा—तेन हि मौद्गल्य, एवमत्रभवतोरावेद्य स्वनियोगमशून्यं कुरु।

४ कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः।)

५ (प्रविश्य) गणदासः—देव, शर्मिष्ठायाः कृतिर्लयमध्या चतुष्पदा। तस्याश्चतुर्थवस्तुकं प्रयोगमेकमनाः श्रोतुमर्हति देवः।

सप्तमी)। वयसा वृद्धः (तृ० त० तस्य भावः वयोवृद्धत्वम् तस्मात् =आयु में बड़ा होने के कारण। पुरस्कारम्=पुरः+√कृ + अ (घञ् भावे) प्राथमिकता (Priority प्रथम अवसर के। अर्हति=योग्य हैं अर्थात् उन्हें पहले नृत्य दिखाने का अवसर दिया जाना चाहिए। यह भी षड्यन्त्र का भाग ही समझिए कि पहले गणदास को कला-प्रदर्शन का अवसर दिया जा रहा है।

३ मौद्गल्य=यह कञ्चुकी का नाम है। एवम् अत्रभवतोः+आवेद्य =आ+√विद् (अदा० जानना) + णिच् + ल्यप्=इस तरह इन दोनों आचार्यों को बता कर अर्थात् गणदास पहले अपनी कला दिखलायेंगे यह सूचित करके। स्वस्य नियोगम्=नियुज्यते अस्मिन् इति नियोगः=कार्यं सेवास्थानं वा तत्= अपने काम को। अशून्यम्=न शून्यम् (नञ्-तत्पु०) कुरु=शून्य न करो अर्थात् अपना काम करो। जब किसी नौकर को अपने सामने से हटाना हो, तो कहने का यही तरीका है—'त्वं स्वनियोगम् अशून्यम् कुरु'=जाओ, अपना काम देखो। यह एक मुहाविरा है।

५ शर्मिष्ठायाः कृतिः=शर्मिष्ठा की रचना। शर्मिष्ठा राक्षसराज वृषपर्वा की पुत्री और राजा ययाति की द्वितीय पत्नी थी, जिसे राजा ने

---

३ राजा—तो मौद्गल्य ! इन दोनों आचार्यों को यह बात बता कर तुम अपना काम करो।

४ कञ्चुकी—जैसी देव की आज्ञा। (चला जाता है)

(गणदास आता है)

५ गणदास—महाराज, शर्मिष्ठा की बनाई हुई मध्य-लय वाली चौपदी है। उसकी चौथी वस्तु का एकाग्र-चित्त होकर महाराज अभिनय सुनें।

६ राजा—आचार्यबहुमानादवहितोऽस्मि । (निष्क्रान्तो गणदासः) (जनान्तिकम्)- वयस्य !

पटरानी बना रखा था, देखिए शकुन्तला-नाटक "ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव"। लय-मध्या=लयेन (ताल-कालेन मध्या [मध्यमा] (तृतीया तत्पुरुष)=लय में मध्यम, मध्यम लय में। लय गीत में ताल-काल अर्थात् ताल के मध्यवर्ती समय को कहते हैं, जिसका अंग्रेजी पर्याय रिदम् (Rhythm) है। यह तीन प्रकार का होता है--द्रुत, मध्यम और विलम्बित । शर्मिष्ठा की कृति श्रृंगार-रस की थी, इसलिए उसके लिए 'मध्य-लय' ही विहित है, देखिए नाट्यशास्त्र—"श्रृंगार-हास्ययोर्मध्य-लयः"। चतुष्पद=यह कृति का नाम है। इसमें चार पद होते हैं। अधिक के लिए प्रथम अंक की संख्या १३० देखिए। तस्याः=उस चतुष्पदा के। चतुर्थः=चतुर्थ वस्तु यस्मिन् तथाभूतं (ब० व्री०) चौथी वस्तु वाले। प्रयोगम्=अभिनय को। एकमनाः=एकस्मिन् एव वस्तुनि मनः अथवा एकं मनः यस्य सः (ब० व्री०) एकाग्रचित्त, सावधान होकर। श्रोतुम्+अर्हति देवः=आप सुनिए।

६ बहुः चासौ मानः बहुमानः (कर्मधारय) आचार्ये बहुमानः (स० तत्पु०) आचार्य (गणदास) के प्रति बहुत आदर-भाव होने के कारण। आचार्य शब्द से यहाँ शर्मिष्ठा भी ली जा सकती है, क्योंकि चतुष्पदा कृति की आचार्या वही है। राजा की चालाकी देखिए कि वह किस प्रकार अपनी तटस्थता दिखा रहा है। वह नृत्य को देखने के लिए इसलिए उत्सुक है कि उसका आचार्य गणदास के प्रति आदर-भाव है, न कि इसलिए कि नृत्य मालविका करेगी। अवहितः=अव+√धा+त (क्त कर्तरि) सावधान, एकाग्रचित्त।

जनान्तिकम्—इसकी व्याख्या के लिए प्रथम अंक की संख्या ११२ देखिए।

---

६ राजा—आचार्यजी के प्रति बहुत आदर-भाव होने के कारण मैं एकाग्रचित्त ही हूँ। (गणदास चला जाता है) [अलग] मित्र !

नेपथ्यगृहगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः ।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम् ॥ १ ॥

७ विदूषकः (अपवार्य)— **उवट्ठिदं णअणमहु । सण्णिहिदमक्खिअं अ ता अप्पमत्तो दाणिं पेहि ।** [(अपवार्य) उपस्थितं नयनमधु । संनिहितमक्षिकं च । तदप्रमत्त इदानीं पिब ।]

नेपथ्य०—**अन्वयः**—नेपथ्य-गृह-गतायाः तस्याः दर्शन-समुत्सकं मे चक्षुः अधीरतया तिरस्करिणीं संहर्तु व्यवसितम् इव । (आर्या)

नेपथ्यस्य गृहम् (ष० तत्पु०) **नेपथ्यगृहे गता** (स० तत्पु० =नेपथ्य-गृह (Dressing room) में स्थित । **तस्याः** उस (मालविका) के । **दर्शनाय समुत्सुकम् गृहम्** (च० तत्पु०) देखने के लिए उत्कंठित, लालायित । यहाँ 'तस्याः' शब्द का 'दर्शन' से सम्बन्ध होने के कारण यह भी कवि का असमर्थ समास है । मे चक्षुः=मेरी आँख । **अधीरस्य भावः अधीरता तया**=अधीर होने के कारण । **तिरस्करिणीम्**=यवनिका को, पर्दे को । **संहर्तुम्**=सम्+√हृ (भ्वा० हरना)+तुम्=हटाने के लिए । **व्यवसितम् इव**=वि=अव√सो (दि० समाप्त करना)+त (क्त कर्तरि) तैयार—जैसी हुई बैठी है, चेष्टा-सी कर रही है । राजा की मालविका को देखने की अधीरता देखिए कितनी बढ़ी हुई है । उसकी मानस-चक्षु परदे को उठा कर नेपथ्य-गृह में स्थित मालविका को झाँकने के लिए लालायित है जैसा कि हरेक नवयुवक में पाया जाता है ।

नयनयोः मधु (स० तत्पु०)=आँखों की शहद, शहद-जैसी मीठी वस्तु अर्थात् मालविका । सभी नायक अपनी प्रियतमा के साक्षात्कार का मादक

नेपथ्य-गृह में स्थित उसे (मालविका को) देखने के लिए उत्कण्ठित हुई मेरी आँख अधीरता के कारण परदे को हटा देने के लिए तैयार-जैसी हो बैठी है ॥१॥

७ विदूषक—(अलग) लो. (आपकी) आँखों की शहद आ गई है,

(ततः प्रविशत्याचार्यप्रत्यवेक्ष्यमाणाङ्गसौष्ठवा मालविका)

प्रभाव ऐसी ही बढ़ा-चढ़ा भाषा में किया करते हैं, देखिए भवभूति को "इयममृत-वर्तिर्नयनयोः" (उत्तररामच० १।३८) कालिदास ने शकुन्तला के साक्षात्कार पर भी यों कहा था—'अहो लब्धं नेत्र-निर्वाणम्'। उपस्थितम् = आ गया है। सन्निहिता मक्षिका यस्य तत् (ब० व्री०) पास में ही जिसके मक्खी भी बैठी हुई है। मक्खी से यहाँ रानी धारिणी की ओर संकेत हैं, क्योंकि वह राजा को मधु नहीं छूने देगी, वह मधु की रक्षक है, तत्काल डंक मार देगी। तत् = तस्मात् कारणात्, इसलिए। अप्रमत्तः=न प्रमत्तः अप्रमत्तः = सावधान, चौकस, चौकन्ना। पिब = पीजिएगा।

ततः प्रविशति आचार्य० = आचार्येण प्रत्यवेक्ष्यमाणम् = प्रति + अव + √ईक्ष् (भ्वा० देखना) + शानच् (कर्मणि) अङ्गानां सौष्ठवं यस्याः सा तथोक्ता (ब० व्री०) जिसके अंगों की सौष्ठवपूर्ण विलास की देख-भाल आचार्य द्वारा की जा रही है, सौष्ठव का मतलब यहाँ विलास या विलास-पूर्ण अंग लेना चाहिए, देखिए नाट्यशास्त्र—'कटी कर्णसमा यत्र कर्परां-सशिरस्तथा। समुन्नतमुरश्चैव सौष्ठवं नाम तद् भवेत्'। देखिए कवि किस चतुराई के साथ षड्यन्त्र के विकास में गणदास के स्वार्थ का दोहन कर रहा है। गणदास अपनी शिष्या की सफलता के लिए उसे रंगमंच पर इस प्रकार पेश करना चाहता है कि उसका प्रथम साक्षात्कार ही प्रभावक बन जाय। उस बेचारे को क्या पता कि राजा उसकी शिष्या को देखते ही उसका शिकार बन जायगा।

परन्तु उसके पास ही मक्खी भी बैठी हुई है, इसलिए इस समय जरा सावधानी से पीजिएगा।

(मालविका प्रवेश करती है जिसके अंगों के विलास की देख-भाल आचार्य कर रहे हैं)

८ विदूषकः (जनान्तिकम्)—पेक्खदु भवं। ण खु से पडिच्छन्दादो परिहीअदि महुरदा। [प्रेक्षतां भवान्। खल्वस्याः प्रतिच्छन्दात् परिहीयते मधुरता।]

९ राजा (जनान्तिकम्)—वयस्य !

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशंकि मे हृदयम्।
संप्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ॥ २ ॥

---

८ प्रेक्षताम् =प्र + √ईक्ष् (भ्वा० देखना) + लोट् प्र० एक० देखिए। खलु + अस्याः मधुरता = वास्तव में इसकी सुन्दरता। प्रतिच्छन्दात् = चित्र से। न परिहीयते = परि + √हा (जु० छोड़ना) + लट् (कर्मवाच्य) घट कर नहीं है, कम नहीं है। देखा जाता है कि चित्र में सुन्दरता असली से बढ़-चढ़ कर ही दिखलाई जाती है, परन्तु प्रकृति में मालविका की सुन्दरता वैसी ही मोहक है जैसी चित्र में और ऐसी हालत में वह राजा के मन में विपरीत प्रभाव क्यों कर डालेगी।

९ चित्रगतायां – अन्वयः—मे हृदयम् चित्रगतायाम् अस्यां कान्ति-विसंवाद-शङ्कि [अभूत्] सम्प्रति येन इयम् आलिखिता (तं) शिथिल-समाधिं मन्ये। [आर्या]

मे हृदयम् = मेरा मन। चित्र० = चित्रे गता तस्याम् (स० त०) चित्र में स्थित। अस्याम् = इस (मालविका) में। कान्ते विसंवादः (ष० तत्पु०)= विपर्यासः तं शंकते इति तथोक्तम् = सुन्दरता के विपर्यास –वैपरीत्य—की शंका कर रहा था अर्थात् जब मैंने चित्र में इसकी सुन्दरता देखी, तब मुझे सन्देह होता था कि जैसी सुन्दरता चित्र में है वैसी असल में क्या ही होगी। मैं समझ रहा

---

८ विदूषक—(अलग) देखिए सचमुच इसकी मधुरता चित्र से कम नहीं है।

९ राजा—(अलग) वयस्य !

चित्र में इसकी सुन्दरता के सम्बन्ध में मेरा मन शंका कर रहा था

१० गणदासः—वत्से ! मुक्तसाध्वसा सत्त्वस्था भव।

था कि चित्र में दी गई सुन्दरता चित्रकार की ही तूलिका का चमत्कार होगी। किन्तु सम्प्रति = इस समय जबकि वह मेरी आँखों के सामने खड़ी है। येन = जिस [चित्रकार] ने। इयम्=यह मालविका। आलिखिता = चित्रित की है अर्थात् जिसने इसकी तस्वीर बनाई है, तम् = उसे मैं, शिथिल० = शिथिलः समाधिः= चित्तस्यैकाग्रता, ध्यानम् यस्य स तथोक्तम् (ब० व्री०) = मन की ढीली-ढाली एकाग्रता वाला। मन्ये = मानता हूँ, समझता हूँ, अर्थात् चित्र बनाने वाले ने जब इसका चित्र बनाया होगा, तब उसने ठीक ध्यान से काम नहीं किया। यह तो बहुत ही सुन्दर है। इसके चित्रकार ने पूरा-पूरा सौन्दर्य न उतार कर अन्याय ही किया है। वास्तव में मालविका के सौन्दर्य से स्वयं चित्रकार चकरा गया होगा और अपना ध्यान खो बैठा होगा। उर्दू—कवि जौक के शब्दों में :—

शक्ल तो देखो मुसव्विर खींचेगा तस्वीरे-यार !
आप ही तस्वीर उसको देख कर हो जायेगा।

१० वत्से = वत्सा शब्द के सम्बोधन का एकवचन = बेटी। मुक्तम् = त्यक्तम् साध्वसम् = भयं यया तथाभूता (ब० व्री०) = भय त्यागे हुए, निर्भय। सत्त्वस्था = सत्त्वे तिष्ठतीति सत्त्व + स्था + अ (क कर्तरि) (उपपद (तत्पु०) सत्त्व मन की निर्विकार स्थिति को कहते हैं, देखिये—'चित्तस्याविकृतिः सत्त्वम्'। यह मन की शान्त, संतुलित, स्वाभाविक अवस्था भी कहलाती है। पहले-पहल मञ्च पर आने पर सभी का मन घबरा उठता है, इसलिए गणदास मालविका को ठीक-ठीक रहने का उपदेश दे रहा है।

कि यह इतनी सुन्दर क्या ही होगी ? परन्तु अब (जबकि मैं इसे साक्षात् देख रहा हूँ) मैं सोचता हूँ कि जिसने इसका चित्र बनाया है, उसने ठीक ध्यान से काम नहीं किया ॥ २ ॥

१० गणदास – बेटी, घबराओ मत, ठीक-ठीक रहो।

११ राजा (आत्मगतम्)—अहो सर्वस्थानानवद्यता रूपस्य। तथाहि

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः,
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।

---

११ अहो = आश्चर्य-बोधक अव्यय। सर्वेषु स्थानेषु (अवयव-प्रदेशेषु) अनवद्यता (स० तत्पु०) न अवद्यता, अनवद्यता = अनिन्दनीयता, निर्दोषता; सभी अंगों की सुन्दरता में कोई कोर-कसर नहीं। अनवद्य 'अवद्यपण्य' इस पाणिनि नियम से अनियमित रूप से बना।

दीर्घाक्षम्०—अन्वयः—वदनं दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति च, बाहू अंसयोः नतौ, उरः निबिडोन्नतस्तनं संक्षिप्तं च, पार्श्वे प्रमृष्टे इव, मध्यः पाणिमितः, जघनं च अमितम्, पादौ अरालांगुलौ, नर्तयितुः मनसि यथा छन्दः तथा एव अस्याः वपुः श्लिष्टम्। (शार्दूलविक्रीडितम्)

वदनम् = मुख, चेहरा। दीर्घे अक्षिणी यस्य तथाभूतम् (ब० व्री०) बड़ी-बड़ी आँखों वाला। शरदः इन्दुः (ष० तत्पु०) तद्वत् कान्तिः यस्य तत् तथोक्तम् (ब० व्री०) = शरद्-ऋतु के चाँद की तरह कान्ति वाला अर्थात् चमकीला। बड़ी-बड़ी आँखों वाला और चाँद-सा चमकता चेहरा—यह पद्मिनी जाति की स्त्री की विशेषता हुआ करती है। भुजौ = दोनों भुजाएँ। अंसयोः = कन्धों पर। नतौ=झुकी हुई हैं। उरः = वक्षस्थल छाती। निबिडौ उन्नतौ च स्तनौ यस्मिन् तत् तथोक्तम् (बहुव्रीहि) घने = परस्पर

---

११ राजा—(अपने मन में) अरे, इसके तो सभी अंगों की सुन्दरता में (कोई भी) कोर-कसर नहीं क्योंकि—

इसकी बड़ी-बड़ी आँखों वाला शरद् के चाँद की तरह चमकता चेहरा, कन्धों पर झुकी हुई भुजाएँ, घने, ऊँचे उठे हुए कुचों से कसी हुई छाती, चिकनी कोखें, मुट्ठी से मापे जाने वाली कमर, भारी नितम्ब और नीचे की ओर

मध्यः पाणिमितोऽमितं च जघनं पादावरालाङ्गुली,
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः ॥ ३ ॥

संश्लिष्ट और उठे हुए स्तनों वाली (इसीलिए। **संक्षिप्तम्** = कसी हुई, ठोस। यह भी पद्मिनी का चिह्न है, देखिए रतिमंजरी—"अविरल-कुचयुग्मा पद्मिनी पद्मगन्धा"। **पार्श्वे**=कोखें (sides) **प्रमृष्टे इव**=प्र+√मृज् तु० साफ करना) + त (क्त कर्मणि) प्र० द्विव० = धुली हुई-सी, पालिश-जैसे की हुई, चिकनी-चिकनी। **मध्यः** =कमर। **पाणिना मितः** (तृ० तत्पु०) = हाथ से मापे जाने योग्य अर्थात् पतली। **जघनम्** = जांघ। **अमितम्** = न मापे जाने वाली अर्थात् विशाल, मोटी-मोटी। **पादौ** = दोनों पैर; **अरालाः** (वक्राः, संकुचिताः) अङ्गुलयो ययोः तथाभूतौ (व० व्री०)=कुछ टेढ़ी, कुछ नीचे की ओर झुकी हुई अँगुलियों वाले। **नर्तयितुः**=√नृत् (दि० नाचना) + णिच्+तृच् कर्तरि (षष्ठी एकव०)=नचाने वाले अर्थात् नाट्याचार्य गणदास के। **मनसि**=मन में। **यथा छन्दः**=जैसी इच्छा थी। **तथा एव**=उसी तरह। **अस्या वपुः**= इस (मालविका) का शरीर। **श्लिष्टम्**=जोड़ा गया, गढ़ा गया, बनाया गया है। यह राजा के मुँह से कालिदास का खींचा हुआ नृत्यांगना का एक ऐसा अनूठा शब्द-चित्र है, जो किसी भी कलाकार के वर्ण-चित्र को मात कर सकता है। कालिदास ने अपनी सभी नायिकाओं के ऐसे ही शब्द-चित्र खींचे हैं। कुमारसम्भव में पार्वती का, विक्रमोर्वशी में उर्वशी का, अभिज्ञान-शाकुन्तल में शकुन्तला का और मेघदूत में यक्षपत्नी का चित्रण विश्व-साहित्य में चूड़ान्त नैपुण्य की वस्तु है।

झुकी हुई अँगुलियों वाले पैर—(अभिप्राय यह कि) इसका सारा शरीर इस तरह गढ़ा हुआ है जैसा कि नाट्याचार्य (गणदास) चाहता ही होगा ॥३॥

१२ मालविका (उपगानं कृत्वा चतुष्पदं वस्तु गायति)—

दुल्लहो पियो मे तस्सिं भव हिअय णिरासं

अम्हो अपङ्गओ मे पप्फुरइ किं वि वामओ ।

---

१२ उपगानम्=गाने से पहले भरा जाने वाला आलाप । **कृत्वा**=भर कर । **चतुष्पदं वस्तु**=इसके लिए इसी अंक की संख्या ५ तथा प्रथम अंक की संख्या १३० देखिए ।

दुर्लभः०—अन्वयः—[हे] हृदय ! प्रियः मे दुर्लभः, तस्मिन् निराशं भव, अहो ! मे वामकः अपाङ्गकः किम् अपि प्रस्फुरति, एषः चिरदृष्टः सः कथम् उपनेतव्यः, [हे] नाथ, पराधीनां मां त्वयि सतृष्णाम् गणय । [रोला-छन्द]

[हे] **हृदय**=चित्त ! [सम्बोधन] **प्रियः मे दुर्लभः** = प्रियतम मेरे लिए प्राप्त करना कठिन है । **तस्मिन्** उस [प्रियतम] पर । **निराशम्**=निर्गता आशा यस्मात् तत् तथाभूतम् [बहुव्रीहि]=निराश । **भव**=हो जाओ । चलित नृत्य की इस गीति के सम्बन्ध में हम पिछले अंक (सं० ८) में बता आए हैं कि इसमें किसी ऐतिहासिक वृत्त के आधार पर अपनी ही व्यक्तिगत भावना अभिव्यक्त की जाती है । यह चौपदी शर्मिष्ठा की बनाई हुई है, इसलिए मूल-रूप में शर्मिष्ठा ययाति के आगे आत्म-प्रणय निवेदन कर रही है । अपनी सपत्नी देवयानी के रहते-रहते भला शर्मिष्ठा क्यों कर अपने प्रियतम को प्राप्त कर सकती है ? किन्तु गीति की यह बात मालविका की ओर भी लग जाती है । मालविका अग्निमित्र से प्रेम करती है, पर जब राजा की धारिणी और इरावती दो रानियाँ पहले ही विद्यमान हैं, तब उसका निराश होना स्वाभाविक ही ठहरा । अहो ! (अव्यय] आश्चर्य की बात है कि **मे**=मेरा । **वामकः**

---

१२ मालविका—[आलाप भर कर चौपदी-वस्तु गाती है]—

दुर्लभ है प्रियतम, अब छोड़ हृदय ! तू उसकी आशा,

अहो फड़कती बाईं कनखी, बँधती है कुछ आशा;

एसो सो चिरदिट्ठो कहं उवणइदव्वो
णाह मं पराहीणं तुइ गणअ सतिण्हं ॥ ४ ॥
[दुर्लभः प्रियो मे तस्मिन् भव हृदय निराशम्
अहो अपाङ्गको मे प्रस्फुरति किमपि वामकः ।
एष च चिरदृष्टः कथमुपनेतव्यो
नाथ मां पराधीनां त्वयि गणय सतृष्णाम् ॥]

(इति यथारसमभिनयति)

= वाम एव वामकः वाम + क (स्वार्थ) बायाँ। अपाङ्गक = अपाङ्ग एव अपाङ्गकः (स्वार्थे क) नेत्रप्रान्त, आँख का कोना, कनखी। किमपि=पता नहीं क्यों। प्रस्फुरति = फड़क रही है. अर्थात् इससे कुछ आशा बँध रही है। स्त्रियों का बायाँ अंग फड़कना शुभ-चिह्न माना गया है, देखिए —'वामभागस्तु नारीणां पुंसां श्रेष्ठस्तु दक्षिण। वामाक्षि-स्फुरणं तत्र शान्तिदं शुभदं स्मृतम्'। गीतिका का पहला पाद प्रिय-प्राप्ति के विषय में नैराश्य का अवसर बताता है, तो दूसरा पाद वामाङ्ग-स्फुरण द्वारा कुछ आशा का संचार कर रहा है। एष चिरात् दृष्टः = इन्हें (आज) बहुत दिनों के बाद देखा है। कथम् उपनेतव्यः = उप + √नी (भ्वा० ले जाना) + तव्य (परन्तु) किस तरह (इन्हें) प्राप्त किया जाय. अपनाया जाय, इस तृतीय पाद में चिन्ता-भाव व्यक्त हो रहा है। नाथ, पराधीना माम् = दूसरे के अधीन मुझे। त्वयि = तुम पर। सतृष्णाम् = तृष्णया सह वर्तमाना सतृष्णा ताम् (ब० व्री०) तरसती हुई। गणय = समझ अर्थात् मैं तुम पर मर रही हूँ, तुम पर कुर्बान हूँ। पराधीनता शर्मिष्ठा की ओर देवयानी के कारण है और मालविका की ओर धारिणी के कारण है। इस चौथे पाद में दैन्य और विवशता

बहुत दिनों से हुआ मिलन है, पर कैसे अपनाऊँ ?
नाथ ! बनी हूँ पराधीन मैं. पर तुम पर बलि जाऊँ ॥ ४ ॥

१३ विदूषकः (जनान्तिकम्)—भो वअस्स चउप्पदवत्थुअं दुवारी कदुअ तुइ उवक्खित्तो विअ अप्पा तत्तहोदीए। [भो वयस्य! चतुष्पद-वस्तुकं द्वारीकृत्य त्वय्युपक्षिप्त इवात्मा तत्रभवत्या]।

की भावना मुखरित है। सारी की सारी चौपदी विप्रलम्भ-शृंगार [Love in-separation] की कोमल अभिव्यक्ति है और हृदय के अन्तस्तल को छूती है। गीति, गीति के साथ कला-पूर्ण अभिनय और अभिनय के साथ साज-बाज की रमणीय पृष्ठभूमि न केवल राजा पर, प्रत्युत सभी द्रष्टागणों पर अपना स्थायी प्रभाव डाल देते हैं। कवि ने नृत्य के लिए शर्मिष्ठा की चौपदी चुनकर यह ध्वनित किया है कि शर्मिष्ठा की तरह अन्त में मालविका भी राजा अग्निमित्र की सब रानियों से अधिक प्रिया बनेगी। शर्मिष्ठा की इस कृति के सम्बन्ध में हमें संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र कहीं प्रमाण नहीं मिलता है। संभव है कालिदास के समय में उपलब्ध रही हो, किन्तु बाद को लुप्त हो गयी हो अथवा यह भी हो सकता है कि यह कालिदास की अपनी ही कल्पना हो। [ततः **यथारसम्**=रसम् **अनतिक्रम्य** [अव्ययीभाव स०]=रस के अनुसार **अभिनयति**=अभिनय करती है।

१३ **चतुष्पद रूपं वस्तु यस्मिन् तथाभूतम्** [ब० व्री०] गीतम् इति शेषः, चतुष्पदी-वस्तु के गीत को। **द्वारीकृत्य=अद्वारं द्वारं सम्पद्यमानं कृत्वा** इति द्वार + च्वि + कृ + ल्यप्=[यह अभूत-तद्भाव का प्रयोग है] द्वार, माध्यम, अथवा निमित्त बनाकर। **त्वयि + उपक्षिप्तः + इव + आत्मा तत्र-भवत्या** उप+√क्षिप् [तु० फेंकना]+क्त [क्त कर्मणि] उसने अपने को आप पर जैसे भेंट चढ़ा दिया है, समर्पण कर दिया है। चतुर विदूषक तत्काल जान गया कि मालविका का भी राजा के लिए प्रेम है और गीत के बहाने उसने अपने को राजा पर न्यौछावर कर दिया है। अब अगला पग राजा के हाथ में है।

---

१३ **विदूषक**—[अलग] वयस्य! चौपदी वस्तु के गीत को माध्यम बना कर उस [मालविका] ने अपने—आप को आप पर न्यौछावर-सा कर दिया है।

१४ राजा [जनान्तिकम्]—सखे एवमेव ममापि हृदयम्। अनया खलु

जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये
वचनमभिनयन्त्या स्वाङ्गनिर्देशपूर्वम्।

---

१४ सखे=सखि शब्द का सम्बोधन, मित्र! एवम्+एव, मम + अपि हृदयम्=ऐसा ही मेरा हृदय भी बोल रहा है। अनया खलु= सचमुच इसने।

जनमिमम्०—अन्वयः—हे नाथ! इमं जनम् अनुरक्तं विद्धि—इति गेये वचनं स्वाङ्ग-निर्देश-पूर्वम् अभिनयन्त्या [तया] धारिणी-सन्निकर्षात् प्रणय-गतिम् अदृष्ट्वा सुकुमार-प्रार्थना-व्याजम् अहम् उक्तः इव। [मालिनी]

हे नाथ इमम् जनम्=इस जन को अर्थात् मुझे। अनुरक्तम् = अनु + √रज् [दि० अनुरक्त होना] + त कर्तरि=प्रेम करने वाला, आसक्त। विद्धि=√विद् [अ० जानना] + लोट् म० पु० एक०=जानो अर्थात् तुम्हें पता हो जाना चाहिए कि मैं तुम पर आसक्त हूँ। इति गेये=गीते स्थितम् इति शेषः=इस तरह के गाने के। वचनम्=कथन को, स्वस्य अङ्गस्य निर्देशः [ष० तत्पु] पूर्वः यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा [ब० व्री० क्रियावि०] अपने शरीर की ओर संकेत करते हुए अभिन०=अभि+√नी√[भ्वा० ले जाना] + शतृ+ङीप् स्त्रियाम्+तृ० एक०=अभिनय करती हुई [तया = उसने, मालविका ने] धारिण्याः सन्निकर्षः [ष० तत्पु०] तस्मात्=धारिणी के पास में बैठे रहने के कारण। प्रणयस्य-गतिः ताम् [ष० तत्पु०] अदृष्ट्वा=

---

१४ राजा—[अलग] मित्र, ऐसा ही मेरा हृदय भी बोल रहा है। इसने सचमुच—

गीत के इस कथन का कि—'हे नाथ! तुम मुझे अपने पर अनुरक्त हुई समझो'—जो अपने शरीर की ओर संकेत करते हुए अभिनय किया है और धारिणी के पास में होने के कारण अपना प्रेम प्रकट करने का [अन्य]

प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसंनिकर्षा-
दहमिव सुकुमारप्रार्थनाव्याजमुक्तः ॥५॥

[मालविका गीतान्ते निष्क्रमितुमिच्छति]

इसके दो तरह के अर्थ किये जा सकते हैं— [१] अपना प्रेम प्रकाशन करने की अन्य कोई गति—साधन—न देखकर। राजा के प्रति उसकी दबी हुई भावनाएँ आत्म-प्रकाशन के लिए छटपटा रही थीं, सहसा गीत हाथ आ गया और उसके माध्यम से मालविका ने अपना हृदय, हृदय की संचित भावनाएँ—राजा के आगे उँडेल दीं। यही कारण है राजा ने भी यही अनुभव किया कि उसका प्रणय-निवेदन शर्मिष्ठा के बहाने व्यक्तिगत ही है। २] काटवेयम् और अप्पा शास्त्री द्वारा इसकी व्याख्या यह है कि **प्रणयस्य गतिम्=राज्ञः हृदये प्रवेशम् अदृष्ट्वा**=अपने प्रेम का राजा के हृदय में प्रवेश न देख कर अर्थात् मैं इस पर प्रेम करती हूँ, पर मेरे प्रेम के उत्तर में प्रतिक्रिया-स्वरूप इसमें रोमाञ्चादि कुछ नहीं हो रहा है, यह देख कर। **सुकुमार० = सुकुमारा प्रार्थना एव व्याजः यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा** [क्रियावि०] एक मृदु-नम्र-निवेदन के बहाने। **अहम् उक्त इव** [कर्मवाच्य] = मैं कहा गया हूँ जैसे, अर्थात् 'नाथ! मां पराधीनां गणय सतृष्णाम्'—(शर्मिष्ठा की) इस प्रार्थना के बहाने व्यक्तिगत-रूप से उसने मानो मुझे ही कहा हो कि मैं तुम पर मर रही हूँ।

(**मालविका गीतस्य अन्ते** = गान समाप्ति पर। **निष्क्रमितुम्+इच्छति** = जाना चाहती है)

साधन न देख कर जो मृदु प्रार्थना का बहाना बनाया है, इनसे ऐसा लगता है जैसे कि (यह सब-कुछ) इसने मुझको ही कहा हो ॥५॥

(गान-समाप्ति पर मालविका चली जाना चाहती है)

१५ विदूषकः—भोदि चिट्ठ। किं वि वो विसुमरिदो कम्मभेदो। [भवति ! तिष्ठ। किमपि वो विस्मृतः कर्मभेदः।]

१६ गणदासः—वत्से ! स्थीयताम्। उपदेशविशुद्धा यास्यसिं।

(मालविका निवृत्य स्थिता)

---

१५ तिष्ठ = √स्था का लोट् मध्य० एक० = ठहरो। किमपि (अव्यय)=पता नहीं क्यों ? किसी कारण से, अथवा किञ्चित् = कुछ, इस अर्थ में किमपि अव्यय है। वः=यह युष्मद् शब्द के षष्ठी बहुवचन 'युष्माकम्' का वैकल्पिक रूप है और तृतीया के स्थान में सम्बन्ध-विवक्षया षष्ठी=तुम। विस्मृतः=वि + √स्मृ (भ्वा० याद करना) + तः=भूल गई हो। कर्मणः भेदः (ष० तत्पु०) (नृत्य की कोई) विशेष क्रिया। देखिए गौतम की नीति। यद्यपि वह नृत्य की विशेषताओं से सर्वथा अनभिज्ञ है, फिर भी मालविका को रंगमंच से चली जाने से इसलिए रोकना चाहता है कि राजा उसे आँखों से छक कर पी ले।

१६ वत्से = वत्सा शब्द का सम्बोधन। स्थीयताम् = स्था धातु का लोट् प्र० पु० एक० भाव-वाच्य = ठहर जाओ। उपदेशे शुद्धा (स० तत्पु०) पढ़ाई-सिखाई में—नृत्यप्रदर्शन— में निर्दोष (सिद्ध हुई हो)। यास्यसि = √ या +लृट् म० पु० एक० जाओगी अर्थात् तुमने मेरा सिखाया हुआ जो नृत्य दिखाया है, उसमें गौतम ने कुछ कमी की आपत्ति उठाई है, इसलिए उसे दूर करके ही तुम्हें जाना होगा। गणदास के आत्माभिमान को देखिए कि वह अपनी शिक्षा में कोई भी कमी नहीं सह सकता है।

---

१५ विदूषक—ठहरिए जी ! आप (नृत्य की) कोई विशेष क्रिया भूल गई हैं।

१६ गणदास—बेटी ! ठहर जाओ। जो कुछ मैंने तुम्हें सिखाया है, उसमें निर्दोष सिद्ध-हुई ही तुम जा सकोगी।

(मालविका लौट कर खड़ी हो जाती है)

१७ राजा (आत्मगतम्)—अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति । तथाहि

वामं संधिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।

---

१७ सर्वासु + अवस्थासु = सभी अवस्थाओं, स्थितियों में । चारुता = सुन्दरता । अन्यां शोभाम् इति शोभान्तरम् = और ही शोभा को । पुष्यति= बढ़ाती है अर्थात् सुन्दरता स्वाभाविक होनी चाहिए; फिर तो सुन्दरी चाहे नाचे, चाहे खड़ी हो, अथवा चाहे बैठी रहे - सभी स्थितियाँ उसके सौन्दर्य को मोहक बनाए रहती हैं, उसे चार चाँद लगा देती हैं । मालविका जब नाच रही थी, तब भी सुन्दर थी और अब खड़ी हुई की स्थिति (Pose) में है, तो और भी सुन्दर लग रही है । सौन्दर्य का मनोविज्ञान ही ऐसा है । कालिदास ने सौन्दर्य के इस तथ्य को शकुन्तला नाटक में भी स्पष्ट किया है देखिए—'अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृति-विशेषाणाम् '(VI)' और 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' (I-१०) । ध्यान रहे कि चारुता चेहरे की स्वाभाविक सुन्दरता होती है जबकि शोभा बनाई हुई (made up cultured) सुन्दरता होती है ।

वामम्०—अन्वयः—सन्धि-स्तिमित-वलयं वामं हस्तं नितम्बे न्यस्य, द्वितीयं (हस्तं) श्यामा-विटप-सदृशं स्रस्त-मुक्तं कृत्वा, पादाङ्गुष्ठालुलित-कुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षम् ऋज्वायतार्धम् अस्याः स्थितं नृत्तात् अतितरां कान्तम् । (मन्दाक्रान्ता)

सन्धौ (पहुँचे, कलाई पर) स्तिमितं (निश्चल) (स० तत्पु०) वलयं (कड़ा) यस्य स तथोक्तः (ब० व्री०) तम् = जिसपर का कड़ा

---

१७ राजा — (मन हो मन) अहा ! देखो सुन्दरता की खूबी; कैसी भी स्थिति क्यों न हो, वह उस पर चार चाँद लगा देती है, क्योंकि—

इसने बायाँ हाथ तो नितम्ब पर रखा हुआ है जिससे पहुँचे पर का

पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥६॥

पहुँचे पर चुपचाप—निश्चल—है, ऐसे यह हाथ का विशेषण है। हाथ उसने नितम्ब पर रखा हुआ है, इसलिए हाथ का कड़ा कलाई पर बिना हिले-डुले चुपचाप है। नाचते समय हिलने के कारण कंकण बज रहे थे, पर अब उसके चुप खड़े रहने पर कंकण भी चुप हैं। **वामं हस्तम्** = बायाँ हाथ। **नितम्बे** = नितम्ब, कटि के पिछले भाग पर। **न्यस्य** = नि + √अस् (दि० फेंकना) + य (ल्यप्) रख कर। **द्वितीयम्** = दूसरे (हाथ) को। **श्यामाया विटपम्** (ष० तत्पु०) **तेन सदृशम्** (तृ० तत्पु०) श्यामा नाम की लता की शाखा के समान। **स्रस्तं** (शिथिलम्) **यथा स्यात् तथा मुक्तं** (त्यक्तम्)= ढीला-ढाला छोड़े लटकाये हुए। **कृत्वा**=करके अर्थात् दायाँ हाथ उसने ऐसा ढीला-ढाला छोड़ रखा है जैसा कि श्यामा-लता की टहनी फूलों के भार से नीचे लटकी होती है। मालविका की तुलना श्यामा से और उसके हाथ की तुलना श्यामा की टहनी से की गई है। इस तरह की और तुलना के लिए देखिए कवि का ऋतु-संहार—'श्यामा-लता-कुसुम-भार-नत-प्रवालाः स्त्रीणां हरन्ति धृत-भूषण-बाहु-कान्तम्'। **पादस्य अंगुष्ठेन** (ष० तत्पु०) **आलुलितानि** (मर्दितानि) **कुसुमानि** (कर्मधा०) **यस्मिन् तत्** (ब० व्री०)**तथाभूते**=जिसपर (पड़े हुए) फूलों को वह अपने पैर के अँगूठे से दबा रही थी, मसल रही थी। **कुट्टिमे**=फर्श पर। नृत्यारम्भ से पहले गणदास ने अभीष्ट देवता के लिए रंग-

---

कंकण चुपचाप है और दायाँ हाथ श्यामा लता की तरह ढीला-ढाला नीचे छोड़ रखा है; आँखें नीचे फर्श की ओर कर रखी हैं और पैर के अँगूठे से वह फूलों को मसल रही है। शरीर का (उपरला) आधा भाग सीधा और लम्बा हो रखा है; इसकी यह स्थिति नृत्य की स्थिति से और भी अधिक सुन्दर लग रही है ॥६॥

१८ **देवी—णं गोतमवअणं वि अज्जो हिअए करेदि। [ननु गौतम-वचनमप्यार्यो हृदये करोति।]**

मञ्च पर फूल चढ़ाये थे। उन्हीं फूलों को मालविका पैर के अँगूठे से दवा रही थी। स्त्रियों—विशेपतः युवा लड़कियों के स्वभाव में यह देखा जाता है कि जब उन्हें अपने भावी प्रियतमों के सामने आना पड़ता है अथवा अपने श्रेष्ठ-जनों में उनके विवाह की बात-चीत छिड़ रही हो, तो वे लज्जा से मुँह नीचा कर देती हैं और पैरों से फूल मसलने लगती हैं अथवा जमीन कुरेदने लगती हैं। स्त्री-मनोविज्ञान की इन चेष्टाओं को शास्त्रीय भाषा में 'अवहित्था' कहते हैं। देखिए कादम्बरी—'शिञ्जन्मणिनूपुर-पुटेन मणिभुवम् आलिखिताऽङ्गुष्ठेन' और कुमारसंभव—'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी। लीला-कमल-पत्राणि गणयामास पार्वती' ॥१।५१॥ **पातिताक्षम् = पातिते अक्षिणी यस्मिन् तथाभूतम्** (व० व्री०) यह 'स्थितम्' का विशेपण है अर्थात् जिस 'स्थित' में आँखें नीचे किए हुए हैं। **ऋजु** (सरलम्) **आयतं च अर्धम् यस्मिन् तथोक्तम्** (व० व्री०) = जिसमें शरीर का उपरला आधा भाग सीधा और लम्बा हो गया है, ऐसी, **अस्याः** = इस मालविका की। **स्थितम्** = यहाँ स्था धातु से भाव में क्त प्रत्यय है, स्थिति (Posture) **अतितराम्** = और भी अधिक। **कान्तम्** = सुन्दर (लग रही है)।

१८ **गौतमस्य वचनम्** (प० तत्पु०) = गौतम का कथन, गौतम द्वारा उठाई गई कमी की आपत्ति को। **हृदये करोति** = हृदय में लाते हो अर्थात् विचार किए जाने योग्य समझते हो? 'ननु' शब्द यहाँ प्रश्न-वाचक है। रानी जानती है कि गौतम मूर्ख है, भला कला की वारीकियों को क्या समझे, उसका मालविका को किसी कमी के व्याज से रोके रखने का यही मतलव है

---

१८ **देवी**—क्या गौतम की बात भी आर्य (गणदास) विचारणीय समझते हैं?

१९ गणदासः—देवि ! मा मैवम् । देवप्रत्ययात्संभाव्यते सूक्ष्मदर्शिता गौतमस्य । पश्य—

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः ।

कि राजा उसे अच्छी तरह देख ले, इसलिए रानी गौतम की बात गम्भीरता से विचार में लाये जाने योग्य नहीं समझती और शीघ्र ही मालविका को रंगमंच से हटाना चाहती है, पर आत्माभिमानी गणदास को इतनी सूझ-बूझ कहाँ ? उसे तो सर्वांग-निर्दोष विजय ही अभीष्ट है।

१९ मा मा+एवम्=नहीं, नहीं, ऐसा न कहें। **देवे प्रत्ययः विश्वासस्तस्मात्** (स० तत्पु०)=राजा में विश्वास होने के कारण अर्थात् राजा का विश्वास-पात्र होने से यह रात-दिन राजा के सम्पर्क में रहता है इस कारण। इस समस्त पद को हम **देवस्य प्रत्ययः** (ज्ञानम्) **तस्मात्** (ष० तत्पु०) यों भी तोड़ सकते हैं, इस विग्रह में प्रत्यय का अर्थ है ज्ञान, राजा के ज्ञान से अर्थात् राजा के सम्पर्क में रहता है और राजा को कला का पूरा-पूरा ज्ञान है, इसलिए राजा के ज्ञान से इसे भी ज्ञान प्राप्त हो गया है। यह मूर्ख नहीं है। **सम्भाव्यते**=सम्+√भू (भ्वा० होना)+लट् कर्मवाच्य प्र० पु० एक०=संभावना की जा सकती है, अनुमान लगाया जा सकता है। **सूक्ष्मं पश्यतीति** सूक्ष्म+दृश्+इन् (उपपद-तत्पु०) **सूक्ष्मदर्शी तस्य भावः सूक्ष्मदर्शिता**=सूक्ष्म बातों को जानने का गुण, भले-बुरे की बारीक पहचान, सूक्ष्म सूझ-बूझ।

मन्दोऽपि०—अन्वयः—पङ्कच्छिदः फलस्य निकषेण आविलं पयः इव विपश्चितः संसर्गेण मन्दः अपि अमन्दताम् एति। (पथ्यावक्त्रम्)।

---

१९ **गणदास**—नहीं, नहीं ऐसा न कहो देवी ! महाराज के सम्पर्क में रहने से गौतम भी (कला-विषयक) सूझ-बूझ रखता है—ऐसा मेरा अनुमान है। देखो:—

विद्वान् के सम्पर्क में रहने से मूर्ख भी विद्वान् बन जाया करता है

पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः ॥७॥

(विदूषकं विलोक्य) शृणुमो विवक्षितमार्यस्य ।

२० विदूषकः—(गणदासं विलोक्य)—सक्खिणिं दाव पुच्छ। पच्चा

पङ्क०=—पङ्कं छिनत्ति इति पङ्क + √छिद् (रु० छेदना) + क्विप् (उपपद तत्पु०) तस्य कीचड़ मैल काटने वाले । फलस्य कतक वृक्ष के फल के। निकपेण=घिसने से, संसर्ग से । आविलम्=मटियाले, गन्दले। पयः इव= जल की तरह । विपश्चितः=तान्त विपश्चित् शब्द का पष्ठी एकवचन, विद्वान् के । संसर्गेण=संपर्क से, संगति से । मन्दः अपि मन्दमति वाला अर्थात् मूर्ख भी । न मन्दः अमन्दः तस्य भावः अमन्दता ताम् विद्वत्ता को । एति= √इण् (अ० जाना) लट् प्र० ए०=प्राप्त हो जाता है । गणदास रानी की वात को काट देता है । गौतम मान भी लिया जाय की मूर्ख है, परन्तु राजा की संगति में रह कर उसमें समझदारी और विवेक हो सकते हैं । दृष्टान्त के लिए मटियाला पानी ले लें । उसमें कतक फल जरा रगड़ दो अथवा उसका चूर्ण डाल दो, पानी कैसा साफ हो जाता है । यही हाल गौतम का भी समझ लें। कतक को निर्मली भी कहते हैं । इसके वीज में यह खूबी है कि वह पानी में की मिट्टी एकदम फाड़ देता है। देखिए, मनु०—फलं कतकवृक्षस्य यद्यम्बु-प्रसादनम् । न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥६-६७॥ पानी की ओर अमन्दता का अर्थ शुद्धता है । देखिए नीतिवाक्य="संसर्गजा दोप-गुणा भवन्ति" । विवक्षितम्=वक्तुम् इष्टम् √वच् + सन् + त, जो वोलना चाहते हों ।

२० साक्षिणीम्—साक्षिन् शव्द का स्त्रीलिंग द्वि० एक० साक्षिन् शव्द साक्षात् अव्यय से 'साक्षाद् द्रष्टरि' अर्थ में इन् प्रत्यय लगने से वनता है, देखिए पाणिनि—५।२।९१ का साधारण अर्थ प्रत्यक्षदर्शी (Eyewitness)

जैसे कि कतक के वीज के घिसने से मटियाला पानी भी साफ हो जाता है ॥७॥

विदूपक को देखकर। हाँ, हम भी सुनें आप क्या वोलना चाहते हैं ?

२० विदूषक—(गणदास को देख कर) पहले निर्णायिका को पूछिए,

जो मए कम्मभेदो तं भणिस्सं । [साक्षिणीं तावत्पृच्छ । पश्चाद्यो मया कर्मभेदो लक्षितस्तं भणिष्यामि ।]

२१ गणदासः—भगवति ! यथादृष्टमभिधीयतां गुणो वा दोषो वा ।

२२ परिव्राजिका—यथादृष्टं सर्वमनवद्यम् । कुतः—

होता है, परन्तु यहाँ इसका अर्थ निर्णायक (Judge) है अर्थात् परिव्राजिका कौशिकी को । तावत् पृच्छ = पहले पूछो । पश्चात् + यः + मया कर्म-भेदः लक्षितः = कसर देखी है, पाई है । भणिष्यामि = कहूँगा । देखिए, मूर्ख गौतम कितनी समझदारी की बात करता है । वह ठीक ही कहता है कि नृत्य के गुण-दोषों की आलोचना करना पहला निर्णायक का कर्तव्य है । यदि निर्णायक दोषों को न बता सके तभी वह बतायेगा । वास्तव में यह मूर्ख की चालाकी ही समझिये कि वह इस तरह अधिक समय लेकर राजा को मालविका देखते रहने का पूरा-पूरा अवसर देना चाहता है ।

२१ यथादृष्टम् = दृष्टम् अनतिक्रम्य = (अव्ययीभाव) जैसा देखा है, उसके अनुसार । अभिधीयताम् = अभि + √ धा [जु० धारण करना] लोट् प्र० एक० कर्मवाच्य = कहिए । गुणो वा दोषो वा = नृत्य की खूबी व खराबी । गणदास अपने पक्ष के लिए कोई विशेष सहानुभूति, कोई विशेष कृपा नहीं चाहता है । वह चाहता है तो अपनी शिष्या के नृत्य की निष्पक्ष आलोचना और उस पर सही-सही निर्णय ।

२२ सर्वम् + अनवद्यम् = न अवद्यम्, अनिन्दनीयम्, ठीक-ठीक, निर्दोष । अनवद्य शब्द 'अवद्य-पण्य' इस पाणिनिसूत्र द्वारा अनियमित रूप से बनता है । कुतः = क्यों, क्योंकि ।

पीछे मैं कहूँगा कि कौन-सी कसर मैंने देखी है ।

२१ गणदास—भगवती ! जैसा आपने देखा है, उसके अनुसार नृत्य का गुण अथवा दोष कह डालिए ।

२२ परिव्राजिका—जैसा हमने देखा है, उसके अनुसार सब ठीक ही है, क्योंकि—

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।

अङ्गैः—अन्वयः—अन्तर्निहित-वचनैः अङ्गैः अर्थः सम्यक् सूचितः, पादन्यासः लयम् अनुगतः, रसेषु तन्मयत्वम्, शाखा-योनिः अभिनयः मृदुः, तद्विकल्पानुवृत्तौ भावः भावं विषयात् नुदति, राग-बन्धः (तु) सः एव ।

(मन्दाक्रान्ता)

अन्त० = **अन्तः निहितानि वचनानि येषां तैः** (व० व्री०) जिनके भीतर वाणी रखी गई है, अर्थात् बोलते हुए (-से) **अङ्गैः**=अङ्गों द्वारा । **अर्थः सम्यक् सूचितः** = अर्थ-भाव —अच्छी प्रकार सूचित किया गया अर्थात् अभिनय में सभी अंग अपनी मूक भाषा में हृदय के भावों को बोलते जाते थे । **पादयोः** न्यासः (प० तत्पु०) पग, पैरों की गति । **लयम् अनुगतः** = लय के अनुसार अर्थात् लयानुकूल थी । संगीत में गीत, बाजे तथा पैरों की क्रिया और समय के साम्य को लय कहते हैं । देखिए 'गीतवाद्यपादन्यासानां क्रिया-कालयोः साम्य लयः' । मालविका के पैर लय के साथ-साथ चलते रहे । **रसेषु**=गेय-वस्तुगत रसों, भावों में । **तन्मयत्वम्** तत्+मयट् (स्वरूपार्थे)+त्व (भावे) तद्रूपता अर्थात् रसमयता थी । मालविका जिस तरह अभिनय कर रही थी, उसी तरह अनुभव भी कर रही थी जैसे कि वह स्वयं शर्मिष्ठा ही हो और गीत-गत भावों में पूर्णतः तल्लीन थी । अभिनय के साथ-साथ भाव की अनुभूति भी करना अभिनेता को सब से बड़ी सफलता मानी जाती है । **शाखा०** = **शाखा योनिः** यस्य सः (व० व्री०) नाट्यशास्त्र में शाखा तालानुसार हाथों की संचालन-क्रिया को कहते हैं' देखिए—'शाखा तु नृत्तहस्तानां या मात्रोचितनर्तना' । योनि कारण को कहते हैं । इस तरह 'शाखायोनिः' का अर्थ हुआ हस्त-संचालन-

---

(अपने) अंगों को वाणी देकर उनके द्वारा अर्थ अच्छी तरह बता दिया गया है; पैर लय के अनुसार ही चले; भावों के (प्रदर्शन) में तन्मयता रही; हस्त-संचालन द्वारा किया जाने वाला अभिनय मृदु था; अभिनय में परिवर्तनों

शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥८॥

क्रियाओं से किया गया। **अभिनय** = अभिनय, प्रयोग। **मृदु** = कोमल था। नाट्यशास्त्र में अभिनय के दो भेद बताये गये हैं—सुकुमार (मृदु) और आविद्ध (उद्धत)। मालविका का अभिनय सुकुमार था, क्योंकि कोमल रस होने से शृंगार में मृदु अभिनय का ही विधान है। **तद्विक०=तस्य अभिनयस्य विकल्पः** (भेदः परिवर्तनम्) **तस्य अनुवृत्तिः** (अनुगतिः) **तस्याम्** (ष० तत्पु०)=अभिनय के परिवर्तनों के सिलसिले में, अर्थात् बदल-बदल कर उसने आंगिक अभिनय का जो ताँता बाँध दिया था, उसमे। **भावः भावम्**=एक भाव—मनोविकार—दूसरे भाव को। **विषयात्** = अपने विषय से, अपने क्षेत्र से, प्रकृत रस से। **नुदति** = हटा देता है। भाव नाट्यशास्त्र में संचारी भावों को कहते हैं, जो स्थायी भावों के मध्य यों उठते-बैठते जाते हैं जैसे समुद्र में तरंगें। इन्हें चल भाव भी कहते हैं, जिनसे स्थायी भावों (रति आदि) की परिपुष्टि हुआ करती है। वे निर्वेद, चिन्ता, दैन्य, औत्सुक्य आदि कुल मिला कर ३३ होते हैं। अभिप्राय यह है कि मालविका चतुष्पदी के प्रथम पाद के नैराश्य-भाव का अभिनय दिखा कर जब दूसरे पाद के आशा भाव का अभिनय करने लगी, तो विषय—विप्रलम्भ-से नैराश्य बिल्कुल गायब हो गया और आशा का भाव ही अंगों में मुखरित होता रहा। परन्तु [काटवेयम के अनुसार] **रागबन्धः + "रञ्जनत्व-योगः स एव=पूर्वं यादृशः तादृशः एव"**, मनोरञ्जकता दूसरे भाव के अभिनव में भी वैसी ही रही जैसे पूर्व भाव के अभिनय में थी अर्थात् एक भाव के अभिनय से दूसरे भाव के अभिनय में जाने पर द्रष्टागणों की जरा भी रुचि भंग नहीं हुई; सब के सब पूर्ववत् ही मन्त्र-मुग्ध-से हुए एकटक देखते रहे। **'रागबन्ध'** का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—**रागस्य** =

का ऐसा ताँता बँधा कि रस का एक भाव (झट) दूसरे भाव का स्थान लेता जाता था, (फिर भी) राग का समाँ वही रहा ॥८॥

२३ गणदासः— देवः कथं वा मन्यते ।

२४ राजा —गणदास ! स्वपक्षे शिथिलाभिमाना वयं संवृत्ताः ।

प्रणयस्य = रतिभावस्य बन्धः = अनुबन्धः स एव, संचारी भावों के बदलते रहने पर भी उनमें अनुस्यूत विप्रलम्भ श्रृंगार का सिलसिला यथावत् बना ही रहा। 'रागबन्ध' का तीसरा अर्थ यह भी हो सकता है—"रागस्य = गीतेः, स्वर-प्रबन्ध-विशेषस्य बन्धः = अनुबन्धः स एव" अर्थात् मालविका ने अपनी तमाम गीतिका में स्वर-व्यवस्था को यथावत् बना रखा। मालविका की चौपदी लगभग 'ठुमरी'—जैसी थी, जिसमें विभिन्न भावों को अभिव्यक्त करते हुए भी उसने स्वर-व्यवस्था (रागबन्ध) का ठीक-ठीक निर्वाह किया। इससे मालविका की अनूठी कला-निपुणता सिद्ध होती है; साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि कालिदास भी संगीत तथा नाट्यशास्त्र के कितने बड़े पारखी थे और उनके समय में ललित कलाएँ कितने प्रकर्ष में थीं।

२३ देव ····मन्यते = आपका क्या विचार है ?

२४ स्वस्य पक्षः तस्मिन् (कर्मधा०) = अपने पक्ष पर अर्थात् हरदत्त पर। शिथिलः (मन्दः) अभिमानः येषां ते (ब० व्री०)=ढीला पड़े अभिमान वाले संवृत्ताः=सम्+√वृत् (भ्वा० होना) क्त कर्तरि=हो गए हैं अर्थात् हरदत्त पर अपना अभिमान हम खो बैठे हैं कि वह गणदास से बढ़-चढ़ कर कला-प्रदर्शन कर सकेगा। राजा गणदास की श्रेष्ठता स्वीकार करके परोक्ष-रूप में मालविका की ही सराहना कर रहा है। वास्तव में राजा का निर्णय एकतरफा है, क्योंकि उसको ललकारने वाला हरदत्त वहाँ नहीं है। अब वह चित्र में आयेगा ही क्यों ? प्रतियोगिता तो एक निमित्त मात्र थी; राजा को मालविका देखनी थी, देख ली है, बस यही प्रतियोगिता के पीछे ध्येय था।

---

२३ गणदास—महाराज ! आपका क्या विचार है ?

२४ राजा—गणदास ! हमें अपने पक्ष का अभिमान (अब) ढीला पड़ गया है।

२५ गणदासः—अद्य नर्तयितास्मि।

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न विद्वत्सु यः काञ्चनमिवाग्निषु ॥९॥

---

२५ नर्तयिता+अस्मि=√नृत् (दि० नाचना) + णिच्+तृच् कर्तरि प्र० ए०=नाचने वाला, नाट्याचार्य। गणदास अपनी शिष्या के अनूठे प्रदर्शन से फूला नहीं समाता, उसे आज अनुभव हुआ कि वह सच्चा नाट्याचार्य है।

उपदेशम्०—अन्वयः—सन्तः उपदेशिनः तम् उपदेशं शुद्धं विदुः यः अग्निषु काञ्चनम् इव विद्वत्सु न श्यामायते। [अनुष्टुप्]

सन्तः=सत् शब्द का प्रथमा बहुवचन, गुण-दोषों का विवेचन करने वाले विद्वान्, समझदार लोग। उपदेशिनः=उपदिशतीति उप + √दिश् (तु० दिखाना) + णिन् (कर्तरि) √षष्ठी एक वचन, उपदेश देनेवाले, शिक्षक के। तम् उपदेशम्=उस शिक्षा को। शुद्धम्=दोष-रहित। विदुः=√विद् [अ० जानना] + लट् बहुव० 'विदो लटो वा' इस पाणिनि-सूत्र से लट् के बहुवचन में विकल्प से 'उस्' हो जाता है, उसके अभाव में 'विदन्ति' बनेगा—जानते हैं, मानते हैं। अग्निषु काञ्चनम् इव=आग में सोने की तरह। विद्वत्सु विद्वानों में, विद्वानों के बीच। न श्यामायते=श्यामः भवति इति श्याम+क्यष् और विकल्प से आत्मनेपद (नाम धातु)=काला नहीं पड़ता है अर्थात् निर्दोष सिद्ध होता है। शिक्षक की शिक्षा अथवा विद्या की कोई भी बात जब तक समालोचकों के आगे परीक्षार्थ न रखी जाय और उनके द्वारा न सराही जाय, तब तक वह निर्दोष नहीं कही जा सकती है। हम देखते हैं कि

---

२५ गणदास—नाट्यकला का सच्चा आचार्य तो मैं आज बना हूँ।

समझदार लोग उपदेशक की उसी शिक्षा को निर्दोष समझते हैं, जो विद्वानों के बीच खरी-खरी उतरे, जैसे कि सोना आग में पड़ कर काला नहीं होता ॥९॥

२६ देवी—दिट्ठिआ परिक्खआराहणेण अहिअं वड्ढइ अज्जो। [दिष्ट्या परीक्षकाराधनेनाधिकं वर्धत आर्यः।]

२७ गणदासः—देवीपरिग्रहश्च मे वृद्धिहेतुः। (विदूषकं विलोक्य) गौतम ! वदेदानीं यत्ते मनसि वर्तते।

२८ विदूषकः—पुढमोवदेसदंसणे पुढमं वम्हणस्स पूआ कादव्वा।

सोना असली और शुद्ध तभी कहा जाता है, जब कि उसकी अग्नि-परीक्षा होती है और अग्नि में काला न पड़कर वह और भी उज्ज्वल निखर उठता है। कालिदास ने अपने रघुवंश में भी यह बात दोहराई है—'तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्-व्यक्ति-हेतवः। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा ॥१।१०॥ शकुन्तला-नाटक भी देखिए = आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग-विज्ञानम् ॥१।१२॥

२६ दिष्ट्या (अव्यय आनन्द-वाचक) के साथ √ वृध् धातु का बधाई देना अर्थ हो जाता है और जिस बात की बधाई हो उससे तृतीया विभक्ति आती है, देखिए—'दिष्ट्यापूर्वो वर्धतिरुत्सवे' (सागर)। परीक्षका०= परीक्षकाणाम् आराधनम् (ष० तत्पु०) तेन, परीक्षकों, निर्णायकों को सन्तुष्ट कर देने के कारण आप को बधाई।

२७ देव्याः परिग्रहः (ष० तत्पु०) = देवी द्वारा अपनाया जाना, देवी का अनुग्रह, संरक्षण। वृद्धेः हेतुः (ष० तत्पु०) वृद्धि का कारण। देखिए, गणदास की नम्रता, वह अपनी सफलता का श्रेय अपने को न देकर रानी को देता है और उसकी चापलूसी भी करता है। वद + इदानीम्।

२८ प्रथमो०=उपदेशस्य दर्शनम् (ष० तत्पु०) प्रथमं च तत् उपदेश-दर्शनं

---

६ देवी—अपने परीक्षकों को सन्तुष्ट कर देने के लिए आप को बधाई।

२७ गणदास—आपका ही अनुग्रह मेरी वृद्धि का कारण बना। (विदूषक को देखकर) गौतम ! अब तुम भी कहो जो तुम्हारे मन में है।

२८ विदूषक—पहले-पहल (अपनी) शिक्षा के प्रदर्शन पर आपको ब्राह्मण

सा णं वो विसुमरिदा। [प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या। सा ननु वो विस्मृता।]

२९ परिव्राजिका—अहो प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः ?

(सर्वे प्रहसिताः। मालविका च मन्दस्मितं करोति)

३० राजा (आत्मगतम्)—उपात्तसारश्चक्षुषा मे स्वविषयः। यदनेन

तस्मिन् = पहले-पहल नृत्य-प्रदर्शन पर। किसी कार्य के प्रारम्भ में पहले ब्राह्मण-पूजा का विधान है, जो यहाँ नहीं की गई है, पर चालाक गौतम इस गलती से अपना उल्लू सीधा करना चाहता है कि मालविका रंगमञ्च पर देर तक रुकी रहे।

२९ प्रयोगस्य आभ्यन्तरः, (ष० तत्पु०) अभ्यन्तरे भवः (अण्) आभ्यन्तरः = प्रयोग अर्थात् नाट्य के भीतर का प्रश्न। परिव्राजिका का विदूषक पर यह व्यंग्यपूर्ण कटाक्ष है कि ब्राह्मण-पूजा का प्रश्न नृत्य-प्रदर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इसलिए सरासर प्रकृतविरुद्ध है। मन्दं च तत् स्मितम् (कर्मधा०) = हल्की-सी मुस्कराहट।

३० चक्षुषा मे = मेरी आँखों ने। स्वः विषयः (कर्मधा०)=अपना विषय अर्थात् देखने की वस्तुओं को। उपात्तः (गृहीतः) सारः उत्कृष्टांशः यस्य सः तथाविधः कृतः इति शेषः = जिनका सार ग्रहण कर लिया गया है, ऐसा बना डाला है अर्थात् चक्षु का विषय देखने की चीजें होती हैं, उनमें सारभूत, सर्वश्रेष्ठ चीज—मालविका का मुख आँखों ने देख लिया है, इसलिए आँखों ने अपना फल पा लिया है और वे कृतकृत्य हो गई हैं। इस सम्बन्ध में देखिए शकुन्तला-नाटक 'अनवाप्त-चक्षुःफलोऽसि येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम् [II]'

की पूजा करनी चाहिए थी। उसे सचमुच आप लोग भूल ही गए।

२९ परिव्राजिका—वाह, यह भी क्या कोई नाट्य के भीतर का प्रश्न है ?

३० राजा—(मन ही मन) आँखों ने देखने की वस्तुओं में से सर्वश्रेष्ठ वस्तु प्राप्त कर ली है, जो इन्हें—

स्मयमानमायताक्ष्याः किञ्चिदभिव्यक्तदशनशोभि मुखम्।
असमग्रलक्ष्यकेसरमुच्छ्वसदिव पङ्कजं दृष्टम्॥ १०॥

३१ गणदासः—महाब्राह्मण, न खलु प्रथमं नेपथ्यसङ्गीतकमिदम्। अन्यथा कथं त्वामर्चनीयं नार्चयिष्यामः।

स्मयमान०—अन्वयः—स्मयमानम् किञ्चिदभिव्यक्त-दशन-शोभि आयताक्ष्याः मुखम् उच्छ्वसत् असमग्र-लक्ष्य-केसरं पङ्कजम् इव दृष्टम्।

स्मय० = √स्मि (भ्वा० मुस्कराना) + आन (शानच् कर्तरि) प्र० ए० = मुस्कराता हुआ। **किञ्चित् यथा स्यात् तथा** (क्रियावि०) **अभिव्यक्ता ये दशनाः** (कर्मधा०) **तैः शोभते इति शोभि** (उपपद-तत्पुरुष)=कुछ-कुछ दिखलाई देते हुए दाँतों से शोभित, सुहाता। **आयताक्ष्याः=आयते अक्षिणी यस्याः सा** (ब० व्री०) **तथाभूतायाः**=मोटी-मोटी आँखों वाली (मालविका) का। **मुखम्** = मुँह। **उच्छ्वस=उत्+√श्वस्** (भ्वा० श्वास लेना) अत् (शतृ) नपुं० प्र० ए०=विकसित होता हुआ, खिलता हुआ। **असमग्रं यथा स्यात् तथा** (क्रिया-वि०) **लक्ष्याणि केसराणि यस्य तत्** (ब० व्री०) जिसके केसर (filaments) पूरे-पूरे नहीं दिखाई दे रहे हैं—ऐसे। **पंकजम् इव** = कमल की तरह। **दृष्टम्**=देखा। इस श्लोक में मालविका के मुस्कराते चेहरे की—जिसमें दाँत आधे-आधे दिखलाई दे रहे हैं, तुलना उस कमल से की गई है, जिसके केसर पूरे-पूरे नहीं दीख रहे हैं।

३१ **महाब्राह्मण** शब्द यहाँ बुरे अर्थ में प्रयुक्त है। जो ब्राह्मण पढ़ा-लिखा न हो और मृतकों के निमित्त दिया हुआ दान खाता हो, उसे महाब्राह्मण

बड़ी-बड़ी आँखों वाली मालविका का मुस्कराता और कुछ-कुछ दिखाई पड़ने वाले दाँतों से सुहाता हुआ ऐसा चेहरा देखने को मिला, जो उस कमल की तरह है जो खिल रहा हो, पर जिसके केसर पूरे-पूरे नहीं दिखलाई देते हों॥१०॥

३१ गणदास—अरे महाब्राह्मण! रंगमंच पर यह पहली बार तो संगीत है नहीं, नहीं तो पूजा के योग्य तुम्हें हम क्यों न पूजते?

३२ विदूषकः—मए णाम मुद्धचादएण विअ सुक्खघणगज्जिदे अन्दरिक्खे जलपाणं इच्छिदं । [मया नाम मुग्धचातकेनेव शुष्कघनगर्जितेऽन्तरिक्षे जलपानमिष्टम् ।]

३३ परिव्राजिका—एवमेव ।

कहते हैं । महत्-शब्द आठों के साथ जुड़ने पर बुरा मतलब रखता है, देखिए—'शङ्खे तैले तथा मांसे वैद्ये, ज्योतिषके द्विजे । यात्रायां वाऽपि निद्रायां महच्छब्दो न दीयते' । गौतम के लिए प्रयुक्त महाब्राह्मण शब्द उसकी मूर्खता की खिल्ली उड़ाने के लिए है, इसलिए व्यग्यात्मक है । **नेपथ्यस्य संगीतम्** (स्वार्थ क) नेपथ्य का अर्थ यहाँ रंग-भूमि, रंगमंच, या रंगमंचीय वेश-भूषा है । **अन्यथा**= नहीं तो । **अर्चनीयम् अर्चितुं योग्यम्** √अर्च् (चु० पूजना) + अनीय (कर्मणि) पूजने के योग्य, पूजनीय । न + **अर्चयिष्यामः** (यहाँ लृङ् के स्थान में लृट् हुआ है)=पूजते ।

३२ **चातकेन** + इव=चातक की तरह । **शुष्काः च ते घनाः** (कर्मधा०) **तेषां गर्जितं यस्मिन् तथाभूते** (ब० व्री०)=जिसमें कोरे बादल गरज रहे हों—ऐसे । **अन्तरिक्षे**=आकाश में । **जलस्य पानम्** (ष० तत्पु०)=जल पीना । **इष्टम्** = √इषे (भ्वा० चाहना) त (कर्मणि) चाहा । चातक पपीहे को कहते हैं । उसके सम्बन्ध में यह कवि-ख्याति है कि वह धरती का पानी नहीं पीता, ऊपर बादलों से गिरते हुए पानी की बूँदों को पीकर ही अपनी प्यास बुझाता है । गौतम अपनी मूर्खता को मान लेता है कि यह उसकी गलती है कि वह प्रत्येक संगीत में अपनी भेंट-पूजा लेना चाहता है ठीक उसी तरह जिस तरह कि मूर्ख पपीहा कोरे गरजते हुए बादलों से भी प्यास मिटाने की आशा कर लेता है । यहाँ विदूषक अपनी तुलना चातक से और अपनी भेंट-पूजा की आशा की तुलना चातक की कोरे गरजते बादलों से प्यास बुझाने की आशा से करता है ।

---

३२ **विदूषक**—तो क्या मैंने मूर्ख चातक की तरह ऐसे आकाश में पानी पीना चाहा, जिसमें कोरे ही बादल गरज रहे हैं ?

३३ **परिव्राजिका**—हाँ, बात तो ऐसी ही है ।

३४ विदूषकः—भअवदि पण्डिदपरितोसप्पच्चआ णं मूढा जादी। जइ भअवदीए सोहणं भणिदं तदो इमं से पारितोसिअं पअच्छम्मि। [भगवति, पण्डितपरितोषप्रत्यया ननु मूढा जातिः। यदि भगवत्या शोभनं भणितं तत इदमस्यै पारितोषिकं प्रयच्छामि।]

(इति राज्ञो हस्तात्कटकमाकर्षति।)

३५ देवी—चिट्ठ चिट्ठ। गुणन्दरं अआणन्दो किंति तुमं आहरणं देसि। [तिष्ठ, तिष्ठ गुणान्तरमजानन् किमिति त्वमाभरणं ददासि।]

---

३४ **पण्डितानां परितोषः** (ष० तत्पु०) तस्मिन् प्रत्ययः (विश्वासः) यस्याः सा (ब० व्री०) = पण्डितों के सन्तोष पर ही विश्वास कर देने वाली। **मूढा जातिः** = मूर्खों की जाति हुआ करती है। **ननु** = सचमुच। मूर्खों की अपनी निजी बुद्धि तो होती ही नहीं, वे तो पण्डित लोग जिस बात को ठीक कहें, उसे ही ठीक कह देते हैं और जिस बात को पण्डित लोग बुरा कहें, उसे बुरा कह देते हैं। देखिए इसी नाटक का प्रथम अंक—मूढः पर-प्रत्ययनेयबुद्धिः ॥१।२॥ विदूषक ने नृत्य में एक कमी देखी थी, जिसे परिव्राजिका ने असंगत और प्रकृत-विरुद्ध कह दिया। अब उसे भी परिव्राजिका के निर्णयानुसार मालविका के नृत्य को सर्वथा निर्दोष मानना पड़ रहा है, क्योंकि मूर्खों का अपना कोई निर्णय नहीं होता। **पारितोषिकम्** = पुरस्कार, उपहार, इनाम। **प्रयच्छामि** प्र + √दा (भ्वा० देना) लट् प्र० एक० [दा को यच्छ हो जाता है] = देता हूँ।

३५ **गुणान्तरम्** = इसके दो अर्थ किये जा सकते हैं—[१] **अन्यः गुणः गुणान्तरम्** (अनियमित अस्वपदविग्रही कर्मधा०) देखिए पाणिनि–मयूर-

---

३४ **विदूषक**—भगवति ! सच पूछो तो मूर्खों की जाती ही ऐसी होती है कि वह पण्डितों के सन्तोष पर विश्वास कर लेती है। यदि भगवती ने (नृत्य को) अच्छा कह दिया है, तो मैं इन्हें यह पुरस्कार देता हूँ।

[राजा के हाथ से कड़ा खींचता है]

३५ **देवी**—ठहरो, ठहरो, (दोनों आचार्यों के) गुण में अन्तर देखे बिना तुम क्यों आभरण देने जा रहे हो ?

३६ विदूषकः—परकेरअं ति कदुअ [परकीयमिति कृत्वा ।]

३७ देवी (आचार्यं विलोक्य)—अज्ज गणदास णं दंसिदोवदेसा वो सिस्सा । [आर्य गणदास ! ननु दर्शितोपदेशा वः शिष्या ।]

व्यंसकादयश्च (२।१।७२।) दूसरा गुण अर्थात् हरदत्त की शिष्या (इरावती) का गुण—नाट्यविषयक योग्यता। दोनों प्रतिद्वन्द्वियों की योग्यता देख कर ही जो अच्छा निकले, उसे ही पारितोषक देना चाहिए। हरदत्त का अपनी शिष्या द्वारा प्रदर्शन अभी बाकी है। [२] गुणस्य अन्तरम् गुणान्तरम् (षष्ठी तत्पु०)=गुण में अन्तर—भेद अर्थात् नाटच-विषयक सूक्ष्म सूझ-बूझ; जब मूर्ख होने के कारण गौतम को कला की खूबी का कुछ भी पता नहीं, तो उसे पुरस्कार देने का क्या अधिकार है? वास्तव में धारिणी नहीं चाहती है कि राजा का कड़ा पारितोषिक-रूप में मालविका को दिया जाय, क्योंकि वह प्रेम-प्रतीक बन जायेगा, जो रानी को कदापि स्वीकार नहीं। **अजानन्**=न जानन् √ज्ञा (क्र्या० जानना)+शतृ प्र० पु० एक० न जानता हुआ। **किम्+इति**=क्यों? **त्वम्+आभरणम्**=तुम गहने अर्थात् राजा के कड़े को। **ददासि**=देते हो। राजा कला को जानता है, वह स्वयं दे तो बात भी है, एक मूर्ख के हाथों पुरस्कार दिया जाना स्वयं मालविका के लिए अपमानजनक है।

३६ **परकीयम्+इति परः एव परकः परकस्य इदम् परक+ईय** (छ) दूसरे का है—यह, **कृत्वा**=जान कर (दे रहा हूँ)। अपने स्वभावानुसार विदूषक का उत्तर बात की गम्भीरता को हास्य में बदल देता है। मालविका को रोक कर उन्हें अपना मतलब बनाना था वह बना लिया है। कड़ा उसका नहीं, दूसरे का है, वह कला की खूबी समझे न समझे, दूसरे प्रतिद्वन्द्वी ने अपनी कला-निपुणता अभी दिखाई है या नहीं इत्यादि बातों से विदूषक का क्या सरोकार? वह दूसरों के ऊपर उदारता दिखाने का अवसर क्यों चूके?

३७ **दर्शितो०=दर्शितः उपदेशः यस्याः सा** (ब० व्री०)=जिसकी नृत्य-

---

३६ **विदूषक**—यह दूसरे का है—यह समझ कर (देने जा रहा हूँ)।

३७ **देवी**—(आचार्य को देख कर) गणदासजी! आपकी शिष्या ने आपकी शिक्षा का प्रदर्शन कर दिया है न?

३८ गणदासः वत्से ! प्रतिष्ठस्वेदानीम् । (मालविका आचार्येण सह निष्क्रान्ता ।)

३९ विदूषकः (राजानं विलोक्य जनान्तिकम्)—एत्तिओ एव्व मे मदिविहवो भवन्दं सेविदुं। [एतावानेव मे मतिविभवो भवन्तं सेवितुम्।]

४० राजा (जनान्तिकम्) अलमलं परिच्छेदेन। अहं हि

शिक्षा का प्रदर्शन कर दिया गया है। वः = युष्मद् शब्द की षष्ठी बहुवचन का वैकल्पिक रूप = आपकी। अनभिलपणीय वार्तालाप यों ही लम्बा खींचा जाता देखकर रानी नहीं सहन कर सकती कि मालविका और अधिक समय के लिए रंगमञ्च पर खड़ी रहे, इसलिए वह गणदास को संकेत करती है कि वह अपनी शिष्या-सहित चले जायें, क्योंकि उसका प्रदर्शन समाप्त हो गया है।

३८ प्रतिष्ठस्व + इदानीम्; प्र के साथ √स्था आत्मनेपद हो जाता है। यह लोट् मध्य० एक० है = प्रस्थान करो, चले जाओ।

३९ एतावान् + एव = इतना ही। मतेः विभवः (ष० तत्पु०)=बुद्धि का प्रभाव, बुद्धि की पहुँच। विदूषक की योजना राजा को मालविका दिखाने तक की थी, वह सफल ही हो गई, इसमें अधिक अब गौतम की बुद्धि क्या कर सकती है ?

४० अलम् + अलम् परिच्छेदेन = (एतावान् इति इयत्ता-करणेन) सीमा बाँधने से। राजा को विदूषक की मालविका दिखाने तक की ही सहायता पर्याप्त नहीं है; उसे मालविका को प्राप्त करने तक गौतम की सहायता अपेक्षित है। तमाम नाटक के भीतर पाठक देखेंगे कि गौतम की उद्भावक बुद्धि किस तरह योजना पर योजना बनाना जानती है और उन्हें सफलता तक भी पहुँचा देती है।

---

३८ गणदास—बेटी ! अब चलो। (मालविका आचार्य के साथ चल पड़ी)

३९ विदूषक—(राजा को देखकर अलग) आपकी सेवा करने में इतने तक ही मेरी बुद्धि की पहुँच है।

४० राजा—(अलग) नहीं, नहीं, यहाँ तक ही नहीं, क्योंकि मुझे—

भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोर्हृदयस्य महोत्सवावसानमिव ।
द्वारपिधानमिव धृतेर्मन्ये तस्यास्तिरस्करणम् ॥११॥

भाग्या०—अन्वयः—तस्याः तिरस्करणम् अक्ष्णोः भाग्यास्तमयम् इव, हृदयस्य महोत्सवावसानम् इव, धृतेः द्वार-पिधानम् इव मन्ये (आर्या) ।

तस्याः=मालविका का । **तिरस्करणम्**=(परदे के पीछे) छिप जाना । **अक्ष्णोः**=अक्षिन् शब्द का षष्ठी द्विव० आँखों के । **भाग्यस्य अस्तमयम्**=अस्तम् (अव्यय) **अयः**=अयनम् √इण् (अ० जाना) + अच् (द्वि० ए०) (अस्तं गमनम्) भाग्य का अस्त हो जाना । यहाँ अक्ष्णोः का सम्बन्ध भाग्य से है, इसलिए सापेक्ष होने से यह कवि का एक और असमर्थ समास है; यहाँ या तो 'अक्षिभाग्यास्तमयम्' या 'अक्ष्णोः भाग्यस्य अस्तमयम्' होना चाहिए था । मालविका राजा के भाग्य का एक शुभ नक्षत्र है, जिसके छिप जाने के साथ ही राजा का एक भव्य दर्शन का भाग्य भी छिप गया है । **हृदयस्य महान् चासौ उत्सव महोत्सवः** (कर्मधा०) **तस्य अवसानम्** [ष० तत्पु०]=हृदय के एक महान् आनन्द की समाप्ति । मालविका का दर्शन राजा के हृदय के लिए एक महोत्सव था, जो उसे अनन्त हर्ष दिए जा रहा था, पर मालविका के हटते ही राजा के हृदय का हर्ष-स्रोत भी सूख गया । **धृतेः**=धैर्य का । **द्वारस्य पिधानम्**=अपि + √धा (जु० धारण करना) + अन् (ल्युट् भावे) भागुरि वैयाकरण के मतानुसार विकल्प से अपि के 'अ' का लोप, द्वार का ढक देना अर्थात् धैर्य चला जाना । यह भी असमर्थ समास है । मालविका के चले जाने से राजा के हृदय के अवसाद का यह बड़ा मार्मिक चित्रण है । ऐसी अवस्था में विदूषक की उर्वर मति ही राजा की सहायता कर सकेगी और उसकी प्रणय-नौका को परले किनारे लगा सकेगी ।

उसका परदे के पीछे चला जाना ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे कि मेरी आँखों का भाग्य अस्त हो गया हो, मेरे हृदय का महान् उत्सव समाप्त हो गया हो अथवा मेरे धैर्य का द्वार बन्द हो गया हो ॥११॥

४१ विदूषकः (जनान्तिकम्)—साहु तुमं दरिद्दो आदुरो विअ वेज्जेण उवणिज्जमाणं ओसदं इच्छसि। [साधु, त्व दरिद्र आतुर इव वैद्येनोपनीयमानमौषधमिच्छसि।]

४२ (प्रविश्य) हरदत्तः—देव ! मदीयमिदानीमुपदेशमवलोकयितुं क्रियतां प्रसादः।

---

४१ दरिद्रः + आतुरः + इव = गरीब रोगी की तरह। वैद्येन + उपनीयमानम् + औषधम् + इच्छसि = स्वयं वैद्य द्वारा लाई गई ओपधि को चाहते हो। उपनी० = उप + √नी (भ्वा० ले जाना) + शानच् कर्मणि। विदूषक राजा की तुलना उस कंगाल बीमार आदमी से कर रहा है जिसे वैद्य ने धर्मार्थ रोग-निदान करके अमुक-अमुक औपधि लेने को कहा है, पर बीमार उतने ही से सन्तुष्ट न होकर वैद्य से कहता है कि तुम स्वयं ही औपध भी लाकर धर्मार्थ मुझे दे दो। गौतम का आशय यह है कि मालविका तो मैंने आपको प्रत्यक्ष दिखा दी है। अब तुम स्वयं उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करो, न कि स्वयं कुछ भी न करके मुझे ही कहो कि उसे तुम ही प्राप्त भी करा दो।

४२ मदीयम् + इदानीम् + उपदेशम्+अवलोकयितुम् क्रियतां प्रसादः मम अयं मदीयः, तम् = अस्मत्+छ (छ को ईय और अस्मत् को 'मद्' आदेश)= अब मेरे सिखाए उपदेश=नृत्य को देखने की कृपा कीजिएगा।

---

४१ विदूषक—(अलग) ठीक है, आप तो एक निर्धन रोगी की तरह यः चाहते हैं कि वैद्य ही औपधि लाकर भी दे दे।

४२ हरदत्त—(आकर) महाराज! अब मेरे सिखाये नृत्य को देखने कं कृपा कीजिएगा।

४३ राजा (आत्मगतम्)—अवसितो मे दर्शनार्थः (दाक्षिण्यमवलम्ब्य, प्रकाशम्) हरदत्त ! ननु पर्युत्सुका एव वयम् ।

४४ हरदत्तः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

---

४३ अवसितः = अव √षो (दि० समाप्त होना) त (क्त कर्तरि) समाप्त हो गया है। **दर्शनस्य अर्थः** (प० तत्पु०) = देखने का प्रयोजन। नृत्यप्रदर्शन की योजना तो केवल मालविका को देखने के प्रयोजन के लिए थी। अब जब मालविका का साक्षात्कार हो गया, तब और नृत्य देख कर क्या करेंगे ? नृत्य देखना तो ध्येय ही नहीं था। **दाक्षिण्यम् = दक्षिणस्य भावः दक्षिण + य** (भावे) दक्षिण उस नायक को कहते हैं, जिसकी एक से अधिक नायिकाएँ हों, पर जो सभी के साथ एक-सा प्रणय-व्यवहार दिखाता है। किसी एक को अधिक चाहने पर भी वह अन्य नायिकाओं का दिल नहीं दुखाता और उन्हें सतत संतुष्ट रखने की बाहरी चेष्टा किया करता है। नायक की इस उदारता की शिष्टता को अंग्रेजी में Chivalry या Gallantry कहते हैं। **अवलम्ब्य**=अ+√लम्ब (भ्वा० लटकना)+य (ल्यप् ग्रहण करके।

४३ **पर्युत्सुका = परितः उत्सुकाः** (प्रादि तत्पु०) चारों तरफ से अर्थात् अत्यन्त उत्सुक।

४४ अनुगृहीतः+अस्मि, अनु + √ग्रह् (क्र्या० लेना) + त (क्त कर्मणि) मुझ पर कृपा है आपकी, धन्यवाद।

---

४३ **राजा**—(मन ही मन) (नृत्य) देखने का प्रयोजन तो अब समाप्त हो गया है। (बाहरी शिष्टता अपना कर, प्रकट में) हाँ, हरदत्त जी ! हम उसके लिए अत्यन्त उत्सुक हैं।

४४ **हरदत्त**—आपकी बड़ी कृपा है।

४५ [नेपथ्ये] **वैतालिकः—विजयतां देवः। उपारूढा मध्याह्नः।** तथाहि

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि।

---

४५ **वैतालिक** = राजगृह में रहने वाला एक ऐसा व्यक्ति होता है, जिसका काम राजा को और राजा के वंशधरों की स्तुति के साथ-साथ प्रहर बताना, प्रातः राजा को जगाना आदि होता है। इसे बन्दी, स्तुति पाठक, चारण या रायभाट भी कहते हैं। इसे वैतालिक इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह विविधेन तालेन चरति अथवा विविधः तालः = प्रयोजनम् अस्य, 'चरति इति ठक्'; देखिए भावप्रकाश—'तत्त त्प्रहरकयोग्यैः रागैस्त्व-काव्यवाचिभिः। सरभसमेव विताले गायन् वैतालिको भवति'। **उपारूढ** = उप + आ + √रुह् (भ्वा० चढ़ना) त (क्त कर्तरि) हो गया है। **मध्याह्नः = अह्नः मध्यं मध्याह्नः** (ष० तत्पु०) = मध्याह्न का समय, दोपहर।

पत्रच्छायासु०—अन्वयः—अत्यर्थ-तापात् हंसाः दीर्घिका-पद्मिनीनां पत्रच्छायासु मुकुलित-नयनाः (वर्तन्ते); सौधानि वलभिपरिचय-द्वेषि-पारावतानि (वर्तन्ते), शिखी बिन्दूत्क्षेपान् पिपासुः (सन्) भ्रान्तिमत् वारियन्त्रं परिपतति; सर्वैः नृपगुणैः समग्रः त्वम् इव सप्तसप्तिः दीप्यते। [स्रग्धरा]

अत्यर्थः तापः तस्मात् (कर्मधा०) = अत्यन्त धूप के कारण। **हंसाः** = हंस। **दीर्घिकाणां पद्मिनीनां पत्राणां छायासु** (ष० तत्पु०) = बावड़ियों

(नेपथ्य मे)

४५ **वैतालिक—**महाराज की जय हो। मध्याह्न हो गया है, क्योंकि—

कड़ी धूप के कारण हंस बावड़ियों की कमलिनियों के पत्तों की छाया में आँख मूँदे बैठे हैं; महलों के छज्जों पर कबूतर नहीं बैठ रहे हैं; म र

बिन्दूत्क्षेपान् पिपासुः परिपतति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं
सर्वैरुस्रैः समग्रस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥ १२ ॥

की कमलिनियों के पत्तों की छायाओं में। यहाँ पद्मिनीनाम् शब्द 'पत्राणाम्' शब्द से सम्बन्ध रखता है, अतः पत्र शब्द का छाया-शब्द के साथ समास नहीं होना चाहिए था; सापेक्ष शब्दों का समास असमर्थ समास कहलाता है जो पाणिनि के विरुद्ध है। **मुकुलितानि** = मुकुलानि करोति मुकुलयति मुकुल + णिच् + त (नामधातु) मुकुलितानि नयनानि येषां ते (ब० व्री०) =जिनकी आँखें कलियाँ बना दी गई हैं अर्थात् आँखें बन्द किये हुए। आँखों की तुलना इन्दीवरों से की जाती है, पर जब वे बन्द हो जाती हैं, तब वे कलियों की तरह हो जाती हैं। चौंधियाती धूप के कारण हंसों का आँखें बन्द कर देना स्वाभाविक ही है। **सौधानि** सुधया (चूने से) निर्मितानि सुधा + अण् = राजप्रासाद, महल। **वलभि०** = वलभीनां परिचयं द्विषन्तीति द्वेषिणः (उपपद तत्पु०) तथाभूताः पारावताः यत्र तथाभूतानि (ब० व्री०)=जिनके छज्जों के सम्पर्क से कबूतर द्वेष करने लगे हैं - ऐसे (महल बन गये हैं) अर्थात् धूप के कारण गरम हुए छज्जों पर कबूतर नहीं बैठ रहे हैं। कबूतर छज्जों पर बैठा करते हैं, इसके लिए देखिए मेघदूत—तां कस्याञ्चिद् भवन-वलभौ सुप्त-पारावतायाम्। नीत्वा रात्रिं चिर-विलसनात् खिन्न-विद्युत्कलत्रः ॥ ३८ ॥ **शिखी** = शिखा अस्य अस्तीति शिखा + इन् (मतुवर्थ) शिखी मोर को कहते हैं, क्योंकि उसके शिर पर शिखा—कलंगी—रहती है। **बिन्दूनाम् उत्क्षेपान्** (उद्गमान्) 'अत्र उत्क्षेप-शब्देन तत्क्रियाविशिष्टाः तुषारा ग्राह्याः तेषामेव पान-कर्मत्वसम्भवात्' अर्थात् बिन्दूत्क्षेप शब्द से यहाँ **उत्क्षिप्त** = (ऊपर से गिरते हुए) जल-कण लिए जाते हैं, क्योंकि पीए वे ही जाते

ऊपर से गिरते हुए जल-कणों को पीना चाहता हुआ घूमते हुए रहट की ओर दौड़ा जा रहा है; सूर्य अपनी किरणों से परिपूर्ण हो इस प्रकार चमक रहा है जैसे कि अपने सभी राजोचित गुणों में परिपूर्ण हुए आप चमकते हैं ॥ १२ ॥

४६ विदूषकः—अविहा अविहा। ब्रह्मणस्स भोअणवेला संवुत्ता। उइदवेलादिक्कमे चिकिस्सआ दोसं उदाहरन्दि। हरदत्त किं दाणिं भणसि। [अविहा, अविहा। ब्राह्मणस्य भोजनवेला संवृत्ता। उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति। हरदत्त ! किमिदानीं भणसि।]

हैं, न कि उत्क्षेप क्रिया। **दिपासुः**=पातुमिच्छुः पा + सन् + उ (कर्तरि) पीना चाहता हुआ। **भ्रान्तिमत्** = भ्रम + ति (क्तिन्-भावे) भ्रान्तिः अस्य अस्तीति भ्रान्ति + मतुप्=घूमते हुए, चक्कर काटते हुए। **वारिणः यन्त्रम्** (ष० तत्पु०) =जल निकालने वाले यन्त्र को, रँहट को। **परिपतति** = जा रहा है, उसके इर्दगिर्द घूम रहा है। यहाँ मयूर को एकवचनान्त रख कर कवि ने प्रक्रम-भंग दोष कर दिया है, क्योंकि मयूर से पूर्ववर्ती हंस और सौध दोनों बहुवचनान्त हैं; 'शिखी' की जगह 'शिखिनः' रख कर ही क्रम की रक्षा कवि को करनी चाहिए थी। **सर्वैः नृपाणां** (ष० तत्पु०) **गुणैः** (तृ० तत्पु०) **समग्रः** = सभी राजकीय गुणों से परिपूर्ण; **त्वम् + इव** = आपकी तरह। राजा में होने वाले गुण बृहस्पति ने ये गिना रखे हैं—तेजो बलं सत्त्ववत्ता प्रतापः प्राप्तकारिता। अधृष्यश्च गुणानेतान् नृपस्य कवयो विदुः। **सर्वैः उस्रैः** = सभी किरणों से। **समग्रः** = परिपूर्णः। **सप्त सप्तयः** (अश्वाः) **यस्य सः** [ब० व्री०]=सूर्य। **दीप्यते** = चमक रहा है। तेजस्वी राजा की सूर्य से तुलना संस्कृत-साहित्य में बहुत मिलती है, देखिए कवि का विक्रमोर्वशीय नाटक—'तुल्योद्योगस्तव दिनकृतश्चाधिकारो मतो नः' ॥१॥ यहाँ कवि ने दोपहर की प्रकृति का अपना गहरा अध्ययन दिखाया है। साथ ही सूर्य की राजा से तुलना करके द्रष्टागणों की दृष्टि में अपने नायक को उठाने का प्रयत्न भी किया है।

४६ **अविहा**—(प्रसन्नता-सूचक अव्यय) प्रसन्नता की बात है कि, क्या कहने, अररर ! **भोजनस्य वेला** (ष० तत्पु०) = भोजन की वेला, समय।

---

४६ विदूषक—अररर ! ब्राह्मण का भोजन का समय हो गया है। (भोजन का) उचित समय बीत जाने पर वैद्य लोग दोष बताते हैं। हरदत्त ! अब तुम्हारा क्या कहना है ?

४७ हरदत्तः—नास्ति वचनस्यान्यस्यावकाशोऽत्र ।

४८ राजा (हरदत्तमवलोक्य)—तेन हि त्वदीयमुपदेशं श्वो वयं द्रक्ष्यामः । विश्राम्यतु भवान् ।

४९ हरदत्त—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

संवृता = सम् + √वृत् (भ्वा० होना) त (क्त कर्तरि) हो गया है । उचिता वेला (कर्मधा०) तस्या अतिक्रमे (उल्लंघने) = उचित समय के लाँघने, वीत जाने पर । चिकित्सका, चिकित्सन्ति इति चिकित्सकाः √कित् (भ्वा० जानना) से कितेर्व्याधिप्रतीकारे, इस वार्तिक द्वारा सन्+अक (कर्तरि) चिकित्सकाः = इलाज करने वाले, वैद्य-डाक्टर लोग । दोषम् + उदाहरन्ति = खराबी वताते हैं । किम्+इदानीम् भणसि = अव क्या कहते हो ?

४७ न + अस्ति वचनस्य + अन्यस्य + अवकाशः + अत्र । अवकाशः = स्थान, अवसर, गुंजाइश ।

४८ हरदत्तम्+अवलोक्य । तव इदं त्वदीयम् = युष्मत् से छ प्रत्यय और युष्मत् को त्वत् आदेश । श्वः=आने वाला कल । द्रक्ष्यामः=√दृश् धातु का लृट् उत्त० व० व०, देखेंगे । विश्राम्यतु = वि + √श्रम् (दि० श्रम करना) लोट् ।

४९ यत् + आज्ञापयति, आ + √ज्ञा का णिजन्त लट् प्र० एक० ।

---

४७ हरदत्त—इस विषय में मेने और कहने की गुंजाइश ही नहीं रही ।

४८ राजा—(हरदत्त को देख कर) तो आपका सिखाया अभिनय हम कल देखेंगे । आप (अब) विश्राम करें ।

४९ हरदत्त—जैसी महाराज की आज्ञा । (चल जाता है) ।

५० देवी—णिव्वट्टेदु अज्जउत्तो मज्जणविहिं। (निर्वर्तयत्वार्यपुत्रो मज्जनविधिम्।)

५१ विदूषकः—भोदी विसेसेण भोअण तुवरोवेहि। (भवति, विशेषेण भोजनं त्वरय।)

५२ परिव्राजिका (उत्थाय)—स्वस्ति भवते। (इति सपरिजनया देव्या सह निष्क्रान्ता)

५३ विदूषकः—भो ण केवलं रूवे सिप्पे वि अदुदुदीआ मालविका। (भोः न केवल रूपे शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका।)

---

५० निर्वर्तयतु + आर्यपुत्रः + मज्जनविधिम्। निर् + वृत् (भ्वा० होना) + णिच् + लोट् प्र० ए० = करें। मज्जनविधिम् (ष० तत्पु०) √मस्ज् (भ्वा० शुद्ध होना) + अन (ल्युट् भावे) मज्जनम्=स्नानम् तस्य विधिम्=क्रियाम्।

५१ √त्वर् (भ्वा० जल्दी करना)—णिच् + लोट् मध्य० ए०=भोजन शीघ्र करवाइए। पेटू गौतम के लिए उतना महत्त्व स्नान का नहीं जितना भोजन का है।

५२ स्वस्ति=अव्यय है, इससे किसी भी कल्याण की कामना की जाती है। इसके योग में चतुर्थी हुआ करती है। परिजनैः सह वर्तमाना(ब० व्री०) दासियों-सहित। निष्क्रान्ता=निस् + √क्रम् + त (क्त कर्तरि)।

५३ शिल्पे=कला में। अद्वितीया=न द्वितीया यस्याः सा। (ब० व्री०) अद्वितीय, बेजोड़, लाजवाब।

---

५० देवी—आर्यपुत्र, स्नान कीजिए।

५१ विदूषक—देवी, विशेषकर भोजन का प्रबन्ध शीघ्र करवाइए।

५२ परिव्राजिका—(उठ कर) महाराज ! आपका कल्याण हो। (दासियों सहित रानी के साथ चल पडती हैं।)

५३ विदूषक—मित्र ! मालविका न केवल रूप में, बल्कि कला में भी अद्वितीय है।

५४ राजा— वयस्य

अव्याजसुन्दरीं तां विज्ञानेन ललितेन योजयता ।
परिकल्पितो विधात्रा वाणः कामस्य विषदिग्धः ॥१३॥

---

५४ अव्याज०—अन्वयः—अव्याज-सुन्दरीं तां ललितेन विज्ञानेन योजयता विधात्रा कामस्य विष-दिग्धः बाणः परिकल्पितः । (आर्या)

न व्याजः (कपटम्) अव्याजः (नञ् तत्पु०) अव्याजेन सुन्दरी ताम् (तृ० तत्पु०)=बिना व्याज—भूषणादि की कृत्रिमता—के सुन्दर अर्थात् जिसमें कृत्रिम सौन्दर्य नहीं है, बल्कि जो स्वभावतः सुन्दर है। ताम् मालविका को। ललितेन विज्ञानेन=ललित (Fine) विज्ञान से, शिल्प—ज्ञान से, ललित कला से, नृत्यगानादि से। योजयता=√युज् (चु० लगाना) + शतृ+तृ० एक० जोड़ते हुए, अर्थात् ललित-कला से युक्त करते हुए। विधात्रा=विदधाति वि + √धा तृच् (कर्तरि) इति विधाता तेन= जगत् बनाने वाले ने, ब्रह्मा ने। कामस्य = काम का। विषेण+दिग्धः (तृ० तत्पु०)=विष में बुझाया हुआ, विषाक्त। बाणः परिकल्पितः=परि+ √कल्प् (भ्वा० बनाना) + णिच् + त (क्त कर्मणि)=बाण बनाया है। मालविका की तुलना कामदेव के बाण से की गई है, क्योंकि वह स्वभावतः सुन्दर है और देखते ही मन को हर लेती है, लेकिन रूप-सौन्दर्य के अतिरिक्त उसमें ललित-कला—संगीत, नृत्य – का नैपुण्य भी है, जिसकी तुलना कवि विष से करता है, जिसमें वह बाण बुझाया गया है। मालविका की निर्व्याज सुन्दरता और संगीत-नैपुण्य दोनों मिलकर राजा पर

---

५४ राजा—मित्र,

स्वाभाविक सुन्दरी उस मालविका को ललित-कला का (भी) ज्ञान देकर ऐसा लगता है जैसे विधाता ने उसे कामदेव का विष में बुझाया बाण बनाया हो ॥१३॥

किं बहुना चिन्तयितव्योऽस्मि ते।

५५ विदूषकः—भवदा वि अहं। दिढं खु विपणिकन्दु विअ उअरब्भन्दरं दज्झइ। [भवताप्यहम्। दृढ खलु विपणिकन्दुरिवोदराभ्यन्तरं दह्यते।]

जादू कर बैठते हैं। शस्त्रास्त्रों को विष में डुबो कर और भी मारक बनाने को प्रथा प्राचीनकाल से चली आ रही है। एक सुन्दर नवयुवति का प्रेमास्त्र के रूप में वर्णन संस्कृत में बहुत मिलता है, क्योंकि उसे देखते ही हृदय में प्रेम भड़क उठता है, देखिये भवभूति द्वारा मालती का वर्णन...'बाणः पञ्चशिलीमुखस्य ललना-चूडामणिः सा प्रिया'।

किं बहुना = किम् (अव्यय) के योग में तृतीया होती है; अधिक क्या कहूँ? **चिन्तयितव्यः** = चित् (चु० चिन्ता करना)+तव्यः चिन्ता किये जाने योग्य हूँ, अर्थात् राजा मालविका को देखकर इतना काम-पीड़ित हो गया है कि वह एकमात्र विदूपक पर ही अपनी रक्षा का भार छोड़ देता है। नायक की इस तरह की विवशता और परालम्बिता द्रष्टागणों के हृदय में उसके चरित्र की दुर्बलता ही अंकित करती है. उदात्तता नहीं। यह एक प्रकार की मूर्खता ही समझिए कि नायक प्रेमिका प्राप्त करने का भार अपने मित्र के कन्धों पर ही डाल रहा है और स्वयं निष्क्रिय है, पर किसी माध्यम से प्रेमिका को प्राप्त करना रोमाञ्चक होता हुआ भी चारित्रिक दृष्टि से अनुचित ही कहा जायगा। अन्य दृष्टियों से उच्च चरित्रवान् होते हुए भी कालिदास के सभी नायक प्रेम-क्षेत्र में इस कमजोरी के समान-रूप से शिकार बने हुए हैं। विक्रमोर्वशीय के नायक का भी हाल देखिए --"तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफल-प्रार्थनो भवेयम्"। II।

५५ **भवता + अपि + अहम्** = आपको भी मेरी चिन्ता करनी होगी,

अधिक क्या कहूँ (अब) तुम्हें मेरी चिन्ता करनी होगी।

५५ विदूषक—आपको भी मेरी चिन्ता करनी चाहिए। सचमुच मेरा पेट (भूख के मारे) ऐसा जल रहा है जैसे कि बाजार में (होटल वालों का) तन्दूर।

५६ राजा—एवमेव भवान् सुहृदर्थे त्वरताम्।

५७ विदूषकः—गहीदक्खणोम्हि। किंदु मेहावलीरुद्धजोण्हा विअ पराहीणदंसणा तत्तहोदी मालविआ। भवं वि सूणोवरिअरो गिद्धो विअ आमिसलोलुओ भीरुओ अ। ता अणादुरो विअ कज्जसिद्धिं पत्थअन्दो मे रुच्चइ। [गृहीतक्षणोऽस्मि। किंतु मेघावलीरुद्धज्योत्स्नेव पराधीनदर्शना *तत्रभवती मालविका। भवानपि सूनोपरिचरो गृध्र इव आमिषलोलुपो भीरुकश्च* तस्मादनातुर इव कार्यसिद्धिं प्रार्थयमानो मे रोचते।]

अर्थात् जिस प्रकार आप प्रेम-रोग से पीड़ित हैं, उसी प्रकार मैं भी भूख के रोग से पीड़ित हूँ। आप मेरी भूख को तृप्त करने की चिन्ता कीजिए, तभी मैं आपकी सेवा कर सकूँगा, देखिए विक्रमो०—'बुभुक्षितस्य ब्राह्मणस्य जीवितमवलम्ब्यताम्'। विपणि-कन्दुः + इव+उदराभ्यन्तरं दह्यते। विपणेः कन्दुः (ष० तत्पु०)=बाजार—होटल के तन्दूर की तरह। उदरस्य अभ्यन्तरम् (ष० तत्पु०)=पेट का भीतरी भाग। दह्यते=जल रहा है। विदूषक भूख के मारे जलते हुए अपने पेट की उपमा तन्दूर से देता है, जो होटलों में जलता रहता है। विदूपक में भूख की असहिष्णुता उसके भोजन-भट्टी स्वभाव के अनुकूल ही है, तुलनार्थ देखिए शकु०—'कथं बुभुक्षया खादयितव्योऽस्मि' ॥६॥ और विक्रमो० —'सर्वत्रौदरिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः।'

५६ एवम् + एव = इस तरह ही। सुहृदः अर्थः तस्मिन् (ष० तत्पु०) मित्र के मतलब के लिए। त्वरताम् = √त्वर् (भ्वा० जल्दी करना) + लोट् प्र० एक० जल्दी करो। राजा के कहने का भाव यह है कि जिस तरह तुम्हें अपने पेट की चिन्ता रहती है, उसी तरह तुम्हें मेरे कार्य की अर्थात् मालविका प्राप्त करने की चिन्ता भी होनी चाहिए।

५७ गृहीत०=गृहीतः क्षणः येन सः (ब० ब्री०) अमरकोश के अनुसार क्षण

---

५६ राजा—आप भी इसी तरह अपने मित्र के कार्य के लिए शीघ्रता करें।

५७ विदूषक—हाँ, आपके कार्य के लिए मैं वचन देता हूँ कि अपना

५८ राजा— सखे कथमनातुरो भविष्यामि । यदा

शब्द के तीन अर्थ होते हैं—उत्सव, समय का लघु भाग और खाली समय। यहाँ क्षण से तीसरा अर्थ लिया जाता है, खाली समय मैंने स्वीकार कर लिया है (आपके कार्य के लिए) अर्थात् जो कुछ भी मेरे पास खाली समय रहेगा, मैं आपके कार्य के लिए लगा दूँगा, मैं इसके लिए वचन-बद्ध हूँ। 'क्षणम् + √ग्रह्' यह एक मुहाविरा (Idiom) है, जिसका अर्थ होता है—(किसी कार्य के लिए) समय जुटा देना, वचन दे देना, (काम) हाथ में ले लेना, देखिए शाकुन्तल—'तेन हि गृहीतः क्षणः'। वस्तुतः इस मुहाविरे के मूल में एक धार्मिक विधान है। जब श्राद्ध में किसी ब्राह्मण को भोजनार्थ निमन्त्रित किया जाता था, तब उसे 'श्राद्धकर्ता' के यहाँ बैठा रहना पड़ता था जब तक कि श्राद्ध-क्रिया सम्पन्न नहीं हो जाती थी। क्रिया सम्पन्न हो जाने के बाद ब्राह्मण भोजन करता था, देखिये शौनकस्मृति—'श्राद्धे तु वैश्वदेवार्थं करणीयः क्षणस्त्वया। इत्येवं श्राद्धकृत् ब्रूयात् तं प्राप्नोति भवानिति। स वदेत् प्राप्नवानीति इतरस्तं प्रति द्विजः' ॥ ६६ ॥ श्राद्धकृत् और श्राद्धभोजी के मध्य इस अनुबन्ध (Commitment) के हो जाने के बाद श्राद्धभोजी ब्राह्मण को अपना तमाम खाली समय श्राद्धकृत् के यहाँ ही बिताना पड़ता था। श्राद्धकृत् **'क्षण देता था'** और श्राद्धभोजी **'क्षण लेता था'**। बाद को यह शब्द 'किसी भी कार्य को अपने हाथ में ले लेना' इस अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा। **मेघा०=मेघानाम् आवर्तः** (प० तत्पु०) **तया रुद्धा** (प० तत्पु०) **या ज्योत्स्ना** (कर्मधारय) **सा इव**=मेघ-घटा से रुकी हुई चाँदनी की तरह। **पराधीनं दर्शनं**

पूरा समय जुटा दूँगा। किन्तु मालविकाजी तो मेघ-घटा से रुकी हुई चाँदनी-सी बनी हुई हैं, जिनका दर्शन दूसरों के हाथ में है। इधर देखो तो आप वध-स्थान के ऊपर मँडराते हुए गीध की तरह मांस के लोभी तो हो, परन्तु झपटने से डर रहे हो। इसलिए यदि आप धैर्य रख कर कार्य की सफलता चाहें, तभी आप मुझे अच्छे लगेंगे।

सर्वान्तःपुरवनिताव्यापारं प्रति निवृत्तहृदयस्य।

यस्याः सा (ब० ब्री०)=जिसका दर्शन दूसरों के हाथ में हैं—ऐसी मालविका बन गई है। विदूषक मालविका को प्राप्त करने में मुख्य कठिनाई बतलाता है। वह उसकी तुलना चांदनी से करता है और ईर्ष्यालु, कलुषित रानी धारिणी की तुलना मेघावली से, जो चांदनी को रोके रहती है। मालविका को प्राप्त करना तो दूर रहा, रानी ने उसके दर्शन तक पर भी रोक लगा रखी है, क्योंकि रानी इस बात के सर्वथा विरुद्ध है कि राजा मालविका से प्रेम करे। फिर मालविका राजा को प्राप्त हो तो कैसे? भवान्+अपि=आप भी। सूनायाः उपरि चरतीति (उपपद तत्पु०) सूना उस स्थान को कहते हैं, जहाँ पशु मारे जाते हैं, वध-स्थान, कसाईखाना। उसके ऊपर मंडराते हुए गृध्रः इव=गीध की तरह, आमिषस्य लोलुपः (ष० तत्पु०)= मांस का लोभी, भीरुः एव भीरुकः स्वार्थे क प्रत्यय=डरपोक, डरने वाला। विदूषक राजा की तुलना उस गीध से करता है, जो मांस का तो लोभी है और उसके लिए वध-स्थान के इर्द-गिर्द मंडरा भी रहा है, पर डर के मारे मांस पर झपटता नहीं। मालविका की मांस से तुलना की गई है जिसकी रक्षिका रानी धारिणी है। गौतम की शिकायत यह है कि राजा अपने प्रणय-व्यापार में स्वयं तो पहल लेता नहीं, विदूषक को ही उसके लिए प्रेरित करता रहता है। राजा मालविका को चाहता है, किन्तु वह रानी धारिणी को नाराज करने को कदापि तैयार नहीं है और सारे षड्यन्त्र का केन्द्र-बिन्दु भी यही है, जिसके चारों ओर सारे दृश्य चक्कर काटते हैं। तस्मात्+अनातुरः+इव, न आतुरः अनातुरः (नञ् तत्पु०)=आतुर, अशान्त, बेचैन को कहते हैं, इसके विपरीत अनातुर हुआ धीर, शान्त। इव शब्द यहाँ वाक्यालङ्कार में है,

---

५८ राजा—मित्र ! धैर्य रखूँ तो कैसे ! जब कि—

अन्तःपुर की सभी महिलाओं की ओर से मुंह मोड़े हुए मेरा हृदय

सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता ॥१४॥

सादृश्यवाचक नहीं। **कार्यस्य सिद्धिम्** (ष० तत्पु०) कार्य की सफलता को। **प्रार्थयमानः** = प्र + √अर्थ (चु० चाहना, माँगना) + शानच् (कर्तरि) चाहता हुआ। **मे रोचते** = मुझे अच्छे लगते हो। मे यह मह्यम् का वैकल्पिक रूप है। √रुच् धातु के योग में चतुर्थी हुआ करती है। विदूषक राजा को धैर्य रखने की सलाह देता है। अधीरता और घबराहट से मार्ग में कठिनताएँ ही बढ़ती हैं, सफलता नहीं मिलती। विदूषक की सलाह सर्वथा समयानुकूल और उचित ही है।

५८ कथम् + अनातुरः + भविष्यामि = राजा जानता है कि गौतम ठीक ही कह रहा है, परन्तु बेचैन हृदय राजा के मन को धैर्य और शान्ति कैसे दे सकता है?

सर्वा०—अन्वयः— सर्वान्तःपुर-वनिता-व्यापारं प्रति निवृत्त-हृदयस्य मे स्नेहस्य सा वामलोचना एकायनीभूता। (आर्या)

सर्वासाम् अन्तःपुरस्य स्त्रीणां स्त्रीषु वा व्यापारं (ष० तत्पु०) **प्रति**= सभी अन्तःपुर की स्त्रियों के प्रति व्यवहार की ओर से, **निवृत्तं हृदयं यस्य सः तथोक्तस्य**। (ब० व्री०) = हृदय को खींचे हुए, **मे**=मेरे, **स्नेहस्य**=प्रेम की, **सा वामलोचना**। **वामे=सुन्दरे लोचने यस्याः सा** (ब० व्री,=वह सुन्दर नयनों वाली अर्थात् मालविका, **एकं च तत् अयनम्** (स्थानम्) **एकायनम्** (कर्मधा०) **तद्भूता** (अभूततद्भावे कर्तरि च्वि) = एकमात्र आधार बनी हुई है। राजा अपनी हालत का वर्णन कर रहा है कि मेरी अन्त.पुर की किसी भी अन्य स्त्री में रुचि नहीं रही, उनसे दिखावे का व्यवहार करना पड़ रहा है, मेरे हृदय की, हृदय के प्रणय की एकमात्र आधार यदि कोई बनी हुई है,

---

उस सुन्दर नयनों वाली को ही अपने प्रेम का एकमात्र आधार बनाए बैठा हुआ है ॥१४॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति द्वितीयोऽङ्कः ॥

तो केवल मालविका और कोई नही। इससे पता चलता है कि मालविका के प्रति राजा का प्रणय-व्यापार वहुत दूर तक पहुँच गया है, जो किसी भी क्षण अन्तःपुर के मामलों मे गड़वड़ो पैदा कर सकता है।

॥ द्वितीय अंक समाप्त ॥

(सब के सब चले जाते हैं)

॥ द्वितीय अंक समाप्त ॥



तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति परिव्राजिकायाः परिचारिका समाहितिका)

१ समाहितिका—आणत्तम्हि भअवदीए। उवाअणत्थं बीजपूरअं गेण्हिअ आअच्छत्ति। ता जाव पमदवणपालिअं महुअरिअं अण्णेसामि। (परिक्रम्य अवलोक्य च) एसा तवणीआसोअं ओलोअन्दी चिट्ठदि। जाव णं उवसप्पामि। [आज्ञप्तास्मि भगवत्या उपायनार्थं बीजपूरकं गृहीत्वा आगच्छ इति। तद्यावत्प्रमदवनपालिकां मधुकरिकामन्विष्यामि। एषा तपनीयाशोकमवलोकयन्ती तिष्ठति। यावदेनामुपसर्पामि।]

---

१ आज्ञप्ता + अस्मि भगवत्या = भगवती ने आज्ञा दी है कि। उपायनाय इति उपायनार्थम्; उपायन का अर्थ के साथ चतुर्थ्यर्थ में नित्य-समास। उपायन – भेंट – के लिए। बीजपूरकम्=बीजपूरम् एव बीजपूरकम्, स्वार्थ में क प्रत्यय, बीजपूरे को। बीजपूरा एक गल-गल जैसा फल होता है, इसे हिन्दी में बिजौरा कहते हैं। यह खट्टा और मीठा दोनों जाति का होता है। यहाँ मीठा बिजौरा अभिप्रेत है, जो माल्टे से मिलता-जुलता है। गृहीत्वा आगच्छ = लेकर आओ। परिव्राजिका कौशिकी रानी धारिणी से मिलने जा रही है। इसलिए उसने अपनी सेविका को प्रमदवन से एक बिजौरा तोड़ लाने को भेजा है, क्योंकि वह रानी को फल भेंट करेगी। शास्त्रीय विधान है कि राजा, रानी, देवता व गुरु के पास खाली-हाथ नहीं जाना चाहिए। देखिए मनु-

---

तीसरा अङ्क

(परिव्राजिका की सेविका समाहितिका का प्रवेश)

१ समाहितिका—मुझे भगवती (परिव्राजिका) ने आज्ञा दी है कि ('रानी को) भेंट के लिए एक बिजौरा लेकर आओ'। तो मैं प्रमदवन की मालिन मधुरिका को ढूँढती हूँ। (घूम कर और देखकर) अरे, यह तो सुनहले अशोक को एकटक देखती हुई खड़ी है। तो इसके पास चलूँ।

(ततः प्रविशत्युद्यानपालिका)

का वचन—"रिक्त-पाणिर्न पश्येत् तु राजानं देवतां गुरुम्"। नारियल की तरह बिजौरा भी भेंट किये जाने योग्य एक मांगलिक फल माना गया है। **तत्+यावत् प्रमद वनस्य पालिकाम्** (ष० तत्पु०) = प्रमदवन की रक्षिका; **मधुकरिकाम् अन्विष्यामि** = तो अब प्रमदवन की मालिन मधुकरिका को ढूँढती हूँ। 'प्रमदवन' के लिए देखिए अमरकोष—'प्रमदवनमन्तःपुरोचितम्' अन्तःपुर में महल के साथ सटा हुआ एक उद्यान होता है, जिसमें राजा और रानियाँ टहलते-फिरते आनन्द लेते हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति दो तरह से हो सकती है—(१) प्रकृष्टो मदः (आनन्दः) प्रमदः (प्रादि तत्पु०) प्रमद-जनकं, वनम् प्रमद-वनम्, (मध्यमपद-लोपी स०) अर्थात् वह वन, जो आनन्द-दायक होता है। (२) प्रमदानां वनम् (ष० तत्पु०) अन्तःपुर की महिलाओं का वन (Ladies' Garden)। क्योंकि प्रमदवन व्यक्तिवाचक संज्ञा है, इस-लिए प्रमदा के 'आ' को ह्रस्व हो जाता है। देखिए पाणिनि-सूत्र—ङ्याप्पोः संज्ञा-छन्दसोर्बहुलम् ६।३।६३ जैसे रेवत्याः पुत्रः रेवतिपुत्रः, काल्याः दासः कालिदासः इत्यादि। **एषा तपनीयाशोकम्+अवलोकयन्ती = तपनीयवत् (पीतः) अशोकः** (कर्मधा०) तम्। तपनीय सोने को कहते हैं। उसके रंग का गाढ़ा पीला लाल-लाल अशोक। अशोक एक फूल वाला वृक्ष होता है, जिसका संस्कृत-साहित्य में बड़ा उल्लेख है। यह दो रंगों का होता है रक्त और श्वेत। रक्त अशोक गाढ़ा-पीला रंग लिये लाल-लाल होता है। इसे ही तपनीयाशोक कहते हैं, देखिए—'प्रसूनकैरशोकस्तु श्वेतो रक्त इति द्विधा। बहु-सिद्धिकरः श्वेतो रक्तोऽत्र स्मर-वर्धनः' श्वेताशोक मांगलिक होता है जब कि रक्ताशोक कामोद्दीपक। रक्ताशोक के सम्बन्ध में कवियों की यह मान्यता है कि यह तब फूल देता है जब कि कोई सुन्दर नवयुवति अपने झनझनाते नूपुर वाले बायें पैर से इस पर प्रहार करती है। मालिन को यह चिन्ता हो

(मालिन प्रवेश करती है)

२ समाहितिका (उपसृत्य)—महुअरिए अवि सुहो दे उज्जाणव्वावारो। [मधुकरिके अपि सुखस्ते । उद्यानव्यापारः।]

३ मधुकरिका—अम्मो परभिरिआ । सहि साअदं दे । [अम्मो समाहितिका । सखि ! स्वागतं ते ।]

४ समाहितिका—हला भअवदो आणवेदि अरित्तपाणिणा अम्हारिसजणेण तत्तहोदी देवी दक्खिदव्वा । ता वीजपूरएण सस्सुभिदुं इच्छम्मित्ति। [हला, भगवत्याज्ञापयति अरिक्तपाणिनास्मादृशजनेन तत्रभवती देवी द्रष्टव्या। तद्बीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामि इति ।]

रही थी कि रक्ताशोक वृक्ष क्यों नहीं फूल रहा है । यावत्+एनाम्+उपसर्पामि= तो इसके पास चलूँ ।

२ अपि सुखः+ते उद्यानस्य व्यापारः (प० तत्पु०) अपि शब्द यहाँ प्रश्नवाचक है । सुखः संस्कृत में विशेष्य (Noun) और विशेषण (Adjective) दोनों होता है, यहाँ विशेषण बना हुआ है, इसलिए पुल्लिग विशेष्य के साथ पुल्लिग बना हुआ है, सुख का अर्थ है सुखदायक सुख-पूर्ण, ठीक-ठीक । उद्यानव्यापार.=उद्यान का काम-धन्धा ।

३ स्वागतम् सु+आ+√गम् (भ्वा० जाना) त (क्त भावे) शुभागमन । ते= तुभ्यं (चतुर्थी) का वैकल्पिक रूप ।

४ भगवती+आज्ञापयति=आज्ञा दी है; यह वर्तमान-समीप के

---

२ समाहितिका—(पास जाकर) अरी मधुरिका ! तेरे उद्यान का काम-धन्धा तो ठीक चल रहा है न ?

३ मधुकरिका— अरी समाहितिका हो ! स्वागत सखी ! स्वागत ।

४ समाहितिका—सखी ! भगवती कौशिकी ने आज्ञा दी है कि मैं रानीजी से मिलने जा रही हूँ, किन्तु हम-जैसों का खाली हाथ जाना ठीक नहीं होता, इसलिए एक बिजौरा लेकर मैं रानीजी की सेवा में उपस्थित होना चाहती हूँ ।

५ मधुकरिका—णं सण्णिहिदं एव्व बीजपूरअं। कहेहि दाव अण्णोण्णसंघरिसिदाणं णट्टाअरिआणं उवदेसं देक्खिअ कदरो भअवदीए पसिंसदो। [ननु संनिहितमेव बीजपूरकम्। कथय तावदन्योन्यसंघर्षितयोर्नाट्याचार्ययोरुपदेशं दृष्ट्वा कतरो भगवत्या प्रशंसितः।]

भूतकाल में वर्तमानकाल है। अरिक्तपाणिना+अस्मादृश-जनेन=न रिक्तः पाणिः यस्य स तथाभूतेन (ब० व्री०)=बिना खाली हाथ; अस्मान् इव पश्यन्ति यं जना इति अस्मादृशः=अस्मत्+√दृश् कञ् (कर्तरि) अस्मादृशश्चासौ जनः (कर्मधा०) शब्दतः कर्तृवाच्य होने पर भी यह प्रयोग अर्थतः कर्मवाच्य है अर्थात् हम—जैसे दीखने वाले, हमारे-जैसे, हमारे समान लोग। द्रष्टव्या=√दृश्+तव्य+आ (स्त्री०) देखती है, मिलना है। शुश्रूषितुम्=√श्रु (भ्वा० सुनना)+सन्+तुम् मूलतः सुनना चाहना अर्थ होते हुए भी अब साधारणतः इसका सेवा करना अर्थ लिया जाता है; शुश्रू.....मि=सेवा करना चाहती हूँ; सेवा में उपस्थित होना चाहती हूँ। भारतीय संस्कृति में खाली हाथ जाना निषिद्ध है।

५ संनिहितम्=सम्+नि+√धा (जु० रखना) क्त=पास में ही स्थित। तावत्+अन्योन्य-संघर्षितयोः+नाट्याचार्ययोः+उपदेशं दृष्ट्वा अन्योऽन्यं =परस्परं संघर्षितयोः=संघर्षः सञ्जातः अनयोः इति संघर्ष+इतच् (तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ५। २। ३६)—परस्पर झगड़ते हुए दोनों नाट्याचार्यों के सिखाये नृत्यों को देखकर। कतरः=किम्+तर = दोनों में से कौन एक। भगवत्या=परिव्राजिका ने। प्रशंसितः=प्र+√शंस् (भ्वा० सराहना)+त (क्त कर्मणि) सराहा, प्रशंसा की।

---

५ मधुकरिका—बिजौरा तो पास में ही है। हाँ, यह तो कहो कि आपस में झगड़ते हुए दोनों नाट्याचार्यों के सिखाये नृत्यों को देख कर दोनों में से किस को भगवती कौशिकी ने सराहा है?

६ समाहितिका—दुवे वि किल आअमिणा पओअणिउणा अ। किं दु सिस्सागुणविसेसेण उण्णमिदो गणदासो। [द्वावपि किलागमिनौ प्रयोगनिपुणौ च। किं तु शिष्यागुणविशेषेण उन्नमितो गणदासः।]

७ मधुकरिका—अह मालविआगदं कोलीणं कहं सुणीअदि। [अथ मालविकागतं कौलीनं कथं श्रूयते।]

---

६ द्वौ + अपि किल + आगमिनौ = आगमः = शास्त्रम् (नाटयशास्त्र) अनयोः अस्तीति तादृशौ = दोनों के दोनों सचमुच (नाटय) शास्त्री हैं, प्रयोगे निपुणौ—स० तत्पु०) प्रयोग, क्रियात्मक शिक्षा (Practical Training) अर्थात् अभिनय को कहते हैं, दोनों अभिनय-कला सिखाने में भी निपुण है। शिष्यायाः गुणः ष० तत्पु०) तस्मिन् विशेषः (स० तत्पु०) तेन = शिष्या (मालविका) की योग्यता में विशेपता के कारण उन्नमितः = उत् + √नम् (भ्वा० उठना) + णिच्+त (क्त कर्मणि) गणदासः=गणदास को ऊपर उठाया गया अर्थात् गणदास अच्छा ठहराया गया। समाहितिका के द्वारा द्रष्टाओं को दी गई सूचना बतलाती है कि राजा ने अपने वचन से बद्ध होकर हरदत्त की शिष्या इरावती का भी अभिनय देखा और तब जा कर निर्णय किया गया कि किसका अभिनय अच्छा है। हरदत्त की शिष्या का अभिनय कथावस्तु के विकास में आवश्यक न होने के कारण रंगमंच पर नहीं दिखाया गया, उसकी सूचना-मात्र दे दी गई है।

७ मालविकायां = (विषय-सप्तमी) मालविका-विषये गतं = सम्बद्धम्

---

६ समाहितिका—इसमें सन्देह नहीं कि दोनों के दोनों नाटयशास्त्र के अच्छे ज्ञाता हैं, साथ ही अभिनय सिखाने में भी निपुण हैं, किन्तु मालविका के अभिनय में विशेपता होने के कारण गणदास को ही ऊँचा ठहराया गया।

७ मधुकरिका—हाँ, यह तो बताओ कि मालविका के विषय में कैसा लोकापवाद सुनने में आ रहा है ?

८ समाहितिका—वलिअं खु साहिलासो भट्टा तस्सिं। केवलं देवीए धारिणीए चित्तं रक्खन्दो अत्तणो पहुत्तणं ण दंसेदि। मालविआ वि इमेसु दिअहेसु अणुहूदमुत्ता विअ मालदीमाला मिलाअमाणा लक्खिअदि। अदो वरं ण जाणे। विसज्जेहि मं [बलवन् खलु साभिलाषो भर्ता तस्याम्। केवलं देव्या धारिण्याश्चित्तं रक्षन्नात्मनः प्रभुत्वं न दर्शयति। मालविकाप्येषु दिवसेषु अनुभूतमुक्तेव मालतीमाला म्लायमाना लक्ष्यते। अतः परं न जाने। विसर्जय माम्।]

(ष० तत्पु०) मालविका के विषय में। कौलीनम्=लोकवाद, देखिए अमरकोष—'स्यात् कौलीनं लोकवादः' लोगों में फैली हुई बात (Scandal) अर्थात् राजा मालविका से प्रेम करते हैं—यह जनरव है। कौलीन शब्द की व्युत्पत्ति इस तरह है—कुले भवः कुलीनः इति कुल+ख (पा० ४।१।१३९) कुलीनस्य भावः कुलीन+अण्=कौलीनम्। कुलीन से बना 'कुलीनत्व' तो अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है, किन्तु 'कौलीन' बुरे अर्थ में, अर्थात् 'कुलीनत्व' यदि गोप्य हो, तो 'कौलीन' कहलाता है, देखिए विश्व—'कौलीनं स्यात् कुलीनत्वे गुह्ये'। कुछ टीकाकार इसकी व्युत्पत्ति यों करते हैं—कौ=पृथिव्यां लीनं=प्रसृतम् (अलुक् समास) दुनियाँ में फैली हुई बात अथवा कुले=जन समूह भवम् अथवा कुलात्=जन-समूहात् आगतम्=जन-समाज में अथवा जन-समाज से चली हुई बात।

८ बलवन् (अव्यय) बहुत, बड़े जोर से। अभिलाषेण सह वर्तमानः (ब० व्री०)=चाह वाला। धारिण्याः+चित्तं रक्षन्+आत्मनः प्रभुत्वम्=प्रभोः भावम् प्रभुता को न दर्श०=√दृश् (भ्वा० देखना)+णिच्+लट् प्र० एक०=नहीं

---

८ समाहितिका—यही कि महाराज सचमुच मालविका को बहुत चाहते हैं, किन्तु रानी धारणी का मन रखने के लिए अपना प्रभुत्व नहीं दिखाते। मालविका भी आजकल इस तरह मुरझाई दिखाई दे रही है, जैसे कि पहन कर फेंकी हुई मालती की माला। इससे अधिक मैं नहीं जानती। अच्छा, तो अब चलूँ।

९ मधुकरिका—एदं साहावलम्बि बोजपूरअं गेह्न । [एतच्छाखावलम्बि बीजपूरकं गृहाण ।]

१० समाहितिका (नाट्येन गृहीत्वा—हला तुमं वि इदो वर पेसलअरं साहुअणसुस्सूसाए फलं पाविदा होहि । [हला त्वमपि इतः परं पेशलतर साधुजनशुश्रूषायाः फलं प्राप्ता भव ।] (इति प्रस्थिता)

दिखाता है । राजा राजा ही है, जो चाहे कर सकता है । वह बलात् मालविका को ले सकता है, किन्तु वह धारिणी को बल-प्रयोग द्वारा अप्रसन्न नहीं करना चाहता । वह 'दक्षिण' नायक है, 'धृष्ट' नहीं और यही उसके चरित्र में एक बड़ी अच्छी बात है जो उसे द्रष्टा-गणों की निगाह में गिरने नहीं देती है। मालविका + अपि + एषु दिवसेषु, अनु० = पूर्वम् अनुभूता पश्चात् मुक्ता । (कर्मधा०) पहले पहनी और बाद को उतारी गई, पहन कर फेंकी हुई मालती-माला की तरह । म्लायमाना—√म्लै (भ्वा० मुरझाना) + शानच्+आ (स्त्री०) मुरझाई हुई, कुम्हलाई हुई । लक्ष्यते = दिखाई देती है । समाहितिका का भाव यह है कि राजा ही मालविका को प्रेम करते हों सो बात नहीं, बल्कि मालविका भी राजा पर अनुरक्त है और मेल न होने के कारण घुलती जा रही है । अतः परम्=इससे आगे, अधिक । विसर्जय = वि + √सृज् (तु० विदा करना) + णिच् लोट् म० एक०–विदा करो, छुट्टी दो ।

९ एतत्+शाखावलम्बि = शाखायाम् अवलम्बते इति शाखा+अव+√लंब् (भ्वा० लटकना) + इन् (उपपद तत्पु०)=शाखा में लटकते हुए बिजौरे को । गृहाण =√गृह (क्र्या० लेना) लोट् म० एक० ले लो ।

१० त्वम्+अपि इतः परं पेशलतरम् अतिशयेन पेशलम् = और भी अच्छा । साधवश्च ते जनाः साधु-जनाः (कर्मधा०) तेषां शुश्रूषा (ष० तत्पु०)

---

९ मधुकरिका—यह शाखा पर लटका हुआ बिजौरा (तोड़) ले जाओ ।

१० समाहितिका—(बिजौरा तोड़ने का अभिनय करके) सखी !

११ मधुकरिका— सहि समं एव्वं गच्छम्ह। अहं वि इमस्स चिराअमाणकुसुमोग्गमस्स तवणीआसोअस्स दोहदणिमित्तं देवीए विण्णवेमि। [सखि ! सममेव गच्छावः। अहमप्यस्य चिरायमाणकुसुमोद्गमस्य तपनीयाशोकस्य दोहदनिमित्तं देव्यै विज्ञापयामि।]

तस्याः फलम् प्राप्ता (कर्तरि क्त) भव = तुम भी साधु-जनों की सेवा का इससे भी और अच्छा फल प्राप्त करो। मधुकरिका ने समाहितिका को कौशिकी के लिए बिजौरे का फल दिया, तो उसके बदले वह भी मधुकरिका के लिए अच्छे फल की कामना करती है। उसका संकेत भविष्य में कभी मधुकरिका द्वारा राजा का ध्यान अपनी ओर भी प्राप्त करने से है, क्योंकि वह सुन्दर है और सुन्दर चेहरा ही राजा के सामने अन्तःपुर में प्रवेश पाने का प्रमाण-पत्र है।

११ समम् + एव = साथ ही साथ, गच्छावः = चलती हैं। अहम् + अपि + अस्य, चिरायते इति चिरायमाणः (शानच्) अचिरं चिरं भवतीति चिरायते चिर=क्यङ् अभूत–तद्भावे (पा० ३।१।१२) नामधातुः। चिरायमाणः कुसुमानाम् उद्गमो यस्य स तथोक्तस्य (ब० ब्री०) = जिसके फूल निकलने में देरी हो रही हो–ऐसे तपनीयाशोकस्य=सुनहले अशोक का। दोहदस्य निमित्तम् = उपायम् (ष० तत्पु०) दोहनं दोहः √दुह (अ० दुहना) + घञ् भावे, दोहम् = आकर्षं ददाति इति दोहदः दोह्+√दा+क कर्तरि = गर्भिणी स्त्री की इच्छा; जब वृक्षों के फूलने का समय होता है, तब उनमें भी

तुम भी साधुजनों की सेवा का इससे भी और अच्छा फल प्राप्त करो। (चली जाती है)

११ मधुकरिका—सखी ! (ठहरो) साथ ही साथ चलें। मुझे भी रानी धारिणी को कहना है कि सुनहले अशोक के फूलने का उपाय कीजिए, क्योंकि वह फूलने में विलम्ब कर रहा है।

१२ समाहितिका—जुज्जइ। अहिआरो क्खु तुह। [युज्यते। अधिकारः खलु तव।] (इति निष्क्रान्ते)

इच्छा होती है, वे भी कुछ ऐसी वस्तु चाहते हैं जिसे प्राप्त कर वे फूल देने लगते हैं, देखिए—'तरु-गुल्म-लतादीनाम् अकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात् तु तत्क्रिया'। (शब्दार्णव) संस्कृत-कवियों ने प्रचलित प्रणाली के अनुसार विभिन्न वृक्षों में फूल उत्पन्न करने के लिए विभिन्न दोहदों का वर्णन किया है। इसके लिए देखिए—'पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः शोकं जहाति बकुलो मुख-सीधु-सिक्तः। आलोकनात् कुरबकः कुरुते विकासम् आलिंगितस्तिलक उत्कलिको विभाति।' अर्थात् अशोक सुन्दर नवयुवति के पाद-प्रहार से, मौलसरी उसके मुख की मदिरा की कुल्ली से, कुरबक उसके मधुर दृष्टि-पात से और तिलक उसके आलिंगन से फूल उठते हैं। प्रकृत में तपनीयाशोक फूल नहीं दे रहा था, इसलिए उसके दोहद का उपाय मधुकरिका रानी को बताना चाहती है और वह उपाय है नवयुवति द्वारा अशोक पर पाद-प्रहार।

१२ युज्यते=ठीक ही है। अधिकारः=अधिक्रियते अस्मिन् इति अधि + √कृ (त० करना)=+घञ् अधिकरणे, काम, नौकरी। प्रवेशकः—

हम पीछे प्रथम अंक के टिप्पण सं० ४० में विष्कम्भक का स्वरूप बता आए हैं और यह भी कह आए हैं कि विष्कम्भक और प्रवेश में थोड़ा ही अन्तर है। यह दोनों रंगमञ्चीय दिग्दर्शन (Stage direction) की वस्तुएँ हैं। ये अंक के आदि में होते हैं। कथावस्तु के विकास की दृष्टि से नाटक की कुछ वस्तुओं को छोड़ दिया जाता है, किन्तु द्रष्टागणों की जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने के लिए उनकी सूचना दे देनी होती है जिससे अग्रिम कथा की कड़ी टूटी प्रतीत

---

१२ समाहितिका—ठीक है, तुम्हारा ही तो वास्तव में यह काम है।

(दोनों चल पड़ती हैं)

इति प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा विदूषकश्च)

न हो। यहाँ समाहितिका और मधुकरिका को रंगमञ्च पर भेज कर कुछ बीती हुई बात और कुछ आने वाली बात की सूचना दे दी गई है। इन दोनों के वार्तालाप द्वारा हमें पता चल जाता है कि मालविका के नृत्य के बाद हरदत्त की शिष्या रानी इरावती ने भी नृत्य दिखाया था, पर उन दोनों में मालविका का नृत्य ही अच्छा ठहराया गया। साथ ही इस बात की भी सूचना मिल गई है कि मालविका भी राजा पर मुग्ध है और मेल न होने के कारण सूखती जा रही है। राजा भी धारिणी के डर से खुल कर मालविका से प्रेम नहीं कर पा रहा है। दूसरी ओर, आगे की जिस बात की सूचना दी गई है वह है रानी के परमप्रिय तपनीयाशोक का समय पर न फूलना और उसके दोहद का उपाय करना। क्योंकि यह सूचना निम्न-श्रेणी के पात्र समाहितिका और मधुकरिका द्वारा दी गई है जो संस्कृत न बोल कर प्राकृत बोलती है, इसलिए यह विष्कम्भक न कहला कर प्रवे-- कहलाता है।

ततः......विदूषकश्च कामयमाना०=कामयन्ते इति कामयमानाः √कम् (स्वा० चाहना) + शानच् =कामिनः तेषाम् अवस्था इव अवस्था यस्य सः (बहुव्री०)=कामी लोगों की जैसी हालत हुआ करती है, वैसी हालत वाला। राजा बड़ा काम-पीड़ित है। उसकी समस्या का हल विदूषक के हाथ में है और तपनीयाशोक का दोहद भी उसके हल में बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रवेशक

(कामिजनों की जैसी हालत में राजा और विदूषक का प्रवेश)

१३ राजा (आत्मानं विलोक्य)—

शरीरं क्षामं स्याद्सति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति ।
तथा सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय ! परितापं वहसि किम् ॥१॥

---

१३ शरीरम्०—अन्वयः—दयितालिङ्गन-सुखे असति शरीरं क्षामं स्यात्, सा क्षणम् अपि न दृश्यते—इति चक्षुः सास्रं भवेत्; (किन्तु) हृदय ! त्वं तया सारङ्गाक्ष्या कदाचित् विरहितं न असि, निर्वाणे प्रसक्ते परितापं किं वहसि ? [शिखरिणी]

दयितायाः (प्रियायाः = मालविकायाः) यत् आलिंगनम् तस्य सुखम् (स० तत्पु०) तस्मिन् असति (अविद्यमाने) = प्रियतमा के आलिंगन का सुख न होने पर। शरीरं क्षामम् = √क्षै (भ्वा० दुर्बल होना) त (क्त के त को 'क्षायो मः' इस नियम से म हो जाता है) शरीर दुबला हो अर्थात् मालविका के वियोग में उसका आलिंगन न मिलने से मेरा शरीर यदि सूखता जा रहा है, तो ठीक ही है, क्योंकि सूखने का कारण विद्यमान है। सा क्षणम् अपि न दृश्यते = √दृश् + लट् (कर्मवा०) इति=इस कारण, चक्षुः सास्रम्= अस्रेण सहितम्=आसुओं से पूर्ण। भवेत्=हो, क्योंकि आसुओं के गिरने का कारण उसका न दिखाई देना ही है। (किन्तु) हे हृदय ! त्वं तया सारङ्गाक्ष्या सारंगस्य (मृगस्य) अक्षिणी इव अक्षिणी यस्याः सा तथाभूतया (ब०

---

१३ राजा –(अपनी ओर देख कर) प्रियतमा को छाती से लगाने का सुख न मिलने से शरीर सूखे, तो सूखे; उसके क्षण भर के लिए भी न दिखलाई पड़ने से आँखें आँसू बहाएँ तो बहाएँ, (किन्तु) हे हृदय ! तुम तो उस मृगनयनी से कभी भी खाली नहीं हो, फिर परमानन्द को प्राप्त करते रहते भी तुम क्यों तप रहे हो ? ॥१॥

१४ विदूषकः—अलं भवदो धीरदं उज्झिअ परिदेविदेण । दिट्ठा मए तत्तहोदीए मालविआए पिअसही वउलावलिआ । सुणाविदा अ भए जं भवदा सन्दिट्ठं । [अलं भवतो धीरतामुज्झित्वा परिदेवितेन । दृष्टा मया तत्रभवत्या मालविकायाः प्रियसखी बकुलावलिका । श्राविता च मया यद्भवता संदिष्टम् ।]

स्त्री०) उस मृगनयनी से । कदाचित् विरहितं न असि=कभी रहित, शून्य नहीं हो । निर्वाणे=बौद्ध सिद्धान्तानुसार निर्वाण मुक्ति को कहते हैं, जो परम शान्ति अथवा परम आनन्द की अवस्था होती है; मालविका जब हृदय के भीतर विद्यमान है, तो वह उसके लिए परमानन्द है ही । शाकुन्तल में कालिदास ने शकुन्तला के लिए भी लिखा है—अहो ! लब्धं नेत्र-निर्वाणम् । **निर्वाणे** = परमानन्द के, **प्रसक्ते** = प्राप्त होने पर । **परितापम्**=सन्ताप को, विषाद को । **किं वहसि** ?=क्यों रख रहे हो ? राजा को यह बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि उसका हृदय क्यों तप रहा है जबकि कामाग्नि को बुझाने वाली मालविका हृदय में सदा स्थित है । इस श्लोक में राजा की चिन्ता नाम की कामदशा बताई गई है ।

१४ अलं भवतः + धीरताम् + उज्झित्वा √उज्झ् (भ्वा० छोड़ना) + त्वा, **परिदेवितेन** (विलापेन)=धैर्य को छोड़ कर रोने-धोने से बस करो । **दृष्टा...बकुलावलिका** = मैं मालविका की सखी बकुलावलिका से मिला हूँ । **श्राविता** = श्रु + (भ्वा० सुनना) णिच् + क्त + आ (स्त्री०) सुना दिया है । **यत् + भवता सम् + दिश्** (तु० बताना) त (क्त कर्मणि) **संदिष्टम्** = जो आपने संदेश दिया था । राजा विदूषक के कहने पर मालविका के प्रति अपना प्रेम उसकी प्रिय सखी बकुलावलिका के द्वारा पहुँचाना चाहता है और

---

१४ विदूषक—धैर्य छोड़कर यों रोने-धोने से बस कीजिए । मैं मालविकाजी की प्रिय सखी बकुलावलिका से मिल चुका हूँ और उसे मैंने आपका कहा सन्देश सुना दिया है ।

१५ राजा—ततः किमुक्तवती।

१६ विदूषकः—विण्णवेहि भट्टारं। अणुग्गहीदम्हि इमिणा णिओएण। किं दु सा तवस्सिणी देवीए अहिअदरं रक्खिअमाणा णाअरक्खिदो विअ णिही णं सुहं समासादइदव्वा भविस्सदि। तह वि घट्टइस्सं ति। [विज्ञापय भर्तारम्। अनुगृहीतास्मि अनेन नियोगेन। किं तु सा तपस्विनी देव्या अधिकतरं रक्ष्यमाणा नागरक्षित इव निधिर्न सुखं समासादयितव्या भविष्यति। तथापि घटयिष्यामीति]

विदूषक के द्वारा ही इसका प्रबन्ध भी करता है। विदूषक बकुलावलिका का विश्वास प्राप्त करके उससे वचन ले लेता है कि वह राजा का सन्देश मालविका को पहुँचा दे और दोनों के बीच मध्यस्थ (दलाल) का काम करे। यही कारण है कि गौतम राजा को धैर्य बँधा रहा है कि अब रोने-कलपने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि काम बन ही जायगा।

१५ ततः किम् उक्तवती=√ब्रूञ् (अ० कहना)+तवत् (क्तवत्)+ङीप् (स्त्रियाम्) तब उसने क्या कहा ?

१६ विज्ञापय=वि + √ ज्ञा (क्र्या० जानना) + णिच + लोट म० ए० निवेदन कर दो। अनुगृ०=अनु +√ ग्रह् (क्र्या० लेना)+क्त+आ=मुझ पर कृपा की है, मैं आभारी हूँ। नियोगेन = नियुज्यते अस्मिन् इति नि +√ युज् (रु० लगाना) + अ (अधिकरणे) + तृ० इस काम से। तपस्विनी=बेचारी (मालविका) अधिकात् अधिकम् अधिकतरम् (क्रियावि०) = और भी अधिक।

---

१५ राजा—तब उसने क्या कहा ?

१६ विदूषक—"महाराज से निवेदन कर दो कि आपने मुझे जो काम सौंपा है, उसके लिए मैं आपकी आभारी हूँ, किन्तु वह बेचारी (मालविका) तो रानी की ओर भी कड़ी निगरानी में ऐसी रह रही है जैसे कि कोई निधि साँप की निगरानी में रहा करती है, इसलिए वह सुगमता से प्राप्त नहीं की जा सकेगी, फिर भी मैं मेल करा दूँगी।

१७ **राजा—भगवन् सङ्कल्पयोने ! प्रतिबन्धवस्तुन्यपि विषयेष्वभिनिवेश्य तथा प्रहरसि यथा जनोऽयं कालान्तरक्षमो न भवति ।** (सविस्मयम्)

रक्ष्यमाणा=√रक्ष् (भ्वा० रक्षा करना, देखभाल करना) + शानच् कर्मणि+ आ (स्त्री०) देखभाल की जाती हुई, निगरानी में रखी जाती हुई। **नागेन रक्षितः** (तृ० तत्पु०) साँप द्वारा रक्षित। **निधिः इव**—खजाने की तरह। यह एक आम धारणा है कि कञ्जूस मृत्यु के बाद साँप बनता है और पृथिवी में दबाए अपने खजाने पर बड़ी कड़ी निगरानी करता रहता है। **सुखम्** (यथा स्यात् तथा यह क्रिया-विशेषण है। **समासा०**=सम्+आ+√सद् भ्वा० जाना) + णिच्+तव्य+आ (स्त्री०) प्राप्त किये जाने योग्य। **तथा+अपि**=फिर भी। **घटयिष्यामि** = √घट् (भ्वा० होना) + णिच् + लृट् उत्त० एक० व०=मेल करा दूँगी अर्थात् प्रयत्न करूँगी कि दोनों का मेल हो जाय।

१७ **सङ्कल्पः=मनसि कल्पना एव योनिः कारणं यस्य सः तत्सम्बुद्धौ** (ब० ब्री०)=हे कामदेव ! काम सदा मन के चिन्तन से ही पैदा होता है; उसका शारीरिक रूप कोई नहीं है। इसीलिए उसे मनसिज, मनोज भी कहते हैं। **प्रतिबन्धवस्तु+अपि विषयेषु**=रुकावटों-भरी बातों में भी। **अभिनिवेश्य**=अभि + नि + √विश् (तु० जाना) + णिच् + ल्यप्=लगा कर, फँसा कर, साग्रह इच्छा पैदा करा के, देखिए विक्रमो०—अहो दुर्लभाभिनिवेशी मदनः। **तथा प्रहरसि** = ऐसी चोट मार रहे हो कि **यथा जनः + अयम्**=जिससे कि यह जन अर्थात् मैं **अन्यः कालः इति कालान्तरम् तस्य क्षमः** (प० तत्पु०)=और समय, विलम्ब सहने के लिए समर्थ। राजा काम को उलाहना दे रहा है कि पहले तो उसीने एक ऐसी दुष्प्राप्य, विघ्न-बाधाओं से पूर्ण वस्तु (मालविका पर मेरा मन लगाया है और अब स्वयं मुझ पर इतना प्रहार कर रहा है कि जिसे

---

१७ **राजा**—भगवन् कामदेव ! विघ्न-बाधाओं से पूर्ण पदार्थों की इच्छा पैदा करवा कर तुम (अब) ऐसी चोट मार रहे हो कि जिससे मैं समय का विलम्ब सह ही नहीं सकता हूँ। (आश्चर्य के साथ)

क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम् ।
मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ ! दृश्यते त्वयि ॥ २ ॥

मैं सहन नहीं कर सकता हूँ। यह कितनी दुष्टता है। वास्तव में राजा प्रत्येक प्रेमी की भावनाओं का चित्रण कर रहा है। **विस्मयेन**=आश्चर्येण सह इति **सविस्मयम्**=आश्चर्य के साथ।

क्व०—अन्वयः—(हे) मन्मथ ! हृदय-प्रमाथिनी रुजा क्व, ते विश्वसनीयम् आयुधं क्व, मृदु तीक्ष्णतरम् (इति) यत् उच्यते, **तत् इदं** त्वयि दृश्यते (सुन्दरी)

हे **मन्मथ ! मनः मथ्नातीति** मनस् + √मथ् (क्रया० मथना) + अ (कर्तरि) पृषोदरादित्वात् साधुः, तत्सम्बुद्धौ, मन्मथ कामदेव को कहते हैं देखिए अमरकोश—'मदनो मन्मथो मारः'। **हृदयं प्रमथ्नातीति** हृदय + √मथ् + इन् + ई (स्त्री) = हृदय को खूब मथ डालने वाली, आकुल कर देने वाली **रुजा** = व्यथा, वेदना, टीस, **क्व** = कहाँ, और ते **विश्वसनीयम् विश्वसितुं योग्यम्** वि + √श्वस् + अनीय = विश्वास करने योग्य, विश्वास-पात्र, आयुध= शस्त्र, **क्व**=कहाँ ? अर्थात् कामदेव के बाण फूल होते हैं, जिनपर कोई भी व्यक्ति विश्वास कर लेता है कि फूलों की क्या चोट होती है, वे तो कोमलतम वस्तु हुआ करती है, परन्तु अब पता लग रहा है कि कामदेव फूलों से भी कितना कठोर प्रहार कर सकता है। यह कितनी वषमता की बात है। कामदेव के फूलों के बाणों के लिए देखिए साहित्य दर्पण—'मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतोः।' इसी तरह के भाव के लिए शाकुन्तलम् से तुलना कीजिए—भगवन् कुसुमायुध ! त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीयाभ्याम् अतिसन्धीयते कामिजनसार्थः····· कुतस्ते कुसुमायुधस्य सतस्तैक्ष्ण्यमेतत्। **मृदु**=कोमल। **तीक्ष्णतरम्** =

हे कामदेव ! कहाँ तो हृदय को मथ डालने वाली वेदना और कहाँ तुम्हारा विश्वास दिलाने वाला (कोमल) धनुष-बाण ! यह जो कहावत है कि जो कोमल होता है, वह और कठोर होता है—वह तुममें घटती हुई दिखलाई दे रही है ॥ २ ॥

१८ विदूषकः—णं भणामि तस्सिं साहणिज्जे कज्जे किदो मए उवाओ-वक्खेवो। ता पज्जवत्थावेदु भवं अत्ताणं। [ननु भणामि तस्मिन् साधनीये कार्ये कृतो मयोपायोपक्षेपः। तत्पर्यवस्थापयतु भवानात्मानम्।]

अतिशयेन तीक्ष्णं = और भी कठोर, उच्यते = √ब्रूञ् (अ० कहना) + लट् कर्मवाच्य—कहा जाता है, तत् दृश्यते = वह तुममें (सत्य) दीख रहा है, अर्थात् संसार में जो यह कहावत है कि 'जो जितना मृदु होता है, वह उतना ही अधिक कठोर होता है' वह तुम में घटती दिखलाई दे रही है। इसी कहावत से मिलती-जुलती हिन्दी की यह कहावत है—'भोली-भाली शक्लवाले होते हैं जल्लाद भी'। इसी भाव के लिए देखिए महाभारत—मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम्। नासाध्यं मृदुना किञ्चित् तस्मात् तीव्रतरं मृदु ॥ १९३१ ॥

१८ ननु भणामि = इससे सिद्ध होता है कि राजा ने अपनी विह्वलावस्था में विदूषक की बात सुनी ही नहीं। साधयितुं योग्यं साधनीयं तस्मिन् कार्ये = जो कार्य आप चाहते हैं, उसमें, कृतः + मया + उपायोपक्षेपः—उपायस्य उपक्षेपः (ष० तत्पु०) उपाय का प्रारम्भ अर्थात् वकुलावलिका द्वारा काम बनाने का उपाय हमने आरम्भ कर दिया है, तत् पर्यवस्थापयतु भवान् + आत्मानम् परि + अव + √स्था (भ्वा० ठहरना) + णिच् + लोट् प्र० एक० = इसलिए अपने-आपको शान्त और ठीक रखें घबरायें नहीं। घबराने से, धैर्य त्याग देने से काम नहीं बना करते।

---

१८ विदूषक—अजी, मैं बोल तो रहा हूँ कि जो काम आप चाहते हैं; उसके उपाय का श्रीगणेश मैंने कर लिया है, इसलिए आप अपने को शान्त रखिए।

१९ राजा—अथेमं दिवसशेषमुचितव्यापारविमुखेन चेतसा क्व नु खलु यापयामि ?।

२० विदूषकः—णं भवं अज्ज पुढमं वसन्दावदारसूअआइं रत्तासोअकोरआइं उवाअणं पेसिअ णववसन्दूसवावदेसेण इरावदीए णिउणिआमुहेण पत्थिदो। इच्छम्मि अज्जउत्तेण सह दोलाहिरोहणं अणुहोदुं ति। भवदा वि से पडिण्णादं। ता पमदवणं एव्व गच्छम्ह। [ननु भवानद्य प्रथमं वसन्तावतारसूचकानि रक्ताशोककोरकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तोत्सवापदेशेन इरावत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितः इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति। भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम्। तत्प्रमदवनमेव गच्छावः।]

---

१९ अथ + इमम् + दिवसस्य शेषः (ष० तत्पु०) तम् + उचिताः व्यापाराः (कर्मधा०) तेभ्यः विमुखेन (पं० तत्पु०) चेतसा। क्व नु याप०=√या (अ० जाना) + णिच् + लट् उ० ए०=उचित कार्यों से मुँह मोड़े हुए मन से दिन का बचा हुआ भाग कहाँ बिताऊँ ? प्रतियोगिता के बाद यह समय किसी दिन का अपराह्ण प्रतीत होता है। मालविका को देखकर राजा का मन अन्तःपुर की रानियों से भी हट गया है और वही एकमात्र उसके हृदय की अधिष्ठात्री बनी हुई है।

२० ननु भवान् + अद्य वसन्तस्य अवतारः तस्य सूचकानि (ष० तत्पु०)- वसन्त-ऋतु के प्रारम्भ को बताने वाली। रक्ताशोकानां कोरकाणि

---

१९ राजा—मेरा चित्त उचित कार्यों में नहीं लग रहा है, इसलिए यह शेष दिन कहाँ बिताऊँ ?

२० विदूषक—रानी इरावतीजी ने वसन्त के आरम्भ की सूचना देने वाली रक्ताशोक की कलियों की पहले-पहल भेंट भेजकर नये वसन्तोत्सव के बहाने निपुणिका द्वारा आप से निवेदन किया है कि 'आर्यपुत्र के साथ मैं झूला झूलने का आनन्द लेना चाहती हूँ'। आपने भी उन्हें वचन दे रखा है। इसलिए प्रमदवन ही चलें।

२१ राजा—न क्षममिदम् ।

२२ विदूषकः—कहं विअ ? [कथमिव ?]

=रक्ताशोक की कलियों को। **उपायन प्रेष्य** = भेंट भेज कर। **नवः वसन्तः नववसन्तः** (कर्मधा०) **तस्य उत्सवः** (ष० तत्पु०) **तस्य अपदेशेन** (ष० तत्पु०) नव वसन्त के उत्सव के बहाने। **निपुणिकायाः मुखेन** (ष० तत्पु०) **अथवा निपुणिका मुखम्** (द्वारम्) (कर्मधा०) तेन निपुणिका के मुँह से अथवा निपुणिका द्वारा। **प्रार्थितः** = आप से प्रार्थना की गई है। **इच्छामि + आर्यपुत्रेण सह दोलायाम् अधिरोहणम्** (स० तत्पु०) **अनुभवितुम् + इति** = आर्यपुत्र के साथ झूला झूलना चाहती हूँ। **भवता + अपि + अस्यै प्रतिज्ञातम्** = आपने भी उन्हें वचन दे रखा है। **तत् प्रमदवनम् + एव गच्छावः** = तो प्रमदवन ही चलें। ध्यान रहे कि रक्ताशोक की कलियों की भेंट साभिप्राय है। रक्ताशोक 'काम-वर्धक' होता है, अतः युवतियों को बहुत ही प्रिय है। इरावती राजा की छोटी रानी है। वह राजा का संग चाहती है, इसलिए वसन्तोत्सव में झूला झूलने का बहाना लेकर अपना काम बनाना चाहती है। इससे दो मतलब सिद्ध होंगे एक तो आगे के प्रमदवन-दृश्य की अवतारणा और दूसरा बाद की रानी धारिणी का झूले से गिरना जो कथा-वस्तु के विकास तथा कार्य-व्यापार की प्रगति में विशेष सहायक हैं। निपुणिका इरावती की नौकरानी है। इरावती उसके द्वारा यह प्रबन्ध करा रही है।

२१ न क्षमम् + इदम्=यह उचित नहीं हैं, संभव नहीं है। क्षमम् के लिए मेदिनी कोष—क्षमा भूमौ तितिक्षायां स्त्रियां युक्ते नपुंसकम्।

२१ राजा—यह ठीक नहीं रहेगा।

२२ विदूषक—क्यों ?

२३ राजा—वयस्य ! निसर्गनिपुणाः स्त्रियः । कथं मामन्यसंक्रान्तहृदयमुपलालयन्तमपि ते सखी न लक्षयिष्यति ? अतः पश्यामि

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः ।

---

२३ निसर्गेण निपुणाः (तृ० तत्पु०) स्वभावतः चतुर । स्त्रियाँ पढ़ाने-लिखाने से नहीं, प्रत्युत स्वभाव से ही चतुर हुआ करती हैं । देखिए शाकु० — 'स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीणाम्' । V और मृच्छकटिक — 'स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः' IV । कथं माम् + अन्य-संक्रान्त-हृदयम् + उपलालयन्तम्+अपि ते सखी ''पश्यामि—अन्यस्यां (मालविकायाम्) संक्रान्तं (गतं) हृदयं यस्य स तथाभूतम् (बहुव्री०) = जिसका हृदय दूसरी स्त्री पर आसक्त है—ऐसे उप + लल् (इ) (चु० सेवा करना, प्रेम करना)+अत् (शतृ) द्वि० एक० = प्रेम करते हुए, बाहरी तौर से प्रेम दिखाते हुए भी । माम् न लक्षयिष्यति = मुझे क्यों न जान लेगी ? राजा विदूषक की सलाह को नहीं मानता कि इरावती के साथ झूला झूला जाय, क्योंकि राजा अपने लिए यह कठिन समझ रहा है कि जब मैं मालविका के लिए मर रहा हूँ, तब रानी इरावती के आगे मैं इस बात को कैसे छिपा पाऊँगा और इरावती भी इतनी निर्बुद्धि थोड़े ही है कि जो वह इस बात को न भाँप ले । स्त्रियाँ इन मामलों में बड़ी होशियार होती हैं । इसलिए पोल खुल जायेगी ।

उचितः—अन्वयः—उचितः प्रणयः विहन्तुं वरम्, हि बहवः खण्डन-हेतवः दृष्टाः; पूर्वाभ्यधिकः अपि भाव-शून्यः उपचार-विधिः मनस्विनीनां तु न (वरम्) । [औपच्छन्दसिकम्]

उचितः प्रणयः = रानी इरावती की युक्त प्रार्थना, अर्थात् मेरे साथ

---

२३ राजा—मित्र ! स्त्रियाँ स्वभाव से ही चतुर हुआ करती हैं । भले ही मैं उसे लाड-प्यार करता रहूँ, फिर भी क्या वह भाँप न जायेगी कि मेरा हृदय तो किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त है ? इसलिए मैं तो समझता हूँ कि—

उसकी प्रार्थना—यद्यपि वह उचित ही है—अस्वीकार कर देनी ही अच्छी

उपचारविधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ॥३॥

झूला झूलने की प्रार्थना, जो रानी इरावती ने की है, वह यद्यपि ठीक ही है, फिर भी उसे विहन्तुं **वरम्** = अस्वीकार करना ही अच्छा है, विहनन खण्डन अथवा ठुकराने को कहते हैं। वरम् का अर्थ नपुंसक में 'कुछ ठीक, कुछ अच्छा' होता है, देखिए अमरकोश—'वरः श्रेष्ठे त्रिपु क्लीवे मनाक्-प्रिये'। **हि** = क्योंकि। **बहवः खण्डनस्य हेतवः** (ष० तत्पु०) = प्रार्थना अस्वीकार करने के बहुत से कारण। **दृष्टाः** = मेरे देख रखे हैं अर्थात् रानी को ना करने के मेरे पास बहुतेरे कारण हैं, जैसे—काम का जोर, तबीयत ठीक न होना इत्यादि। खण्डन का यहाँ पारिभाषिक अर्थ भी लिया जा सकता है। साहित्य-शास्त्र में 'यदि प्रियतम ने प्रियतमा को संकेत दे रखा हो कि अमुक स्थान और अमुक समय पर मैं तुम्हें मिलूँगा, प्रियतमा उस स्थान में उस समय उसकी प्रतीक्षा करती रहे, किन्तु प्रियतम न पहुँचे' इसे 'खण्डन' कहते हैं और नायिका 'खण्डिता' कहलाती है। **पूर्वस्मात् अभ्यधिकः** (पं० तत्पु०) **अपि भावेन शून्यः** (तृ० तत्पु०) **उपचारस्य विधिः** (ष० तत्पु०) उपचार बाहरी शिष्टता को कहते हैं, जिसमें हार्दिकता (Sincerity) तो रहती नहीं है, केवल बाह्य-प्रदर्शन रहता है। उर्दू में इसे तकल्लुफबाजी कहते हैं। **प्रशस्तं मनः आसां ताः** इति मनस् + विन् + ई = **मनस्विन्यः, तासाम् तु न वरम्** इति शेषः। अर्थात् मेरा हृदय तो मालविका ने ले रखा है, इरावती से मिलूँगा तो बिना हृदय के ही, उसके प्रति केवल बाहरी शिष्टता, बाहरी प्रेम-प्रदर्शन ही कर सकूँगा, वह चतुर आत्माभिमान वाली स्त्री है, तत्काल ताड़ जायेगी और अपने को अपमानित अनुभव करके ईर्ष्या से जल-भुन जायेगी, इसलिए यही ठीक है मैं उससे मिलता ही नहीं।

रहेगी, क्योंकि अस्वीकार कर देने के कारण मैंने कितने ही देख रखे हैं ! आत्माभिमानी स्त्रियों को प्रेम से शून्य कोरा शिष्ट-व्यवहार, भले ही वह पहले से अधिक क्यों न हो, अच्छा नहीं लगता ॥३॥

२४ विदूषकः—णारिहदि भवं सव्वं अन्देउरपडिट्ठिदं दक्खिणं एकपदे पिट्ठदो कादुं। [नार्हति भवान् सर्वमन्तःपुरप्रतिष्ठितं दाक्षिण्यमेकपदे पृष्ठतः कर्तुम्।]

२५ राजा (विचिन्त्य)—तेन हि प्रमदवनमार्गमादेशय।

---

२४ न + अर्हति भवान् = आपके लिए यह ठीक नहीं कि, सर्वम् अन्तःपुरे प्रतिष्ठितम् (स० तत्पु०) अन्तःपुर में—अन्तःपुरवर्ती रानियों के प्रति—चला आता हुआ। दाक्षिण्यम्=दक्षिणस्य भावः दाक्षिण्यम्=समान प्रेम-भाव, बराबर शिष्टता का व्यवहार। हम पीछे कह आए हैं कि दक्षिण नायक वह होता है, जिसकी एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं, पर जो सभी के साथ समान प्रेम-व्यवहार और शिष्टता दिखाता रहता है। एकपदे=एकदम, एकाएक। पृष्ठतः कर्तुम्=पीठ पीछे कर देना, छोड़ देना। विदूषक राजा के विचार का खण्डन कर देता है कि अब तक तो आप बराबर रानियों के प्रति समान प्रेम और शिष्टता दिखलाते आ रहे हैं, आपका एकदम यह व्यवहार छोड़ देना इरावती के हृदय में ईर्ष्या और सन्देह पैदा कर देगा और जिस काम के लिए आप उन्हें ना कर रहे हैं; वह भी बनने से रह जायगा।

२५ प्रमदवनस्य मार्गम् आदेशय=आ+√दिश्+णिच्+लोट् मध्य० एक०=प्रमदवन का मार्ग दिखाओ।

---

२४ विदूषक—आप के लिए यह ठीक नहीं कि रानियों के प्रति (सदा से) चले आते हुए समान प्रेम और शिष्टता को आप एकाएक तिलाञ्जलि दे दें।

२५ राजा—(सोच कर) अच्छा तो प्रमदवन का ही मार्ग दिखाओ।

२६ विदूषकः—इदो इदो भवं। [इत इतो भवान्।] (उभौ परिक्रामतः) णं एदं पमदवणं पवनचलिदाहिं पल्लवंगुलीहिं तुवरेदि विअ भवन्दं। ता पविसदु भवं। [नन्वेतत्प्रमदवनं पवनचलिताभिः पल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव भवन्तम्। तत्प्रविशतु भवान्।]

२७ राजा (स्पर्शं रूपयित्वा)—अभिजातः खलु वसन्तः। सखे पश्य

---

२६ ननु+एतत् प्रमदवनम्। पवनेन चलिताभिः (तृ० तत्पु०) पल्लवाः एव अङ्गुल्यः (कर्मधा०) ताभिः, त्वरयति=त्वर् (भ्वा० शीघ्रता करना)+णिच् + लट् प्र० एक०। भवन्तम्=आपको त्वरा-युक्त जैसा बना रहा है। प्रमदवन में मन्द-मन्द समीर वह रहा है, जिससे पत्ते हिल रहे हैं। इस पर विदूषक की कल्पना देखिए कि वह प्रमदवन को एक मित्र—जैसा समझ रहा है, जो अपने हिलते हुए पत्तों-रूपी हाथ की अंगुलियों से राजा को संकेत करके बुला-सा रहा है कि आओ यार! मिलो। कालिदास ने ऐसी कल्पना अपने और नाटकों में भी की है, देखिए विक्रमो०—एतेन प्रमदवन-नोदितेन प्रत्युद्गतो भवानागन्तुको दाक्षिणमारुतेन। II और शाकुन्तल–'एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः'।

२७ अभिजातः=उच्चकुलोत्पन्न, कुलीन है। वसन्त में कुलीनता की दो बातें हैं—कोयल की मधुर कूक और दक्षिण का मन्द-मन्द पवन।

---

२६ विदूषक—इधर, इधर महाराज! (दोनों घूमते हैं) लो, यह प्रमदवन पवन से हिलते हुए *पल्लवों-रूपी अंगुलियों द्वारा आप को शीघ्र चले आने का* जैसे संकेत कर रहा है। तो आप प्रवेश कीजिए।

२७ राजा—[वायु के स्पर्श का अभिनय करके] वसन्त सचमुच बड़ा कुलीन है। मित्र देखो :—

आमत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां
सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव ।
अङ्गे चाम्रप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे
सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन ॥४॥

आमत्तानाम्०—अन्वयः—आमत्तानां कोकिलानां श्रवणसुभगैः कूजितैः मनसिजरुजः सह्यतां सानुक्रोशं पृच्छता इव माधवेन आम्र-प्रसव-सुरभिः दक्षिणः मारुतः सान्द्र-स्पर्शः करतलः इव मे अङ्गे व्यापृतः ।

आमत्तानाम्=आ=समन्तात् मत्तानाम्=खूब मस्त बनी, **कोकिलानाम्**= कोयलों की। कोयलें वसन्त ऋतु में मस्त हो जाया करती हैं—ऐसा कवियों का विश्वास है, देखिए—'वसन्ते कोकिला उन्माद्यन्ति'। **श्रवणेभ्यः सुभगैः** (च० तत्पु०) कानों को सुख देने वाली, **कूजितैः**=कूकों से। **मनसि जायते इति मनसिजः** (विकल्प से विभक्ति का अलोप, और लोप होने पर मनोज बनेगा) **तस्य रुजः** (काम-वेदना की) **सह्यताम्=सोढुं योग्या सह्या, सह्याया भावः सह्यता** (तद्धित-प्रत्यय में पुंवद्भाव) **ताम्**=सहनीयता को अर्थात् काम-पीड़ा कैसे सहन हो रही है?—इस बात को। **अनुक्रोशेन सह इति सानुक्रोशम्** (क्रिया० वि०) दया के साथ, सहानुभूतिपूर्वक। **पृच्छता इव** =पूछते हुए—जैसे **माधवेन**=वसन्त ने। **आम्राणाम् प्रसवाः** (ष० तत्पु०) **तैः सुरभिः** (तृ० तत्पु०) आम के बौरों से सुगन्धित बना, **दक्षिणः मारुतः**= दक्षिण दिशा का वायु। वसन्त के आते ही मलय-पर्वत से चन्दन की सुगन्ध

मस्त बनी कोयलों की कानों को सुहाती कूकों द्वारा सहानुभूतिपूर्वक मुझे यह पूछते हुए कि 'कहो, कामवेदना किस तरह सहन हो रही है?' वसन्त ने आमों की बौरों से सुगन्धित बना दक्षिण दिशा का वायु मेरे शरीर पर जो लगाया, वह ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे की उसका सुखद स्पर्श वाला हाथ ही हो ॥४॥

२८ विदूषकः – एहि । पविस णिव्वुदिलाहाअ । [एहि । प्रविश निर्वृतिलाभाय]।

(उभौ प्रविशतः)

लिए हुए दक्षिण के वायु का बहना कवि-ख्याति है। **सान्द्रः स्पर्शो यस्य सः** (ब० व्री०) घने अथवा सुखद स्पर्श वाले। **करस्य तलः** (ष० तत्पु०) **इव**= हाथ के तले की तरह, **अङ्गे**=शरीर पर, **व्यापृत**=रखा। वि+आ + √पृ (तु० लगना) अकर्मक है, इसलिए उसका कर्मवाच्य नहीं बन सकता। कवि को णिजन्त करके व्यापारितः प्रयोग करना चाहिए था अथवा व्यापृतः को अन्त-र्भावित-णि मान कर किसी तरह समाधान किया जा सकता है। इस श्लोक में कवि ने वसन्त का चेतनीकरण कर रखा है। वह ऐसा कुलीन व्यक्ति है, जो दुखियों के साथ सहानुभूति दिखाता हुआ धीरज बँधाता है। वह कोयल की कूक को अपनी वाणी बनाता है और अपने दुखिया मित्र राजा को पूछता है—आपकी वेदना कैसी है और ढाढस बँधाता हुआ राजा के शरीर पर दक्षिण पवन के रूप में हाथ थपथपाता है। अपने मित्रों की सहानुभूति में दुःख कम हो जाना स्वा-भाविक ही है, देखिए—'स्निग्ध-जन-संविभक्तं हि दुःखं सह्य-वेदनं भवति'। शाकुन्तल III।

२८ एहि=√इण् (अ० जाना) + लोट् मध्य० एक० आओ; **प्रविश** =प्रवेश करो। **निर्वृतेः लाभः** (ष० तत्पु०) तस्मै=शान्ति, सुख प्राप्त करने के लिए, अर्थात् प्रमदवन में प्रवेश करके आनन्द लाभ करें।

---

२८ विदूषक—चलिए, आनन्द लाभ के लिए भीतर प्रवेश कीजिए।

(दोनों के दोनों प्रवेश करते हैं)

२९ विदूषकः—भो वअस्स अवहाणेण दिट्ठिं देहि। एदं खु भवन्दं विलोहइदुकामाए पमदवणलच्छीए जुवइवेसलज्जइदुअं वसन्दकुसुमणेवत्थं गहीदं। [भो वयस्य अवधानेन दृष्टिं देहि। एतत्खलु भवन्तं विलोभयितुकामया प्रमदवनलक्ष्म्या युवतिवेषलज्जयितृकं वसन्तकुसुमनेपथ्यं गृहीतम्।]

३० राजा—ननु विस्मयादवलोकयामि।

रक्ताशोकरुचा विशेषितगुणो बिम्बाधरालक्तकः
प्रत्याख्यातविशेषकं कुरवकं श्यामावदातारुणम्।

---

२९ अवधानेन = ध्यान के साथ। विलोभयितुम् = वि + √लुभ् + णिच् + तुम् कामो यस्याः सा तथाभूतया (बहुव्री०) देखिए व्याकरण नियम-(तुम् काममनसोरपि) लुभाना चाहती हुई, अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती हुई, **प्रमदवनस्य लक्ष्मीः** (ष० तत्पु०) तया प्रमदवन की श्री (शोभा) ने। **युवतीनां वेषः तस्य लज्जयितृकम्** (ष० तत्पु०)=लज्जयति इति√लज्ज् (भ्वा० लज्जित होना) + णिच्+तृ (कर्तरि) + क (स्वार्थे) नपुं० = युवतियों के वेश (शृंगार) को लज्जित कर देने वाला। **वसन्तस्य कुसुमानां नेपथ्यम्**·(ष० तत्पु०) वसन्त के फूलों का सिंगार। **गृहीतम्**=ग्रहण कर लिया है, अपना लिया है।

३० **विस्मयात् आलोकयामि** = आश्चर्य से देख रहा हूँ।

रक्ताशोक०—अन्वयः—बिम्बाधरालक्तकः रक्ताशोक-रुचा विशेषित-गुणः, श्यामावदातारुणं कुरवकं प्रत्याख्यात-विशेषकम्, लग्न-द्विरेफाञ्जनैः तिलकैः तिलक-क्रिया च आक्रान्ता; माधवी श्रीः योषितां मुख-प्रसाधन-विधौ सावज्ञा इव। (शार्दूलविक्रीडितम्)

बिम्बम् इव अधरः (कर्मधा०) **तस्मिन् अलक्तक**· (स० तत्पु०) बिम्ब

---

२९ **विदूषक**—मित्र, ध्यान से देखिए, आपको लुभाने की इच्छा से प्रमदवन की श्री ने वासन्ती फूलों का ऐसा शृंगार कर रखा है कि जो युवतियों के वेष को भी लज्जित कर देता है।

३० **राजा**—सचमुच मुझे यह देख कर आश्चर्य हो रहा है :—

ऐसा लग रहा है जैसे इस वासन्ती श्री ने युवतियों के मुख के शृंगार

आक्रान्ता तिलकक्रियापि तिलकैर्लग्नद्विरेफाञ्जनैः
सावज्ञेव मुखप्रसाधनविधौ श्रीर्माधवी योषिताम् ॥५॥

फल की तरह ओंठ पर लगाई लाली। **रक्तः अशोकः** (कर्मधा०) **तस्य रुचा** (प० तत्पु०)=लाल-लाल अशोक-वृक्ष के फूलों की छटा से। **विशेषितः गुणो यस्य सः** (बहुव्रो०)=जिसका (सौन्दर्य) गुण पछाड़ दिया गया है—ऐसी बनी हुई है, अर्थात् वासन्तिक श्री (Beauty) ने स्त्रियों की ओठों पर लगाई गई लाली (Lipstick) को अपनी रक्ताशोक के फूलों की छटा से नीचा दिखा दिया है। **श्यामं च अवदातं च अरुणं च** (कर्मधा०), **तच्च कुरबकम्** (कर्मधा०) =काला, सफेद और लाल-लाल-सा कुरबक फूल (यह जाति में एकवचन है)। **प्रत्याख्यातम् विशेषकं येन तत् तथाभूतम्** (ब० व्री०)=कपोलों पर बनाई चित्रकारी को पछाड़े हुए है। 'विशेषक' स्त्रियों द्वारा अपने मुखों पर नाना-रंगों से बनाई गई बेलों-जैसी चित्रकारी को कहते हैं। पुराने जमाने में ऐसी चित्रकारी की प्रथा थी और विवाह आदि के अवसरों पर तो अब भी उत्तर-भारत में स्त्रियाँ ऐसी करती हैं। **लग्नाः द्विरेफाः**=**द्वौ रेफौ येषान्ते** (बहुव्रीहि) (भ्रमराः) **एवं अञ्जनं येषु तथोक्तैः** (ब० व्री०)=भ्रमर-रूपी अंजन जिनमें लगा हुआ है। ऐसे। **तिलकैः**+तिलक के-फूलों से। **तिलकस्य क्रिया**= मस्तक पर लगाये जाने वाले तिलक की क्रिया। **आक्रान्ता** = आ+√क्रम् (भ्वा०) + त + आ (स्त्रियाम्) आ दबोची अर्थात् मात कर दी। विवाहित नारियाँ माथे पर जो कस्तूरी-मिश्रित तिलक लगाया करती हैं, उसे वासन्ती श्री ने

को नीचा दिखा दिया हो—लाल अशोक-पुष्पों की छटा उनके बिम्ब जैसे अधरों की लाली से बढ़-चढ़ कर है; काले, सफेद और लाल-लाल कुरंटे के फूल उनके कपोलों पर बनाई हुई चित्रकारी पर पानी फेर रहे हैं और तिलक के फूल, जिनपर अंजन की तरह काले-काले भौंरे बैठे हुए हैं, उनके माथे पर लगाई तिलक को पछाड़ रहे हैं ॥५॥

(उभौ उद्यानशोभां निरूपयतः)

भौंरे से युक्त तिलक-पुष्प से नीचा दिखा दिया। इस तरह माधवी मधोः इयम् मधु + अण्+ई (स्त्री) वसन्त की, वासन्ती। श्रीः=शोभा। योषिताम् = नारियों के। मुखस्य प्रसाधनम् तस्य विधिः तस्मिन् (ष० तत्पु०) = मुख के शृंगार के काम (Make up) पर। अवज्ञया सह वर्तमाना (बहुव्रीहि) इति सावज्ञा इव = मानो तिरस्कार किए हुए है। कामोन्मत्त राजा जब उद्यान में वासन्ती-श्री को आश्चर्य-भरे आँखों से देखता है, तो एकदम उसके आगे एक सुन्दर नारी की प्रतिमा खड़ी हो जाती है, जो नवयुवतियों के मुख के साज-सिंगार को अवहेलना की दृष्टि से देख रही है। उसका साज-सिंगार स्वाभाविक है जब कि युवतियों का नकली रहता है। वह अपनी स्वाभाविक रक्ताशोक की छटा से स्त्रियों द्वारा अलक्तक (लिपस्टिक) से होंठों पर लगाई लाली को सर्वथा पछाड़ देती है, उसका रंग-विरंगा कुरवक का फूल तरुणियों द्वारा अपने कपोलों पर बनाई गई नकली चित्रकारी की अपेक्षा कई गुना सुन्दर है, उसके भ्रमरों वाले तिलक-पुष्पों की बराबरी युवतियों के माथे पर लगाई बेचारी कस्तूरी-मिश्रित बिंदिया क्या करेगी? वह सुन्दर नारी है प्रमदवन की वासन्ती-श्री, जो राजा का स्वागत करने के लिए द्वार पर खड़ी है। राजा उसे देखते ही हैरान रह जाता है। यह श्लोक कालिदास के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण तथा उसके मूल्यांकन पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है और इसका अपना नाटकीय महत्त्व भी है, जो आगे मालविका को स्टेज पर लाने की पृष्ठभूमि बनाता है। राजा और विदूषक दोनों के दोनों स्टेज पर प्रमदवन में वासन्ती-श्री को निहारने में लगे हुए हैं जब कि मालविका भी अपने काम के लिए प्रमदवन में प्रवेश करती है। बिना प्राकृतिक दृश्य बीच में लाए एक तरफ राजा और विदूषक का तथा दूसरी तरफ उसी समय मालविका का भी स्टेज पर प्रवेश करना कितना उपहासास्पद बनता, किन्तु कालिदास की निपुणता ने यह स्थिति नहीं आने दी।

(दोनों के दोनों उद्यान की शोभा को देखने लगते हैं)

(ततः प्रविशति पर्युत्सुका मालविका)

३१ मालविका— अविण्णादहिअअं भट्टारं अहिलसन्दी अत्तणो वि दाव लज्जेमि । कुदो विहवो सिणिद्धसहिअणस्स इमं वुत्तन्दं आअक्खिदुं ण जाणे अप्पडीआरगरुअं वेअणं केत्तिअं कालं मअणो मं णइस्सदि । (कतिचित्पदानि गत्वा) कहिं णु खु पत्थिदम्हि । आं सन्दिट्ठम्हि देवीए जइ मालविए गोदमचावलादो दोलापरिब्भट्ठाए मरुजा मह चलणा । तुमं दाव तवणीआसोअस्स दोहदं णिव्वट्टेहि । जइ सो पञ्चरत्तब्भन्दरे कुसुमं दंसेदि तदो अहं तुह (अन्तरा निःश्वस्य) अहिलासपूरइत्तअं पसादं दाइस्सं ति । ता जाव णिओअभूमिं पुढमं गदा होमि । जाव अणुपदं मह चलणा लङ्कारहत्थाए वउलावलिआए आअन्दव्वं परिदेविस्सं दाव विस्सद्धं मुहुत्तअं । [अविज्ञातहृदयं भर्तारमभिलषन्त्यात्मनोऽपि तावल्लज्जे । कुतो

३१ पर्युत्सुका = परितः उत्सुका (प्रादि० तत्पु०) अत्यन्त उत्कण्ठित, काम-पीडित । अविज्ञात०=न विज्ञातं हृदयं यस्य स तथाभूतम् (ब० व्री०)= जिसके हृदय का पता ही नहीं है अर्थात् वे मुझसे प्रेम करते हैं या नहीं इस बात का मुझे कोई ज्ञान ही नहीं । ऐसे भर्तारम् = प्रियतम को; अभिलषन्ती =चाहती हुई (मैं) आत्मनः अपि तावत् लज्जे = अपने आप से भी लज्जित हो रही हूँ । प्रेम सदा दो-तरफा होना चाहिए । वे मुझे प्रेम न करते हों; मैं ही उन्हें प्रेम करूँ, तो यह मेरे लिए कितनी लज्जा की बात है । विभवः= सामर्थ्य, शक्ति । स्निग्धः सखीजनः तस्य (कर्मधा०)=चतुर्थी के स्थान में सम्बन्ध-मात्र-विवक्षा से षष्ठी है, प्रिय सखियों को । इमम् वृत्तान्तम् = इस बात को (कि मैं राजा से प्रेम करती हूँ) आख्यातुम् = आ + √ख्या (अदा० प० कहना) + तुम् = कहने को । मालविका का अभिप्राय यह है कि जब अपनी इस मूर्खता से मुझे ही अपने ऊपर लज्जा आ रही है, तो इस बात को यदि मैं अपनी सहेलियों से कह दूँगी, तो वे मुझे और भी लज्जित करेंगी कि

[इसके अनन्तर काम-पीड़ित मालविका प्रवेश करती है]

३१ मालविका—जिस प्रियतम के हृदय का पता ही नहीं, उसे

विभवः स्निग्धसखीजनस्येमं वृत्तान्तमाख्यातुम् । न जाने अप्रतीकारगुरुकां वेदनां कियन्तं कालं मदनो मां नेष्यति । (कतिचित् पदानि गत्वा) कुत्र नु खलु प्रस्थितास्मि । (स्मृतिमभिनीय) आम् , आदिष्टास्मि देव्या यथा मालविके! गौतमचापलाद् दोलापरिभ्रष्टायाः । सरुजौ मम चरणौ त्वं तावत्तनीयाशोकस्य दोहदं निर्वर्तय

कैसी मूर्ख है जो नौकरानी बन कर चली राजा से प्रेम करने । अत एव मैं उन्हें भी अपने हृदय की बात नहीं बता सकती जिससे कि मेरे हृदय की वेदना कुछ शान्त हो जाए । **अप्रती०** = न प्रतीकारः यस्याः सा (ब० व्री०) **अप्रतीकारा च गुरुका च** (गुरुः एव गुरुका-स्वार्थे क-प्रत्यय) (कर्मधा०) = जिसका कोई इलाज नहीं है और साथ ही जो बड़ी भारी है, ऐसी **वेदनाम्** = व्यथा को, हूक को । **कियन्तं कालं** = कब तक । यहाँ "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (२।३।५) से लगातार वेदना होने के कारण काल-शब्द से द्वितीया हुई । **मद०** = कामदेव मुझे पहुँचाता रहेगा अर्थात् मुझे यातना देता रहेगा । यहाँ 'नी' धातु द्विकर्मक होने से उसके 'वेदनाम्' और 'माम्' दो कर्म हुए हैं । **कुत्र ..अस्मि** = मालविका अपने विचारों में इतनी लीन है कि वह यह भी भूल जाती है कि मैं कहाँ चली हूँ । **आम्** = अव्यय स्मृति के अर्थ में, हाँ, याद आ गई हूँ । **आदिष्टा + अस्मि देव्या** = रानी ने मुझे आज्ञा दी है । **गौतमस्य चापलम्** (प० तत्पु०) **चपलस्य भावः** (भावे अण्) **तस्मात्** = गौतम की चञ्चलता, नटखटपन, दुष्टता के कारण । **दोलायाः परि + √भ्रंश् + त** (कर्तरि) + आ + षष्ठी (पञ्च० तत्पु०) झूले से गिरी हुई मेरे दोनों पैर । **सरुजौ=रुजया सह वर्तमानौ** (ब० व्री०) दुख रहे हैं, उनमें चोट आई हुई है । देखिए विदूषक का कितना गहरा षड्यन्त्र है । वह जानता है कि मालविका

चाहती हुई मुझे अपने आप से लज्जा आ रही है, (तो) मैं प्रिय सखियों से यह बात कैसे कह सकती हूँ । मैं नहीं जानती कि कामदेव ऐसी वेदना मुझे कब तक देता रहेगा जिसकी दवा ही नहीं ? (कुछ पग चल कर) मैं कहाँ चली थी ? (स्मरण का अभिनय करके) हाँ, स्मरण आ गया । मुझे रानी

यदि स पञ्चरात्राभ्यन्तरे कुसुमं दर्शयति ततोऽहं तव (अन्तरा निःश्वस्य) अभिलाषपूरयितृकं प्रसादं दास्यामि इति। तद्यावन्नियोगभूमिं प्रथमं गता भवामि। यावदनुपदं मम चरणालंकारहस्तया बकुलावलिकया आगन्तव्यम्। परिदेविष्ये तावत् विस्रब्धं मुहूर्तकम्।]

(इति परिक्रामति)

पर रानी की बड़ी कड़ी निगरानी है। वह मालविका को किसी भी तरह राजा से नहीं मिलने देगी। सम्भवतः यह सोच कर ही गौतम ने धारिणी को जान-बूझकर झूले पर से गिराने की कुटिल चाल चली है जिससे पैरों पर चोट आ जाने से रानी अपने स्थान में मालविका को अशोक के 'दोहद' के लिए भेजने को विवश हो जाती है और इस तरह मालविका की राजा से भेंट हो जाती है। गौतम की यह कितनी दूरदर्शिता है, राजा का काम बनाने की कितनी कौटिल्य-पूर्ण तत्परता है! **त्वं तावत् तपनी०..... निर्वर्तय** = निर् + √वृत् (भ्वा० आ० होना)=णिच् + लोट् म० एकव०=करो, अर्थात् तपनीयाशोक की इच्छा पूरी करो। 'तपनीयाशोक' शब्द के लिए इसी अंक की संकेत-संख्या १ और 'दोहद' शब्द के लिए संकेत-संख्या ११ देखिए। **पञ्च०** = **पञ्चानां रात्रीणां समूहः पञ्चरात्रम्** ("संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम्" इस नियम से नपुं०) **पञ्चरात्रस्य अभ्यन्तरे** (ष० तत्पु०) पाँच रात के भीतर-भीतर। **दर्शयति** = √दृश् (भ्वा० देखना) + णिच् + लट् = दिखा देता है, प्रकट कर

(धारिणी) ने आज्ञा दी है—"मालविका, गौतम की दुष्टता के कारण मैं झूले पर से गिर पड़ी हूँ जिससे मेरे पैरों में चोट आ गई है, (इसलिए) तुम्हीं पीले अशोक को फुलाने का उपाय कर आओ। यदि पाँच रात के भीतर-भीतर वह फूल देने लग जायेगा, तो मैं तुम्हें (बीच में आह भर कर) मन-चाहा पुरस्कार दूँगी"। तो मैं कार्य-स्थल में पहले पहुँच जाती हूँ, तब तक बकुलावलिका भी मेरे पीछे-पीछे पैरों के गहने हाथ में लिए हुए आती ही होगी। इस बीच मैं निःशंक हो चार आँसू बहा लूँगी (घूमती है)

३२ विदूषकः (दृष्ट्वा)—ही ही इ अं खु सीहुपाणऽवेजिअस्स मच्छ-ण्डिआ उवणदा। [ही ही !! इयं खलु शीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिका उपनता।]

देगा (निकट-भविष्य में लट्) ततः + अहं तव = तो मैं तुझे (यहाँ 'तव' में सम्बन्ध-विवक्षा से *चतुर्थी के स्थान में षष्ठी हुई है) अन्तरा निःश्वस्य = बीच में आह भर कर। बेचारी मालविका के हृदय में बड़ी उथल-पुथल मची हुई है; वह आशा और निराशा के बीच चल रहे अन्तर्द्वन्द्व की पात्र बनी हुई है। अभिलाष-पूरयितृकम्—अभिलाषं पूरयतीति अभिलाष + √पूर् + णिच् + तृच् + क कर्म० ए० व० अभिलाषा को पूर्ण कर देने वाला, अर्थात् मन-चाहा। दास्यामि=√दा + लृट् + उ० पु० एकवचन। नियोगभूमिं = नियोगस्य भूमिः इति नियोगभूमिः (ष० तत्पुरुष०) ताम् अर्थात् कार्यस्थल=वह उद्यान, जहाँ कि अशोक का दोहद सम्पन्न करना है। गता भवामि, यहाँ पर यावत् के योग में लट् लकार हुआ है (यावत् पुरानिपातयोर्लट्)। अनुपदम्= पादयोः पश्चात् इति अनुपदम् (अव्य०) मेरे पीछे-पीछे ही। चरणालंकार-हस्तया= चरणयोः अलंकाराः (ष० तत्पु०)=पाद-भूषणानि हस्ते यस्यास्तथा-भूतया (बहुव्री०) = चरणों को सजाने के लिए आभूषणों को हाथ में लिए हुए। अशोक के दोहद की पूर्ति करने वाली युवति अपने चरणों में घुँघरू-दार पायजेब तथा अलंकार पहनती थी। आगन्तव्यम् = आ + √गम् + तव्य। विश्रब्धं—वि + श्रम् + क्त = निःशंक होकर, अर्थात् यहाँ कोई भी मुझे देखने वाला तथा बाधा डालने वाला नहीं। परिदेविष्ये = परि + √ दिव् (चु०) + लृट् उ० पु० आत्म० इसका अर्थ होता है विलाप करना। मालविका ऐसी परिस्थिति में फँस गई है कि उसे स्वच्छन्द होकर चार आँसू बहाना भी दुर्लभ हो गया है। इसलिए वह अपना भारी मन रोकर हल्का करने के लिए एकान्त चाहती है।

३२ ही ही = यह आश्चर्यबोधक अव्यय है, आश्चर्य की बात है कि

---

३२ विदूषक—(देख कर) अहो! मदिरा-पान से बेचैन हुए मनुष्य को मिसरी मिल गई है।

३३ राजा—अये ! किमेतत् ।

३४ विदूषकः—एसा खु णादिपज्जत्तवेसा पज्जुसुआ विअ एआइणी मालविआ अदूरे वट्टइ । [एषा खलु नातिपर्याप्तवेषा पर्युत्सुकेवैकाकिनी मालविका अदूरे वर्तते ।]

शीधु०=शीधोः पानेन उद्वेजितस्य = मदिरापान करने से खिन्न, व्याकुल हुए (मनुष्य) को। मत्स्यण्डिका = दानेदार खांड अथवा मिस्री। शुद्ध की हुई खांड को मत्स्यण्डिका इसलिए कहते हैं कि वह मत्स्य के अण्डों की तरह दानेदार हुआ करती है। मिस्री को मत्स्यण्डिका इसलिए कहते हैं कि वह मन्दं स्यन्दते = धीरे-धीरे घुलती है। उपनता = प्राप्त हो गई। विदूषक मालविका को सीधे शब्दों में वर्णन न करके अन्योक्ति से वर्णन करता है। वह मालविका को मत्स्यण्डिका से और राजा को शराबी से तुलना करता है। उसका अभिप्राय यह है कि जिस तरह मदिरा का अधिक नशा और उसकी बेचैनी खांड से उतर जाती है, वैसे ही मालविका के सामने आने से उसकी काम-पीड़ा की बेचैनी भी शान्त हो जायेगी। खांड में मदिरा का नशा उतारने के गुण के लिए देखिए—'मद्यं पीत्वा यदि वा तत्क्षणमवलेढि शर्करां सघृताम्। मदयति न जातु मद्यम्'।

३४ नाति० = न अतिपर्याप्तः वेषः यस्याः सा (ब० व्री०) = अच्छी तरह कपड़े न पहने हुए। बेचारी वियोग के कारण अपने साधारण वेष में है, खूब सजी-धजी नहीं है। परन्तु जिस कार्य के लिए वह जा रही है, यह वेष उसके विपरीत है, क्योंकि दोहद के लिए स्त्री को खूब सज-धज कर ही जाना होता है। पर्यु०=पर्युत्सुका + इव = उत्कण्ठित-सी हुई, प्रेम में उदास-सी। एकाकिनी = अकेली। अदूरे = दूर नहीं, पास में ही। वर्तते = √वृत् (भ्वा० होना आ०) + लट् = है।

---

३३ राजा—अरे ! यह क्या !

३४ विदूषक—साधारण से कपड़े पहने हुए यह मालविका बड़ी उत्सुक-सी अकेली पास में ही है।

३५ राजा (सहर्षम्)—कथं मालविका।

३६ विदूषकः—अह इं [अथ किम्।]

३७ राजा—शक्यमिदानीमात्मानमवलम्बितुम्।

त्वदुपलभ्य समीपगतां प्रियां हृदयमुच्छ्वसितं मम विक्लवम्।
तरुवृतां पथिकस्य पिपासतः सरितमारसितादिव सारसात्॥ ६॥

---

३७ शक्य०...शक्यम् + इदानीम् + आत्मानम् + अवलम्बितुम् + अव तो अपने-आपको, अपने प्राणों को धारण किया जा सकता है अर्थात् जी सकूँगा। काम-यातना से विह्वल बने राजा को मालविका के दर्शन धैर्य और शान्ति प्रदान करने वाले हैं; नहीं तो जीवन कठिन हो रहा था।

त्वदु०—अन्वयः = आरसितात् ; सारसात् तरुवृताम् सरितम् उपलम्य पिपासतः पथिकस्य विक्लवं हृदयम् इव त्वत् समीपगताम् प्रियाम् उपलम्य (पिपासतः) मम विक्लवं हृदयं उच्छ्वसितम् ॥६॥ [द्रुतविलम्वित]।

आरसितात् = आ + √रस (भ्वा० शब्द करना) + त (कर्तरि) पं० = शब्द करते हुए, बोलते हुए। सारसात् = सारस पक्षी से। तरुभिः वृताम् (तृ० तत्पु०) पेड़ों से घिरे हुए। सरितम् = नदी को। उपलभ्य = उप + √लभ् (भ्वा० पाना) + य (ल्यप्) जानकर, पता लगाकर अर्थात् प्यासे को पेड़ों के झुरमुट के पीछे वहती हुई नदी का पता शब्द करते हुए सारस से लगता है। पिपासतः = पातुम् इच्छतः पिपास् + शतृ + ष० = प्यासे। पथिकस्य = वटोही के। विक्लवम् = व्याकुल। हृदयम् इव = हृदय की तरह। त्वत् = तुम से, तुम्हारे वोलने से। समी०=समीपे गता (सत० तत्पु०)=

---

३५ राजा—(प्रसन्नता के साथ) क्या मालविका है ?

३६ विदूषक—और क्या !

३७ राजा—अव तो मैं जी सकूँगा—

जिस प्रकार शब्द करते हुए सारस से यह अनुमान करके कि पेड़ों के

अथ क्व तत्रभवती ?

३८ विदूषकः—एसा णं तरुराजिमज्झादो णिक्कन्दा इदो एव्व परिवट्टन्दी दीसई। [एषा ननु तरुराजिमध्यान्निष्क्रान्ता इत एव परिवर्तमाना दृश्यते।]

३९ राजा (विलोक्य सहर्षम्)—वयस्य, पश्याम्येनाम्।

समीप में स्थित। उपलभ्य = जानकर। मम विक्लवं हृदयम् = मेरा व्याकुल हृदय। उच्छ्वसितम् = उत् + √श्वस् (अदा० साँस लेना) + त (कर्तरि) आश्वस्त हुआ, इसे धीरज मिला, इसने चैन की साँस ली। यहाँ कवि क्रमशः विदूषक की सारस से, मालविका की नदी से और राजा की प्यासे पथिक से तुलना कर रहा है। राजा अपने-आप को प्यासे पथिक की तरह व्याकुल अनुभव कर रहा है।

३८ तरु०=तरूणां राजिः (प० तत्पु०) तस्याः मध्यात् (प० तत्पु०) वृक्षों के बीच में से। निष्क्रान्ता=निर् + √क्रम् (भ्वा० चलना) + त (कर्तरि) निकली। परिवर्त०=परि+√वृत् (भ्वा० आत्मने० होना) आती हुई। दृश्यते (कर्मवाच्य) दीख रही है।

३९ पश्यामि+एनाम् = इन्हें देख रहा हूँ।

पीछे छिपी हुई नदी समीप ही है, प्यासे पथिक के व्याकुल हृदय को शान्ति मिलती है, उसी प्रकार तुम से यह जान कर कि मालविका पास ही है, मेरे व्याकुल हृदय को बड़ा आश्वासन मिला है ॥ ६ ॥

अच्छा, वे कहाँ हैं ?

३८ विदूषक—वे तो पेड़ों के बीच से निकल कर इधर ही आती हुई दीख रही हैं।

३९—राजा (देख कर, हर्ष के साथ) हाँ, मित्र मैं इन्हें देख रहा हूँ।

विपुलं नितम्बबिम्बे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः ।
अत्यायतं नयनयोर्मम जीवितमेतदायाति ॥ ७ ॥

सखे ! पूर्वस्मादवस्थान्तरमुपारूढा तत्रभवती । तथाहि

विपु॰—अन्वयः—नितम्ब-बिम्बे विपुलम्, मध्ये क्षामम्, कुचयोः समुन्नतम्, नयनयोः अत्यायतम् , एतत् मम जीवितम् आयाति । (आर्या)

नितंबयोः बिम्बः तस्मिन् (प॰ तत्पु॰) = नितम्बों की गोलाई में, गोल-नितम्बों में । विपुलम् = बड़ा । मध्ये=कमर में । क्षामम् = पतला । कुचयोः= स्तनों में । समुन्नतम् = उठा हुआ, ऊँचा-ऊँचा । नयनयोः = आँखों में । अतिशयेन आयतम् = खूब विशाल । एतत् मम जीवितम् = यह मेरा प्राण । आयाति = आ रहा है । आती हुई मालविका को देख कर राजा बड़ा प्रसन्न होता है और ऐसा समझता है कि जैसे उसका साकार प्राण ही हो । कवि नायिका में नायक के प्राणत्व का आरोप करके उसके अति सुन्दर अंगों का भी चित्रण करता है ।

पूर्वस्मात् + अवस्थान्तरम् + उपारूढा, पूर्वस्मात् = पहले से । अन्या अवस्था=अवस्थान्तरम् (अस्वपद-विग्रह समास) = और ही अवस्था को । उपारूढा = उप + आ + √रुह् (भ्वा॰ परस्मै॰ चढ़ना) + त (कर्तरि) प्राप्त हो गई है । राजा ने जब पहले मालविका देखी थी, उस समय से उसकी दशा वियोग के कारण अब और ही हो गई है ।

गोल-गोल नितम्बों में बड़ी, कमर में पतली, स्तनों में ऊँची और आँखों में विशाल यह मेरी जान आ रही है ॥ ७ ॥

मित्र ! इनकी हालत पहले से कुछ और ही हो गई है, क्योंकि :—

शरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलेयमाभाति परिमिताभरणा ।
माधवपरिणतपत्रा कतिपयकुसुमेव कुन्दलता ॥ ८ ॥

४० विदूषकः—एसा वि भवं विअ मअणव्वाहिणा परामिट्ठा भविस्सदि । [एषापि भवानिव मदनव्याधिना परामृष्टा भविष्यति ।]

शर०—अन्वयः—शरकाण्ड-पाण्डु-गण्ड-स्थला परिमिताभरणा इयं माधव-परिणत-पत्रा कतिपय-कुसुमा कुन्दलता इव आभाति । (आर्या)

शरस्य काण्डम् (ष० तत्पु०) तद्वत् पाण्डु (कर्मधा०) गण्डयोः स्थलं (ष० तत्पु०) यस्याः सा (ब० व्री०) = जिसके कपोल-स्थल, गाल शरकण्डे की तरह पीले-पीले से हो गये हैं । परिमितानि आभरणानि (कर्मधा०) यस्याः सा (ब० व्री०) = इने-गिने हैं, गहने जिसके ऐसी । इने-गिने गहने पहने । इयम् = यह मालविका । माधवेन परिगतानि (तृ० तत्पु०) पत्राणि (कर्मधा०) यस्याः सा (ब० व्री०)=वसन्त के कारण पक गए हैं पत्ते जिसके । कतिपयानि कुसुमानि यस्याः सा ब० व्री०) कुछ-कुछ अर्थात् इने-गिने ही हैं पुष्प जिसमें—ऐसी । कुन्दलता=एक प्रकार की वेल, जिसके फूल जुही की तरह होते हैं । राजा मालविका के चेहरे के परिवर्तन की तुलना उस कुन्दलता से करता है, जिसमें वसन्त आ जाने के कारण पत्ते पक कर पीले-पीले पड़ जाते हैं और फूल भी कोई-कोई ही शेष रह जाता है । कुन्द माघ में ही फूलता है, इसलिए उसे माघपुष्प भी कहते हैं । वियोग के कारण मालविका का चेहरा भी पीला पड़ गया है और आभूषण भी उसने विरले ही पहन रखे हैं । इसलिए उसका कुन्दलता से पूरा-पूरा साम्य है ।

४० एषा + अपि = यह भी । भवान् + इव = आपकी तरह ही ।

इसके गाल पीले-पीले पड़ गये हैं, गहने भी इने-गिने ही पहन रखे हैं, ऐसी लग रही हैं जैसी कुन्दलता होती है, जिसके पत्ते वसन्त में पीले-पीले पड़ जाया करते हैं और जिसमें फूल भी इने-गिने रहते हैं ॥ ८ ॥

४० विदूषक—आपकी तरह इन्हें भी प्रेम का रोग लग गया होगा ।

४१ राजा—सौहार्दमेवं पश्यति ।

४२ मालविका—अअं सो सुउमारदोहदावेक्खी अगहीदकुसुमणेवच्छो उक्कण्ठिदाए मए अणकरेदि असोओ। जाव से पच्छाअसीदले सिलापट्टए णिसण्णा अत्ताणं विणोदेमि । [अयं स सुकुमारदोहदापेक्षी अगृहीतकुसुमनेपथ्य उत्कण्ठिताया ममानुकरोत्यशोकः । यावदस्य प्रच्छायशीतले शिलापट्टके निषण्णात्मानं विनोदयामि ।]

मदनस्य व्याधिः (ष० तत्पु०) तेन = प्रेम की बीमारी से, काम-व्यथा से । परा० = परा + √मृश् (तु० परस्मै० छूना) + त (कर्मणि) छुई हुई, घिरी हुई । मालविका की दशा देख कर चतुर विदूषक तत्काल भाँप जाता है कि उसे भी प्रेम का रोग लग गया है । पीले गाल और हार-सिंगार में अरुचि प्रेम-रोग के लक्षण हुआ करते हैं ।

४१ सौहार्दम् = सुष्ठु हृद् यस्य सः सुहृद् (ब० ब्री०) तस्य भावः सुहृद् + अण् (भावे) मित्रता, दोस्ती । राजा विदूषक के अनुमान में विश्वास नहीं करता और समझता है कि क्योंकि वह विदूषक का मित्र है, इसलिए मित्रता के नाते ही विदूषक मालविका को भी काम-पीड़ित कह रहा है, जो उसकी चापलूसी-मात्र है । राजा के विचार में मालविका को सम्भवतः कोई और ही रोग हो, प्रेम-रोग नहीं ।

४१ अयं सः = यह वह । सुकुमारं दोहदम् अपेक्षितुं शीलम् अस्यास्तीति (उपपद-तत्पु०) कोमल, सुन्दर दोहद की आवश्यकता रखने वाला । दोहद शब्द

---

४१ राजा—मित्रता के कारण ही तुम ऐसा समझ रहे हो ।

४२ मालविका—यह अशोक का वृक्ष, जिसने फूलों की सजावट नहीं धारण कर रखी है और जो सुन्दर उपाय (दोहद) की माँग कर रहा है, मेरी ही तरह अधीर बना हुआ है, तो चलूँ, इसके नीचे घनी छाँहवाली ठंडी पत्थर की पटिया पर बैठ कर अपना मन बहलाऊँ ।

४३ विदूषकः—सुदं दोहा उक्कण्ठिदम्मित्ति तत्तहोदीए मतिन्दं।
[श्रुतं भवता उत्कण्ठितास्मीति तत्रभवत्या मन्त्रितम्।]

के लिए इसी अंक की टिप्पणी संख्या ११ देखिए। **अगृ० = न गृहीतं कुसुमानि एव नेपथ्यं येन सः** (ब० व्री०) = जिसने फूलों की सजावट नहीं धारण कर रखी है। **उत्कण्ठितायाः** = उत्सुक, अधीर बनी हुई। **मम + अनुकरोतीति** (कर्मणि षष्ठी) + **अशोकः** = यह अशोक-वृक्ष मेरा अनुकरण कर रहा है अर्थात् मेरी तरह ही अधीर है। देखिए किस तरह मालविका का मन अपनी काम-व्यथा प्रकृति-तत्त्व में प्रतिबिम्बित हुई पा रहा है। इसने आभूषण नहीं पहन रखे हैं, अशोक ने भी फूलों से अपना सिंगार नहीं कर रखा है: यह राजा को प्राप्त करने की उत्कट इच्छा रखती है, वह भी दोहद के रूप में अपनी साध अर्थात् किसी सुन्दरी के पादप्रहार की इच्छा रखे हुए हैं। दोनों की समता कैसी मार्मिक है। **यावत् + अस्य** = तब तक इसके। **प्रकृष्टा छाया यस्मिन् तादृशः** (ब० व्री०) **प्रच्छायः प्रच्छायश्चासौ शीतलश्च** (कर्मधा०) तस्मिन् = खूब छाँहवाली और ठण्डी। **शिलायाः पट्टकः** (प० त०) पट्टः एव पट्टकः स्वार्थे कः = पत्थर की पटिया पर। **निषण्णा** = नि + √षद् (भ्वा० परस्मै० बैठना) त + (कर्तरि) = बैठी हुई। **आत्मानम्** = अपने को, अपने मन को। **विनोद०** = वि + √नुद् (तु० परस्मै० प्रेरणा करना) + णिच् उत्त० पु० एक व० = बहलाती हूँ।

४३ **उत्कण्ठिता + अस्मि + इति** = उत्सुक, अधीर, बेचैन हूँ। **तत्रभवत्या** = आपका। **मन्त्रितम्** = √मन्त्र् (चु० आत्म० चुपके-चुपके कहना) + त (कर्मणि) कहा। मालविका इतनी समीप पहुँच गई है कि उसकी बात सुनी जा सकती है। सुनते ही विदूषक अपने अनुमान को सही सिद्ध कर देता है।

---

४३ विदूषक—सुना आपने, इन्होंने क्या कहा कि मैं अधीर बनी हुई हूँ।

४४ राजा—नैतावता भवन्तं प्रसन्नतर्कं मन्ये । कुतः

वोढा कुरबकरजसां किसलयपुटभेदशीकरानुगतः ।
अनिमित्तामुत्कण्ठामपि जनयति मलयवातोऽयम् ॥९॥

---

४४ न + एतावता + इतने मात्र से । प्रसन्नः तर्को यस्य स तथाभूतम् (ब० व्री०) = सही अनुमान वाले । राजा को अभी सन्देह है कि विदूषक का अनुमान सही है । उत्कण्ठा प्रेम से ही क्या, अन्य बात या बिना बात से भी हो सकती है ।

वोढा०—अन्वयः—कुरवक-रजसां वोढा, किसलय-पुट-भेद-शीकरानुगतः अयं मलय-वातः अनिमित्ताम् अपि उत्कण्ठां जनयति । (आर्या)

कुरबकाणां रजांसि (प० तत्पु०) तेषाम् = कुरण्टे के फूलों की धूल को । वोढा = वहतीति √वह् (भ्वा० उभ० प० ले जाना) + तृच् (कर्तरि) ले जाने वाला, रखने वाला, किसलयानां पुटानि तेषां भेदः तत्र शीकरैः अनुगतः = कोंपलों की परतों को खोल देने से जल-कणों से युक्त अर्थात् ठंडी-ठंडी । अयं मलयस्य वातः (प० तत्पु०) = यह मलयाचल की वायु । मलयाचल पर्वत दक्षिण में है, जहाँ चन्दन-वृक्ष हुआ करते हैं । मलय वायु अपनी उत्तेजना के लिए प्रसिद्ध है । अनि० = न निमित्त यस्यां सा तथाभूतम् (ब० व्री०) = जिसमें कोई कारण नहीं, यों ही । उत्कण्ठाम् = उत्सुकता, बेचैनी को । जनयति = √जन् (दि० आत्म० पैदा होना) + णिच् + लट् = पैदा कर देना है, अर्थात् दिल मचला देता है ।

---

४४ राजा—इतने-मात्र से मैं नहीं मानता कि तुम्हारा अनुमान ठीक है, क्योंकि :—

कुरंटे के फूलों का पराग लिये हुए एवं कोंपलों की परतों को खोल कर उनके जल-कणों से युक्त यह मलयाचल की वायु बिना कारण के भी उत्सुकता पैदा कर दिया करती है ॥९॥

(मालविका उपविष्टा)

वयस्य, इतस्तावदावां लतान्तरितौ भवावः।

४५ विदूषकः—इरावदि विअ अदूरे समत्थेमि। [इरावतीमिवादूरे समर्थये।]

४६ राजा—न हि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गजः।

इतः + तावत् + आवाम्=तब तक इधर हम दोनों। लताभिः अन्तरितौ (तृ० तत्पु०) = लताओं से छिपे हुए। राजा छिप कर मालविका के हृदय की बातों को जानना चाहता है।

४५ इरावतीम्+इव+अदूरे = इरावती को बहुत दूर नहीं। समर्थये= सम् + √अर्थ (चु० आ० माँगना) लट् उ० पु०=समझता हूँ, अर्थात् मैं समझता हूँ कि इरावती आ ही रही होंगी। विदूषक राजा को मालविका के स्वच्छन्द सौन्दर्य-पान में आसक्त देख कर परिहास के रूप में उसे डराता है कि इरावती आ रही हैं, जो क्रोधी-स्वभाव की हैं और मालविका से प्रेम करते देख कर कच्चा ही चबा जायेंगी। विदूषक की भविष्यवाणी सच्ची निकलती है और इरावती थोड़ी देर में आ ही पहुँचती हैं।

४६ कमलिनीं दृष्ट्वा = कमलिनी को देख कर। ग्राहम् + अवेक्षते = मगर को देखता है, मगर की पर्वाह करता है। मतङ्गजः = हाथी। राजा विदूषक की चेतावनी को ठुकराता हुआ यह लोकोक्ति कहता है कि 'कमलिनी को देखकर क्या हाथी मगर की पर्वाह करता है?' राजा मालविका की तुलना कमलिनी से, इरावती की मगर से और अपनी हाथी से करता है।

(मालविका बैठ जाती है)

मित्र! हम दोनों तब तक इधर लताओं के पीछे छिप जावें।

४५ विदूषक—मैं समझता हूँ कि इरावतीजी दूर नहीं होंगी।

४६ राजा—कमल-वेल को देखकर हाथी मगर की पर्वाह नहीं करता।

(मालविका को देखता रहता है।)

(इति विलोकयन् स्थितः)

४७ मालविका—हिअअ णिरवलम्बदो मणोरहादो विरम। किं मं आआसेसि। [हृदय! निरवलम्बान्मनोरथाद्विरम। किं मामायासयसि।]

(विदूषकः राजानमवेक्षते)

४८ राजा (आत्मगतम्) प्रिये! पश्य वामतां स्नेहस्य।

वास्तव में प्रेम का मनोविज्ञान ही ऐसा है कि वह अन्धा होता है (Love is blind) और मार्ग में आने वाली किसी भी कठिनाई की पर्वाह नहीं करता। वास्तव में यह राजा का मिथ्याभिमान ही है, अन्यथा—जैसा कि हम आगे देखेंगे—इरावती को देखते ही वह उसके चरणों में क्यों गिरता। विलोक० = वि + √लोक् (चु० प० देखना) + शतृ। स्थितः = √स्था + त (कर्तरि)।

४७ निर्गतः अवलम्बो यस्मात् (ब० व्री०) = जिसका अवलम्ब = आश्रय नहीं है, निराधार। मनोरथात् = इच्छा से। विरम = वि√रम् (भ्वा० आ०—रमण करना) लोट् म० ए०, वि उपसर्ग के साथ रम् धातु परस्मै० बन जाता है—रुको। मालविका अपने हृदय को सम्बोधित करके कहती है कि वह उस वस्तु की क्यों चाह करता है, जिसका आधार ही नहीं है। वह भली भाँति जानती है कि उसके लिए राजा का प्रेम प्राप्त करना असम्भव है जब कि दोनों रानियाँ इस बात के विरोध में हैं। किम् माम् + आयासयसि आ+√यस् (दि० पर० श्रम करना) + णिच् + लट्—मुझे क्यों सता रहा है? राजानम् + अवेक्षते—राजा की ओर देखता है।

४८ आत्मनि गतम् (स० तत्पु०) अपने मन में। वामस्य भावः वाम

---

४७ मालविका—हृदय! जिसका कोई आधार ही नहीं, ऐसी चाह क्यों करता है? क्यों मुझे सता रहा है?

(विदूषक राजा की ओर देखता है)

४८ राजा—(मन ही मन) प्रिये! प्रेम की टेढ़ी चाल देखो। तुम

औत्सुक्यहेतुं विवृणोपि न त्वं तत्त्वाववोधैकरसो न तर्कः।
तथापि रम्भोरु करोमि लक्ष्यमात्मानमेषां परिदेवितानाम् ॥१०॥

+ ता, ताम् = कुटिलता को। प्रेम की चाल सदा टेढ़ी होती है, वह सीधे मार्ग पर कभी नहीं चलता।

औत्सु०–अन्वयः—त्वम् औत्सुक्य-हेतुं न विवृणोपि, तर्कः तत्त्वाववोधैक-रसः न, तथापि (हे) रम्भोरु! (अहम्) आत्मानम् एषां परिदेवितानां लक्ष्यं करोमि। (उपजातिः)

उत्सुकायाः भावः उत्सुका + य (भावे, पुंवद्) **औत्सुक्यस्य हेतुं** (प० तत्पु०) = उत्सुकता, अधीरता के कारण को। न **विवृणोपि** = वि + √वृञ् (स्वा० प० वरना) + लट् म०=नहीं प्रकट करती हो, नहीं खोलती हो। **तर्कः**–अनुमान **तस्य भावः तत्त्वम् तस्य अवबोधः** (प० तत्पु०) **एव एकः रसः यस्मिन् सः** (ब० व्री०)=तत्त्व—सचाई–का ज्ञान ही जिसमें एकमात्र गुण है। अनुमान गलत भी पड़ जाया करता है और वह हमें सचाई तक नहीं पहुँचा सकता। हो सकता है कि विदूषक का यह अनुमान कि मालविका मुझसे प्रेम करती है मित्रता के कारण पक्षपात हो और वह वास्तव में मुझसे प्रेम नहीं करती हो। राजा को विश्वास नहीं होता है कि मालविका मुझे प्रेम करती है। तथापि, **रम्भावत् ऊरू यस्याः सा** (ब० व्री०) तत्सम्बुद्धौ—हे केले के वृक्ष की तरह जाँघों वाली! केले के वृक्ष-जैसी जाँघें सौन्दर्य का चिह्न माना जाता है। **एषां परिदेवितानाम्**—(तेरे) इन विलापों का, इस रोने-कलपने का, व्याकुलता का। **लक्ष्यं करोमि**=अपने को विषय बनाता हूँ अर्थात् तुम्हारी यह उत्कण्ठा, तुम्हारा यह रोना-कलपना मेरे लिए ही है। राजा की यह धारणा कामि-जनों के इस मनोविज्ञान के अनुसार है—'कामी स्वतां पश्यति' शाकु०।

अपनी उत्सुकता—व्याकुलता—का कारण नहीं प्रकट कर रही हो; न ही अनुमान में सच्चाई ही का ज्ञान करा देना एक-मात्र गुण हुआ करता है, तथापि हे सुन्दरि! (मैं समझता हूँ) तुम्हारा यह रोना-कलपना मेरे लिए ही है ॥१०॥

४९ विदूषकः—सम्पदं भवदो णिस्संसअं भविस्सदि । एसा अप्पिद-मअणसन्देसा विवित्ते णं वउलावलिआ उवट्ठिदा । [सांप्रतं भवतो निःसंशयं भविष्यति । एषार्पितमदनसंदेशा विविक्ते ननु बकुलावलिकोपस्थिता ।]

५० राजा—अपि स्मरेदस्मदभ्यर्थनाम् ।

५१ विदूषकः—किं दाणिं एसा दासीए सुदा तुह गरुअं सन्देसं विसुमरिस्सदि । अहं वि दाव एदं ण विसुमरेमि । [किमिदानीमेषा दास्याः सुता तव गुरुकं सन्देशं विस्मरिष्यति । अहमपि तावदेतं न विस्मरामि ।]

---

४९ साम्प्रतम्=अभी । संशयस्य अभावः निःसंशयम् (अव्ययी० स०) सन्देह का अभाव । एषा+अर्पितः मदनस्य सन्देशः यस्यै तथाभूता (बहुव्रीहि) =जिसको (आपने मेरे द्वारा मालविका के प्रति अपना) प्रेम-सन्देश भेजा था । मालविका की सखी बकुलावलिका राजा और मालविका के परस्पर प्रेम-व्यापार में बिचौली का काम कर रही है । विविक्ते=एकान्त में, अकेले में । उपस्थिता=पास आ गई है ।

५० अपि स्मरेत्+अस्माकम् अभ्यर्थनाम (ष० तत्पु०)=क्या उसे हमारी प्रार्थना याद होगी ? अपि शब्द यहाँ प्रश्न-वाचक है ।

५१ किम् + इदानीम् + एषा । दास्याः सुता (अलुक् ष० तत्पु०) =दासीपुत्री, कुजात, खोटी । गुरुः एव गुरुकः तम् (स्वार्थे क) = महत्त्वपूर्ण । विस्म०= वि+√स्मृ+लृट्—क्यों इस समय यह खोटी, हरामजादी आप के महत्त्वपूर्ण

---

४९ विदूषक—अभी आपका सन्देह दूर हो जायेगा । लो, यह बकुलावलिका—जिसके हाथ आपने प्रेम-सन्देश भेजा था—अकेले में आ पहुँची है ।

५० राजा—क्या इसे हमारी बात (प्रार्थना) याद होगी ?

५१ विदूषक—क्या इस समय यह खोटी आपके महत्त्वपूर्ण सन्देश को भूल जायेगी जबकि मैं भी इसे नहीं भूल रहा हूँ ।

(प्रविश्य चरणालंकारहस्ता बकुलावलिका)

५२ बकुलावलिका—अवि सुहं सहीए। [अपि सुखं सख्याः ?]

५३ मालविका— अम्मो बउलावलिआ। सहि साअदं दे। उवविस। [अम्मो, बकुलावलिका। सखि ! स्वागतं ते। उपविश।]

५४ बकुलावलिका—(उपविश्य) हला तुमं दाव दाणि देवीए जोग्गदाए णिउत्ता। ता एक्कं दे चलणं उवणेहि। जाव सालत्तअं सणेउरं करेमि। [हला त्वं तावदिदानीं देव्या योग्यतया नियुक्ता। तदेकं ते चरणमुपनय। यावत्सालक्तकं सनूपुरं करोमि।]

सन्देश को भूलेगी ? अहम्+अपि तावत्+एतम् न विस्मरामि=जब मैं भी इसे नहीं भूलता हूँ। विदूषक राजा के सन्देह को गलत बतलाता है। उसका अभिप्राय यह है कि जब मेरा-जैसा भोंदू भी आपका प्रेम सन्देश नहीं भूल सकता है, तब भला बकुलावलिका-जैसी बुद्धिमती दासी क्यों कर भूल सकेगी ?

५२ चरणयोः अलंकाराः हस्ते यस्याः सा (बहुव्रीहि)=पैर सजाने की वस्तुएँ हाथ में लिये हुए। अपि सुखं सख्याः=कहो ठीक तो हो ? देखिए चतुर बकुलावलिका किस तरह अनभिज्ञ-सी बनी बातचीत आरम्भ कर रही है जिससे पता ही नहीं लग सके कि वह राजा की तरफ़ से प्रेम-सन्देश लाए हुए है।

५४ तावत्+इदानीम् योग्यायाः भावः योग्यता तया=योग्य होने के

(हाथ में पैर सजाने की वस्तुएँ लिए हुए बकुलावलिका आकर)

५२ बकुलावलिका—सखी, ठीक तो हो ?

५३ मालविका—अरे बकुलमालिका ? स्वागत हो सखी ! आओ बैठो।

५४ बकुलावलिका—(बैठ कर) सखी ! तुम्हें महारानी ने इस समय जो यह काम सौंपा है, वह इसलिए कि तुम्हीं इसके योग्य हो। तो लाओ, अपना एक पैर मेरी ओर करो जिससे कि मैं इस पर महावर लगाऊँ और पायजेब पहनाऊँ।

५५ मालविका (स्वगतम्)—हिअअ अलं सुहिददाए अअं विहवो उवट्ठिदोत्ति। कहं दाणिं अत्ताण मोचअं। अहवा एदं एव्व मे मिच्चुमण्डणं भविस्सदि। [हृदय ! अलं सुखिततया अयं विभव उपस्थित इति। कथमिदानीमात्मानं मोचयेयम्। अथवा एतदेव मे मृत्युमण्डनं भविष्यति।]

कारण। नियुक्ता=नि √युज् (रु० उ० प०=लगाना) + त (कर्मणि) नियुक्त किया है। वकुलावलिका चापलूसी करने लगती है जिससे कि वह मालविका को ऐसी प्रसन्न मुद्रा वना सके, जो राजा के प्रेम-सन्देश देने के लिए आवश्यक है। तत् + एकम् चरणम् + उपनय=तो एक पैर इधर करो, जिससे कि मैं उसे अलक्तकेन सहितम्=अलक्तक-युक्त एवं नूपुरेण सहितम्=नूपुर-युक्त। करोमि = करूँ। अर्थात् तुम मेरी ओर अपना एक पैर वढ़ाओ ताकि मैं उसपर महावर लगा सकूँ और पायजेव पहना सकूँ। ध्यान रहे कि महावर लगे और पायजेव पहने पैर के प्रहार से ही अशोक-वृक्ष फूल दिया करते हैं, यही उसकी दोहद, उसकी साव होती है।

५५ अलं सुखिततया भावः = सुखिता तया 'अलं' जव प्रतिषेध-वाचक होता है, तव उसके योग में तृतीया हुआ करती है, हृदय प्रसन्न मत हो। विभवः = उत्कर्ष, गौरव, सौभाग्य। कथम् + इदानीम् + आत्मानम् = किस तरह इस समय अपने को। मोच० = मुच (तु० उ० प०=छोड़ना) + णिच् + विधिलिङ् उत्तम पु० = छुड़ाऊँ। इसमें सन्देह नहीं कि मालविका सौन्दर्य की प्रतिमा है और यही कारण है कि रानी धारिणी ने उसे ही अशोक के दोहद के लिए योग्य समझा है, पर मालविका जानती है कि राजा का प्रेम तो उसे प्राप्त नहीं हो सकेगा। व्यर्थ ही थोड़ी देर के लिए रानियों के उचित इस साज-

---

५५ मालविका—(मन ही मन) हृदय ! तू प्रसन्नता में मत फूल कि तुझे गौरव मिल रहा है। परन्तु मैं इससे वच भी किस तरह सकती हूँ अथवा चलो, यही मेरा मृत्यु का सिंगार भी हो जाएगा।

५६ बकुलावलिका—किं विआरेसि। उस्सुआ खु एदस्स तवणीआसोअस्स कुसुमुग्गमे देवी। [किं विचारयसि। उत्सुका खल्वेतस्य तपनीयाशोकस्य कुसुमोद्गमे देवी।

५७ राजा—कथमशोकदोहदनिमित्तोऽयमारम्भः।

सिंगार से प्रसन्नता में इठलाने का क्या मतलब ? इसलिए वह इस विडम्बना से वचना चाहती है, पर क्या करे, पराधीन जो ठहरी। एतत् + एव = यही। मृत्योः मण्डनम् ष० तत्पु०) = मृत्यु का सिंगार। उसे पता है कि वह काम-वेदना को अधिक नहीं सह सकेगी, इसलिए जब मरना निश्चय ही है, तो यही सिंगार उसके मुर्दे के सिंगार का काम भी देगा। हिन्दू-प्रथा के अनुसार सौभाग्यवती स्त्रियाँ और अविवाहित युवा-कन्याएँ भी मरने पर नहला-धुला, अच्छे कपड़े और गहने पहना कर ही चिता पर रखी जाती हैं। मालविका का यह अपनी मृत्यु की ओर संकेत है '

५६ खलु . एतस्य ' तपनीयः चासौ अशोकः (कर्मधा०) कुसुमानाम् उद्गमः (ष० तत्पु०) तस्मिन्—इस सुनहरे अशोक वृक्ष पर फूल निकलने के विषय में। अपनी ध्यान-मुद्रा में मालविका को पता ही नहीं कि उसे यह 'दोहद' कार्य यथाशीघ्र करना है। इसलिए वकुलावलिका उसका ध्यान आकृष्ट करती है। साथ ही वकुलावलिका द्वारा यह ध्यानाकर्षण राजा को यह सूचना दे देने का काम भी कर देता है कि मालविका को महारानी ने अशोक-वृक्ष के 'दोहद' कार्य के लिए भेजा है।

५७ कथम् + अशोकस्य दोहदं निमित्तं यस्य सः (ब० व्री०) = अशोक दोहद जिसका कारण है—ऐसा। अयम् + आरम्भः = यह कार्य है अर्थात्

---

५६ वकुलावलिका—क्या सोच रही हो ? महारानी निश्चय ही पीले अशोक-वृक्ष पर फूल निकलने की चिन्ता में है।

५७ राजा—क्या यह साज-सिंगार का कार्य अशोक की साध पूरी करने के लिए है ?

५८ विदूषकः—किं णु खु आणासि अकालणादो देवी इमं अन्देउरणेवत्थेण ण संजोअइस्सदित्ति। [किं नु खलु जानासि मम कारणाद्देवी इमामन्तःपुरनेपथ्येन संयोजयिष्यतीति।]

५९ मालविका (पादमुपहरन्ती)—हला मरिसेहि दाणिं। [हला मर्षयेदानीम्।]

मालविका अशोक को साध पूरी करने आई है और इसलिए उसके पैर का यह सिंगार किया जा रहा है। राजा की आशा पर एक दम पानी फिर जाता है कि यह सिंगार अशोक के लिए है न कि मेरे लिए।

५८ मम कारणात् + देवी। इमाम् + अन्तःपुरस्य नेपथ्यं तेन (ष० तत्पु०) अन्तःपुर—रनवास—के सिंगार से। संयोज० = सम् + √युज् + (रु० उ० प०=लगाना) + णिच् + लृट् प्र० पु० = संजोती होंगी। विदूषक तत्काल राजा के भ्रम को दूर कर देता है। भला, ऐसी कौन मूर्ख नारी होगी, जो अपनी सौत का हार-सिंगार करके अपने पतिदेव को सौंपे। राजा अपने प्रेमोन्माद में इतनी छोटी बात को भी भूल जाता है।

५९ पादम् + उपहृ० = उप हृ√ (भ्वा० उ० प० = हरना) + शतृ + ङीप् (स्त्रीलिंग०) अपना पैर देती हुई, आगे बढ़ाती हुई। मर्षय + इदानीम्√ मृष् (चु० सहना, क्षमा करना) + लोट् म० पु० एकव० = क्षमा करो। मालविका भी तो दासी ही है और इस दृष्टि से वकुलावलिका से उसका पद किसी तरह बड़ा नहीं है, भले ही इस समय विशेष कारण से उसे क्षणिक गौरव मिला हो, इस लिए मालविका का वकुलावलिका को अपना पैर पकड़वाने के लिए क्षमा मांगना उसकी कुलीनता एवं रानी पद की योग्यता का द्योतक है। द्रष्टा-

---

५८ विदूषक—क्या आप सचमुच यह समझ बैठे हैं कि "मेरे लिए ही महारानी इन्हें रनवास के सिंगार से संजोती होंगी"।

५९ मालविका—(पैर बढ़ाती हुई) सखी! इस समय मुझे क्षमा करना।

६० बकुलावलिका—अइ सरीरं सि मे। [अयि शरीरमसि मे।] (नाट्येन चरणालंकारमारभते)

६१ राजा—

चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः सरसां पश्य वयस्य रागरेखाम्।
प्रथमामिव पल्लवप्रसूतिं हरदग्धस्य मनोभवद्रुमस्य॥ ११॥

गणों में मालविका के प्रति उच्च भावना पैदा करना कालिदास की कला-निपुणता ही समझिए।

६० शरीरम् + असि = मेरा शरीर ही हो अर्थात् तुममें और मुझमें अन्तर ही क्या? देखिए बकुलावलिका भी शिष्टता का उत्तर शिष्टता में ही देती है और मालविका के हृदय में अभिन्नता का भाव पैदा करके उसे अपना भेद खोल कर रख देने की भूमि बनाती है।

६१ चरणा॰ अन्वयः—(हे) वयस्य! हर-दग्धस्य मनोभव-द्रुमस्य प्रथमां पल्लव-प्रसूतिम् इव प्रियायाः चरणान्त-निवेशितां सरसां राग-लेखां पश्य। (औपच्छन्दसिकम्)

हरेण दग्धः (तृ॰ तत्पु॰) **तस्य** = महादेव द्वारा जलाये गए। **मनोभव एव द्रुमः** (कर्मधा॰) **तस्य** = कामदेव-रूपी वृक्ष की; **प्रथमां पल्लवानां प्रसूतिः** (ष॰ तत्पु॰) **ताम् इव** = पहले-पहल कोंपलों की उत्पत्ति—जैसी अर्थात् पैदा हुई कोंपलों-जैसी। **प्रियायाः चरणस्य अन्ते निवेशिताम्** नि + √विश् (तु॰ प॰=जाना) + णिच् + त (कर्मणि) + आ (स्त्री॰) = प्रियतमा के पैर के अग्रभाग पर लगाई, बनाई हुई। **सरसाम्**=गीली। **रागस्य रेखा** (ष॰ तत्पु॰)

---

६० बकुलावलिका—अरी! तुम मुझ से कोई भिन्न थोड़ी हो। (पैर सजाने का अभिनय करती है)

६१ राजा—मित्र! प्रियतमा के पैर के अगले भाग पर बनाई गई महावर की गीली लकीर देखो ऐसी लग रही है मानो महादेव द्वारा भस्म किए गए काम के वृक्ष में पहली कोंपलें फूट आई हों॥ ११॥

६२ विदूषकः—चलणाणुरूवो खु तत्तहोदीए अहिआरो उवक्खित्तो।
[चरणानुरूपः खलु तत्रभवत्या अधिकार उपक्षिप्तः।]

६३ राजा—सम्यगभिहितं भवता।

नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला
स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन।

ताम्=महावर की लकीर। पश्य=देख। मालविका के पैर पर लगी महावर को देखकर राजा की कल्पना देखिए कि वह ऐसी लग रही है कि मानो महादेव द्वारा काम-रूपी वृक्ष के भस्म कर दिए जाने के बाद अब पहले-पहल उस-पर नई लाल-लाल कोंपलें फूट पड़ी हों। काम पर वृक्ष का आरोप कर दिया गया है। वास्तव में नई कोंपलों वाला यह काम-वृक्ष बढ़ता-बढ़ता भविष्य में मालविका के साथ मिलन के रूप में राजा को फल भी दे देगा—यह हम आगे देखेंगे।

६२ चरणयोः अनुरूपः (षष्ठी तत्पुरुष) पैरों के योग्य। अधिकारः= कार्य। उपक्षिप्तः = उप + क्षिप् (तु० फेंकना) त (कर्मणि) दिया गया है, सौंपा गया है।

६३ सम्यक्+अभि+√धा(जु० उ०=धारण करना)+त(कर्म०)=ठीक कहा।

नव०—अन्वयः—बाला नव-किसलय-रागेण स्फुरित-नख-रुचा अनेन अग्रपादेन दोहदापेक्षया अकुसुमितम् अशोकं वा आर्द्रापराधं प्रणमितशिरसं कान्तं वा—द्वौ हन्तुम् अर्हति। (मालिनी)

बाला=लड़की, सुन्दरी। नवकि०=नवस्य किसलयस्य राग इव रागो यस्य तथाभूतेन (बहुव्रीहि) कोंपल की तरह लाल-लाल। स्फुरित०=स्फुरिता नखानां रुक् यस्मिन् तथाभूतेन (बहुव्रीहि) जिसमें नखों की कान्ति चमक रही है। अग्रश्चासौ

---

६२ विदूषक—वास्तव में जैसे इनके पैर हैं, उसके योग्य इन्हें कार्य भी दिया गया है।

६३ राजा—तुमने ठीक ही कहा—

यह सुन्दरी नए कोंपलों की तरह लाल-लाल तथा नखों की कान्ति से

अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा
प्रणमितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम् ॥१२॥

६४ विदूषकः—पहरिस्सदि तत्तहोदी तुमं अवरद्धं [प्रहरिष्यति तत्रभवती त्वामपराद्धम्।]

पादः तेन (कर्मधारय)=पैर के अग्रभाग से, पंजों से । दोहदस्य अपेक्षा तया (ष० तत्पु०) दोहद की अपेक्षा में, दोहद की प्रतीक्षा में, अपनी साध पूरी कराने में। दोहद के लिए देखिए इसी अंक की टिप्पणी संख्या ११ । अकुसु० = कुसुमानि सञ्जातानि अस्य कुसुम+इतच् (तद्धित) न कुसुमितम् इति अकुसुमितम् (नञ् तत्पुरुष) न फूले हुए, अनफूले। अशोकम्=अशोक-वृक्ष को। आर्द्रः अपराधो यस्य स तथाभूतम् (बहुव्रीहि)=जिसने ताजा-ताजा अपराध किया हो ऐसे। प्रणमि०=प्रणमितं शिरः येन तथाभूतम् (ब० व्रो०)= शिर झुकाए । कान्तम्=प्रियतम को। पुरुष जब अपनी प्रियतमा से भिन्न किसी अन्य स्त्री को देखें, उसका नाम लें अथवा उससे किसी प्रकार का सम्पर्क करें तो गार्हस्थ्य-दण्डसंहिता के अनुसार यह पुरुषों का अपराध समझा जाता है और इसका दण्ड वे पाते हैं, अपनी प्रियतमा का पाद प्रहार । हन्तुम् + अर्हति= मारने योग्य है, मारे।

६४ प्रहरि०=प्र+√हृ (भ्वा० हरना)+लृट्=मारेगी । तत्रभवती=ये। त्वाम् + अपराद्धम्=अप+√राध् (स्वा०) + त (कर्तरि) अपराधी का। देखिए विदूषक किस ढंग से राजा का मालविका के साथ भविष्य में होने वाले विवाह तथा राजा द्वारा अपराध किए जाने पर मालविका के हाथों भुगते जाने वाले दण्ड की ओर संकेत कर रहा है।

चमकता हुआ अपने पैर का अगला भाग दो पर मारने योग्य है या तो अनफूले अशोक-वृक्ष पर, जो अपनी साध पूरी कराने की प्रतीक्षा में बैठा है या प्रियतम पर जो ताजा-ताजा अपराध करने पर शिर झुकाए हो ॥१२॥

६४ **विदूषक**—ये अपराध करने पर आप पर (पैर) मारेंगी।

६५ राजा—प्रतिगृहीतं वचः सिद्धिदर्शिनो ब्राह्मणस्य ।

(ततः प्रविशति युक्तमदा इरावती चेटी च)

६६ इरावती—हञ्जे णिउणिए सुणोमि बहुसो मदा किल इत्थिआजणस्स विसेसमण्डणं ति। अवि सच्चो अअं लोअवाओ। [हञ्जे निपुणिके ! शृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनमिति। अपि सत्योऽयं लोकवादः ।]

---

६५ प्रतिगृ०=प्रति+ग्रह् (क्रया० ग्रहण=करना)+त (कर्मणि) स्वीकार है। सिद्धिद०=सिद्धिम् + पश्यतीति सिद्धिदर्शी तस्य (उप० तत्पु०) = कार्यसिद्धि को जानने वाले अर्थात् भविष्य-वेत्ता। राजा विदूषक का आशीर्वाद सिर-आँखों पर ग्रहण करता है, क्योंकि वह ब्राह्मण है और आशा करने लगता है कि सम्भवतः उसके आशीर्वाद से प्रियतमा मिल जाय।

६६ युक्तः मदो यस्यां सा (ब० व्री०) = जिसे नशा चढ़ा हुआ है। स्मरण रहे कि रंगमंच पर पहले से ही एक ओर मालविका और बकुलावलिका हैं और दूसरी ओर राजा और विदूषक, अब तीसरी ओर इरावती और चेटी भी आ पहुँची हैं, जिनका पृथग्-पृथग् वार्तालाप चलता है। कालिदास का प्रथम नाटक होने के कारण इसमें यह एक बड़ी रंगमंचीय त्रुटि है। भला, द्रष्टागण जब तक इरावती और चेटी का वार्तालाप सुन रहे हैं, तब तक राजा एवं विदूषक और मालविका एवं बकुलावलिका का पत्थर की मूर्तियों की तरह चुपचाप खड़ा रहना कितना अस्वाभाविक और अखरने वाली वस्तु है ?

हञ्जे = सम्बोधन शब्द है। बहुशः = बहुत बार, बहुधा। विशेषं

---

६५ राजा—कार्य-सिद्ध देखनेवाले ब्राह्मण का वचन सिर-आखों पर।

(मदिरा के नशे में इरावती दासी के साथ प्रवेश करती है)

६६ इरावती—अरी निपुणिका ! मैं बहुत सुना करती हूँ कि मदिरा का नशा स्त्रियों की सुन्दरता को चार चाँद लगा देता है। क्या लोगों का यह कहना सच है ?

६७ निपुणिका—पुढमं लोअवाओ एव्व । अज्ज उण सच्चो संवुत्तो । [प्रथमं लोकवाद एव । अद्य पुनः सत्यः संवृत्तः ।]

६८ इरावती—अलं मइ सिणेहेण । कुदो दाणिं अवगदं डोलाघरं पुढमं गदो भट्टेति । [अलं मयि स्नेहेन । कुत इदानीमवगतं डोलागृहे प्रथमं गतो भर्तेति ।]

६९ निपुणिका—भट्टिणीए अखण्डिदादो पणआदो । [भट्टिन्या अखण्डितात्प्रणयात् ।]

मण्डनम् । कर्मधा०) अधिक सुन्दरता पैदा कर देने वाला । सत्यः+अयम् । लोकानां वादः (ष० तत्पु०) = लोगों का यह कहना अथवा कहावत सच है क्या ?

६७ संवृत्तः सम् +√वृत् (भ्वा० आ० होना)+त (कर्तरि) हो गया है ।

६८ अलं स्नेहेन = रानी झट भाँप जाती है कि निपुणिका स्नेह के कारण ही ऐसा बोल रही है, यह उसकी मुँह-देखी और ठकुर-सुहाती नहीं सुनना चाहती है । कुतः + इदानीम् + अवगतम् , अव +√गम् + त (कर्मणि) पता लगाया, समझा । डोलायै गृहम् (चतु० तत्पु०) = झूला झूलने के लिए बनाया हुआ घर । भर्ता + इति ।

६९ अखण्डितात् = अखण्ड । प्रणयात् = प्रेम से । यहाँ 'भट्टिन्या' को सप्तमी होनी चाहिए थी, पर सम्बन्धमात्र-विवक्षा से षष्ठी हुई । महाराज का आप पर अखण्ड प्रेम जो है, इस कारण वे पहले पहुँच गये । देवी और भट्टिनी शब्दों में यह भेद न भूलिए कि राजा के साथ जिसका अभिषेक हुआ हो, वह तो 'देवी' कहलाती है और शेष रानियाँ 'भट्टिनियाँ' ।

---

६७ निपुणिका—पहले तो लोग कहा ही करते थे, परन्तु आज सच हो गया है ।

६८ इरावती—अरी चल, ऐसा स्नेह मत दिखा । हाँ, यह तो बोल कि तुझे कैसे पता चला कि महाराज पहले से ही झूले-घर में पहुँचे हुए हैं ।

६९ निपुणिका—आप पर (महाराज के) अखण्ड प्रेम से ।

७० इरावती—अलं सेवाए। मज्झत्थदं गहिणअ भणाहि [अलं सेवया। मध्यस्थतां गृहीत्वा भण।]

७१ निपुणिका—वसन्दोवाअणलोलुवेण अज्जगोदमेण कहिदं। तुवरदु भट्टिणी। [वसन्तोपायनलोलुपेनार्यगौतमेन कथितम्। त्वरतां भट्टिनी।]

७२ इरावती—(अवस्थासदृशं परिक्रम्य)—हञ्जे मएण मिलाअमाणं मं अज्जउत्तदंसणे हिअअं तुवरावेदि। चलणा उण मग्गे ण प्पसरन्दि। [हञ्जे! मदेन क्लाम्यन्तीं मामार्यपुत्रदर्शने हृदयं त्वरयति। चरणौ पुनर्मार्गे न प्रसरतः।]

---

७० सेवया अलम् = बस कर अपनी गुलामी से, झूठी बड़ाई न कर, रहने दे अपनी यह ठकुर-सुहाती और लल्लो-चप्पो। मध्य०=मध्ये तिष्ठति इति√स्था (भ्वा० प०) + अ (कर्तरि) मध्यस्थाया भावः मध्यस्थता ताम् = निष्पक्षता को। गृहीत्वा=ग्रहण करके अर्थात् निष्पक्ष, तटस्थ, बेलाग (Impartial) बन कर। भण = कह।

७१ वसन्ते उपायनानि तेषु लोलुपेन (स० तत्पु०) = वसन्त ऋतु में मिलने वाली भेंट-पूजा का लोभी, आर्यगौतमेन। यह एक प्रथा है कि वसन्त ऋतु के आगमन के उत्सव पर ब्राह्मणों को अपने घर बुलाया जाता है और उन्हें भेंट और फल-मिठाई दी जाती है। विदूषक ब्राह्मण होने के नाते भेंट आदि की तरफ गृध्र-दृष्टि लगाये रहता है। परन्तु क्या यह सच है कि गौतम ने निपुणिका को राजा के पहले पहुँच जाने की बात कही थी? गौतम उसे मिला ही नहीं। वह सफेद झूठ बोल रही है। त्वरताम् = √त्वर् (भ्वा० आ० शीघ्रता करना) + लोट् प्र० ए० = शीघ्रता करें।

७२ अवस्थायाः सदृशं यथा स्यात्तथा क्रि० विशे० = नशे की हालत की

---

७० इरावती—बस रहने दे अपनी ठकुर-सुहाती। निष्पक्ष होकर बोल।

७१ निपुणिका—वसन्त ऋतु की भेंट के लोभी आर्य गौतम ने कहा है। आप शीघ्रता कीजिए।

७२ इरावती—(नशे की अवस्था के अनुसार चलकर) अरी! नशा

७३ निपुणिका—णं सम्पत्तम्ह दोलाघरअं। [ननु संप्राप्ते स्वो दोलागृहम्।]

७४ इरावती—णिउणिए ण एत्थ अज्जउत्तो दीसइ। [निपुणिके नात्रार्यपुत्रो दृश्यते।]

७५ निपुणिका—ओलोएदु भट्टिनी। परिहासणिमित्तं कहिं वि गूढेण भट्टिणा होदव्वं। अम्हे वि इमं पिअङ्गुलदापरिक्खित्तं असोअसिलापट्टअं

तरह। परिक्रम्य = परि + √ क्रम + ल्यप्—घूमकर। क्लाम्यन्तीं √ क्लम् (दि० प० थकना) + शतृ + ङीप् + द्विती० ए०—थकी जाती हुई, अभिभूत। माम् + आर्यपुत्रस्य दर्शने (ष० तत्पु०) आर्यपुत्र के दर्शन के लिए। यहाँ चतुर्थी के अर्थ में सप्तमी हो गई है, जैसे—चर्मणि द्वीपिनं हन्ति। त्वरयति—त्वर् + णिच् + लट् = शीघ्रता करा रहा है। प्रसरतः = प्र + √ सृ (भ्वा० प० चलना) लट् प्र० द्वि० = आगे नहीं चलते। नशा मनुष्य में शिथिलता पैदा कर देता है, और आगे बढ़ने से रोक देता है।

७३ सम्प्राप्ते स्वः = हम दोनों पहुँच गये हैं। स्वः √ अस् धातु का लट् उत्त० पु० द्विवचन रूप का है।

७४ न + अत्र + आर्यपुत्रः। दृश्यते √ दृश् का कर्मवा० प्रयोग।

७५ परिहासः निमित्त यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा (ब० व्री०

चढ़ता जा रहा है। हृदय तो आर्यपुत्र को देखने के लिए उतावली कर रह है, परन्तु मार्ग में पैर आगे बढ़ते ही नहीं।

७३ निपुणिका—लो, हम लोग झूले-घर में पहुँच तो गये।

७४ इरावती—निपुणिका ! आर्यपुत्र नहीं दिखाई पड़ रहे हैं।

७५ निपुणिका - महारानीजी ! देखिए, हँसी-ठिठोली करने के लिए महाराज यहीं-कहीं छिपे हुए होंगे। हम दोनों भी प्रियंगुलता से घिरी अशोक वृक्ष के तले की इस पत्थर की पटिया पर बैठें।

पविसम्ह। [अवलोकयतु भट्टिणी। परिहासनिमित्तं कुत्रापि गूढेन भर्त्रा भवितव्यम्। आवामपीमं प्रियङ्गुलतापरिक्षिप्तमशोकशिलापट्टकं प्रविशावः।]

(इरावती तथा करोति)

७६ निपुणिका—(परिक्रम्य विलोक्य)—ओलोएदु भट्टिणी। चूदंकुरं विइण्णन्दीणं अम्हाणं पिपीलिआहिं दंसिदं। [अवलोकयतु भट्टिनी। आम्राङ्कुरं विचिन्वत्योरावयोः पिपीलिकाभिर्दष्टम्।]

७७ इरावती—किं विअ एदं। [किमिवैतत्।]

क्रिया-वि०) हँसी-मखौल के लिए। कुत्र+अपि-कहीं। गूढेन √भू+तव्य (भाववा०)=छिपे होंगे। आवाम्+अपि+इमम्=हम दोनों भी इस प्रियंगुलतया परिक्षिप्तम् (तृ० त०) प्रियंगुलता से घिरे हुए। अशोकतलस्थितं शिलापट्टकम् (मध्यमपदलोपी स०) अशोक वृक्ष के नीचे की पत्थर की पटिया पर। प्रविशावः=बैठ जाती हैं। आम्रस्य अंकुरम् (ष० त०) आम की कोंपल को विचिन्वत्योः=वि+√चिञ् (स्वा० उ० पु०=बटोरना)+शतृ+स्त्री+ष० द्विव०= ढूँढती, खोजती हुई। आवयोः=हम दोनों को। पिपीलिकाभिः=चीटियों ने। दष्टम्=काट लिया है। यहाँ अन्योक्ति द्वारा मालविका को चींटी और राजा को आम की कोंपल बनाया गया है अर्थात् हम कोंपल—राजा—को ढूँढने चली थीं कि चींटी - मालविका—ने काट लिया। अशोक-वृक्ष के नीचे मालविका को पाकर उन्हें ऐसी वेदना हुई मानो चींटी काट गई हो। राजा मालविका से प्रेम करता है—यह तो सभी अन्तः-पुर-जनों को मालूम ही था, इसलिए उन्हें निश्चय हो गया कि राजा भी अवश्य उधर ही है।

७७ किम्+इव+एतत्=यह क्या?

(इरावती उसी प्रकार करती है)

७६ निपुणिका—(घूम कर और देख कर) रानीजी! देखिए, हम आम की कोंपल ढूँढने चली थीं कि चींटियों ने काट डाला।

७७ इरावती—यह क्या?

७८ निपुणिका—बउलावलिका असोअपाअवच्छाआए मालविआए चलणालंकारं णिवट्टेदि। [एषा बकुलावलिका अशोकपादपच्छायायां मालविकायाश्चरणालंकारं निर्वर्तयति।]

७९ इरावती (शङ्कां रूपयित्वा)—अभूमी इअं मालविआए। किं तक्केसि। [अभूमिरियं मालविकायाः। किं तर्कयसि ?]

८० निपुणिका—तक्केमि डोलापरिब्भट्टाए सरुजचलणाए देवीए असोअदोहदाहिआरे णिउत्ता मालविएत्ति। अण्णहा कहं देवी सअं धारिदं णेउरजुअलं परिअणस्स अणुजाणिस्सदि। [तर्कयामि दोलापरिभ्रष्टया सरुजचरणया देव्या अशोकदोहदाधिकारे नियुक्ता मालविकेति। अन्यथा कथं देवी स्वयं धारित नूपुरयुगल परिजनस्यानुज्ञास्यति।]

---

७८ अशोकपादपस्य छाया तस्यां (ष० तत्पु०)=अशोक वृक्ष की छाया में मालविकायाः+चरणयोः अलंकारं (ष० तत्पु०)=पैरों की सजावट। निर्व०=निर् √वृत् (भ्वा० आ० होना)+णिच् कर रही है।

७९ अभूमिः+इयम्—यह मालविका का स्थान नहीं है। 'इयम्' से यहाँ प्रमदवन अर्थात् झूले की भूमि ली गई है। मालविका का यहाँ होना सन्देह की बात है। 'इयम्' से यहाँ 'चरणालंक्रिया' को भी लिया जा सकता है अर्थात् मालविका एक दासी ही है। उसे क्या अधिकार है कि वह रानियों, जैसा बनाव-ठनाव करे ? अवश्य दाल में कुछ काला है।

८० दोलायाः परिभ्रष्टा=परि+√भ्रंश् (दि० प० गिरना) + त (कर्तरि +आ (स्त्री०)+तृ० (प० तत्पु०)=झूले से गिरी। रुजा सहितौ सरुजौ

---

७८ निपुणिका—यह बकुलावलिका अशोक-वृक्ष की छाया में मालविका के चरणों को सजा रही है।

७९ इरावती—(शंका का अभिनय करके) यह तो मालविका (के आने) का स्थान नहीं है, तू क्या समझती है ?

८० निपुणिका—मैं तो यह समझती हूँ कि झूले पर से गिरने के

८१ इरावती—महदी खु से सम्भावणा। [महती खल्वस्याः सम्भावना।]

८२ निपुणिका—किं उण ण अण्णेसीअदि भट्टा। [किं पुनर्नान्विष्यते भर्त्ता।]

(ब० व्री०) सरुजौ चरणौ यस्याः सा तथाभूतया (ब० व्री०) = जिसके पैरों पर चोट आई हुई है, ऐसी देव्या = महारानीजी (धारिणी) ने। अशोकस्य दोहदं तस्य अधिकारे (ष० तत्पु०) अशोक की साध पूरी करने के कार्य में अर्थात् अशोक को फुलाने के लिए उस पर लात मारने के काम में। नियुक्ता = लगाई है। अन्यथा = नहीं तो। नूपुरयोः युगलम् (ष० तत्पु०)=अपने दोनों पायजेबों का। परिजनस्य + अनुज्ञास्यति = दासी को पहनने की आज्ञा देती, पहनने देती ?

८१ महती खलु + अस्याः संभावना = गौरव। यह तो महारानी ने इसे बड़ा गौरव दे दिया है। इरावती को ईर्ष्या हो गई कि यदि महारानी स्वयं पैर दुखने के कारण अशोक पर पाद प्रहार नहीं कर सकती थी, तो उनको चाहिए था कि वे मुझे कहतीं, क्योंकि उनके बाद यह अधिकार मेरा था, न कि इस दासी का।

८२ पुनः + न + अन्विष्यते (कर्मवा०) ढूँढा जाता ?

कारण महारानी के पैरों में चोट आई हुई है, इसलिए उन्होंने अशोक की इच्छा पूरी करने का कार्य मालविका को सौंपा है, नहीं तो क्या बात है कि जिन पायजेबों को महारानीजी स्वयं पहनती हैं उन्हें दासी को पहनने देतीं ?

८१ इरावती—यह तो इसे बड़ा गौरव मिला है।

८२ निपुणिका—तो महाराज को ढूँढिए न ?

८३ इरावती — हञ्जे मे चलणा अण्णदो ण प्पवट्टन्दि । मणो वि किं वि विआरेदि । आसङ्किदस्स दाव अन्तं गमिस्सं । ठाणे खु कादरं मे हिअअं । [हञ्जे ! मे चरणावन्यतो न प्रवर्तेते । मनोऽपि किमपि विचारयति । आशङ्कितस्य तावदन्तं गमिष्यामि । (मालविकां निर्वर्ण्य आत्मगतम्) स्थाने खलु कातरं मे हृदयम् ।]

८४ बकुलावलिका (मालविकायै चरणं दर्शयन्ती)— अवि रोअदि दे अअं चलणराअरेहाविण्णासो । [अपि रोचते तेऽयं चरणरागरेखाविन्यासः ।]

८५ मालविका—अत्तणो चलणगदोत्ति लज्जेमि णं पसंसिदुं । कहेहि

---

८३ चरणौ + अन्यतः । मनः + अपि किम् + अपि । आशङ्कितस्य = आ + √शङ्क् (भ्वा० आ०) + त (कर्मणि) तावत् + अन्तम् । स्थाने = ठीक ही (अव्यय) । सजी हुई मालविका देखकर इरावती को खटका होना स्वाभाविक ही है । उसे निश्चय हो गया है कि राजा प्रमदवन में आया-जाया करता ही है; इसलिए एक-न-एक दिन वह मालविका के सौन्दर्य का अवश्य शिकार बन जायगा और अपने-आप को उसे प्रियतम के प्रणय से वंचित होना पड़ेगा ।

८४ ते + अयम् चरणे रागस्य रेखाः तासां विन्यासः (ष० तत्पु०) पैर पर बनाई हुई महावर की लकीरें अर्थात् पैर को महावर से रँगाई । रोचते= अच्छी लग रही है ? √रुच् धातु के योग में चतुर्थी हुआ करती है ।

८५ आत्मनः + चरणे + गतः (स० तत्पु०) अपने पैर में है । लज्जे=

---

८३ इरावती—अरी ! मेरे पैर दूसरी जगह नहीं बढ़ते । मन में भी कुछ शंका हो रही है । उसे भी तो मिटाऊँगी । (मालविका को देख कर मन ही मन) मेरे हृदय की शंका ठीक ही हुई ।

८४ बकुलावलिका—(मालविका को पैर दिखाती हुई) पैर पर बनाई हुई महावर की लकीरें तुम्हें पसन्द आई ?

८५ मालविका—क्योंकि यह मेरे पैर पर हैं, इसलिए इस (पैर) की

केण पसाहणकलाए अहिविणीदासि। [आत्मनश्चरणगत इति लज्जे एनं प्रशंसितुम्। कथय केन प्रसाधनकलायामभिविनीतासि।]

८६ बकुलावलिका—एत्थ खु भट्टिणो सिस्सम्हि। [अत्र खलु भर्तुः शिष्यास्मि।]

८७ विदूषक—तुवरेहि दाहिं गुरुदक्खिणाए। [त्वरस्वेदानीं गुरुदक्षिणायै।]

शरमा रही हूँ। **प्रशंसितुम्** = प्र + शंस् (भ्वा०)+तुम् = प्रशंसा करने को। मालविका का यह अपना पैर है, इसलिए लज्जित हो रही है कि किस तरह अपने ही पैर को सराहना करें। उसका तात्पर्य यह है कि वह वकुलावलिका की कला-निपुणता पर बड़ी प्रसन्न है। **प्रसाधनस्य कला तस्याम्** (ष० तत्पु०) सजाने की कला में। **अभिविनीता + असि** = शिक्षित की गई है अर्थात् किसने तुमको इस कला की शिक्षा दी है?

८६ **भर्तुः शिष्या + अस्मि** = महाराज की शिष्या हूँ। चतुर बकुलावलिका को अवसर प्राप्त हो गया है कि वह उसके प्रति राजा का प्रेम खोले। राजा से पैर-रंगाई सीखने की बात तो उसकी सफेद झूठ है, पर उसे इस बहाने राजा का प्रेम-सन्देश मालविका को पहुँचाना है। यहाँ '**अत्र...शिष्याऽस्मि**' में वकुलावलिका का एक गुप्त अर्थ यह भी है कि 'तुम्हारे पैर की इस रँगाई में मुझे महाराज की आज्ञा है'। किस तरह वह व्यग्य से राजा के प्रेम की बात रखती है।

८७ **त्वरस्व + इदानीम्** = अब शीघ्रता करें। **गुरवे दक्षिणा तस्यै**

प्रशंसा करने में लजाती हूँ। किन्तु यह तो बोल कि सिंगार की इस कला में शिक्षा किसने तुम्हें दी?

८६ **बकुलावलिका**— इस कला में मैं महाराज की शिष्या हूँ।

८८ **मालविका—दिट्ठिआ अ गव्विदासि ।** [दिष्ट्या न गर्वितासि ।]

८९ **वकुलावलिका—उपदेशाणुरूवे चलणे लम्भिअ दाणिं गव्विदा भविस्सं ।** (स्वगतम्) **हन्त सिद्ध मे दोच्चं ।** (रागं विलोक्य प्रकाशम्) **सहि एक्कस्स दे चलणस्स अवसिदो । राअणिक्खेवो केवलं मुहमारुदो लम्भइदव्वो । अहवा पवादो एव्व अअं पदेसो ।** [उपदेशानुरूपौ चरणौ लब्ध्वा इदानीं गर्विता भविष्यामि । (स्वगतम्) हन्त सिद्धं मे दौत्यम् । (रागं विलोक्य प्रकाशम्) सखि, एकस्य ते चरणस्यावसितो रागनिक्षेपः । केवलं मुखमारुतो लम्भयितव्यः । अथवा प्रवात एवायं प्रदेशः ।]

(च० तत्पु०) गुरु-दक्षिणा के लिए । विदूषक का प्रासङ्गिक परिहास देखिए । हिन्दु-प्रथानुसार जिस गुरु से विद्या पढ़ते हैं, उसे विद्या-समाप्ति पर दक्षिणा देने का विधान है । क्योंकि राजा ने वकुलावलिका को पैर की रँगाई की विद्या सिखलाई है, इसलिए यह उचित ही है कि राजा उससे अपनी दक्षिणा ले और वह दक्षिणा यहाँ बनेगी मालविका, जिसे राजा चाहता है । मन-चाही दक्षिणा लेने का यही अवसर है ।

८८ **दिष्ट्या** = (अव्यय) सौभाग्य की बात है । **न गर्विता+असि गर्वः संजातः अस्याः** (इतच्) = **तुम्हें अभिमान नहीं है** अर्थात् इतनी सुन्दर विद्या जानने पर भी तुम्हें अभिमान छुआ तक नहीं—तुम कितनी भाग्यवान् हो, अन्यथा संसार में लोग थोड़ा-सा भी जानते हों, तो अभिमान में अकड़ने लगते हैं ।

८९ **उपदेशस्य+अनुरूपौ** (ष० तत्पु०) उपदेश के योग्य । **चरणौ लब्ध्वा=**

---

८७ **विदूषक**—अब जल्दी कीजिए और माँगिए गुरु-दक्षिणा ।

८८ **मालविका**—कितनी भाग्यवान् हो कि तुम्हें अभिमान तक नहीं ।

८९ **वकुलावलिका**—जैसी कि मैंने (सिंगार की) शिक्षा पाई है,

९० राजा—सखे ! पश्य पश्य ।

आर्द्रालक्तकमस्याश्चरणं मुखमारुतेन वीजयितुम् ।
प्रतिपन्नः प्रथमतरः संप्रति सेवावकाशो मे ॥१३॥

पैर पाकर अर्थात् जैसी मैंने इस महावर-रँगाई की शिक्षा पाई है, उसका अब तक मुझे गर्व नहीं था, क्योंकि रँगने योग्य पैर पहले मुझे मिले नहीं थे, किन्तु तुम्हारे सुन्दर पैर पाकर और उन्हें रँग कर आज मुझे अपनी विद्या का अभिमान हो रहा है। वकुलावलिका इस तरह मालविका के सुन्दर पैरों की स्तुति कर रही है । दूत्याः भावः दौत्यम्=दूती+य (भाव में पुंवद्भाव) दूती का काम । राजा ने उसे अपने प्रेम-व्यापार में दूती का काम दे रखा है। इसमें उसे प्रथम प्रयत्न में ही सफलता दीखने लगी है, क्योंकि मालविका का राजा के प्रति झुकाव स्पष्ट ही हो गया है, इसलिए राजा को अपने प्रेम-व्यापार में सफलता निश्चित है । चरणस्य+अवसितः=समाप्त, रागस्य निक्षेपः (ष० तत्पु०)=महावर लगाना, रँगाई करना । मुखस्य मारुतः (ष० तत्पु०)=मुख की हवा लम्भ०=√लभ् (भ्वा० आ० पाना)+णिच्+तव्य (कर्मणि) पहुँचानी है अर्थात् मुख से फूँक मार कर उसे सुखाना है । प्रकृष्टः +वातः यस्मिन् तथाभूतः (ब० व्री०) एव+अयं प्रदेशः=स्थान, अर्थात् इस स्थान में हवा खूब चल ही रही है, इसलिए बिना मुँह से फूँक मारे वह अपने आप सूख जायेगी ।

९० आर्द्रा०—अन्वयः—अस्याः आर्द्रालक्तकं चरणं मुख-मारुतेन वीजयितुं सम्प्रति मे प्रथमतरः सेवावकाशः प्रतिपन्नः । (आर्या)

आर्द्रम्+अलक्तम् एव अलक्तककम् (स्वार्थ में क) यस्मिन् तथाभूतम्

उसके योग्य पैरों को पाकर आज मैं क्यों अभिमान न करूँ ? (मन ही मन) प्रसन्नता की बात है कि मेरा दूती का काम बन गया है । (रँगाई को देखकर प्रकट) सखी ! तुम्हारे एक पैर की रँगाई तो हो गयी है, केवल मुख से फूँक लगानी है अथवा हवा तो यहाँ चल रही है ।

९० राजा—मित्र ! देखो—

इसके गीले महावर वाले पैर पर मुख से फूँक मार कर सुखाने का

६१ विदूषकः—कुदो दे अणुसओ। चिरं भवदा एदं कमेण अणुहोदव्वं। [कुतस्तेऽनुशयः। चिरं भवतैतत्क्रमेणानुभवितव्यम्।]

६२ बकुलावलिका—सहि अरुणसदपत्तं विअ सोहदि दे चलणं। सव्वहा भट्टिणो अङ्कपरिवट्टिणी होहि। [सखि अरुणशतपत्रमिव शोभते ते चरणम्। सर्वथा भर्तुरङ्कपरिवर्तिनी भव।] (इरावती निपुणिकामुखमवेक्षते)

(ब० व्री०)=जिसमें महावर गीला है ऐसे **चरणम्**=पैर को। **मुखस्य मारुतः तेन** (प० तत्पु०)=मुख की हवा से, फूँक से। **वीजयितुम्**=हवा करने, सुखाने के लिए। **प्रथमतरः**=अतिशयेन **प्रथमः**=सब से पहला, बिल्कुल पहला। **सेवाया अवकाशः** (ष० तत्पु०)=सेवा करने का अवसर। **प्रतिपन्नः**= प्रति + √पद् (दि०)+त (कर्तरि)=मिला है। राजा कहता है प्रियतमा की सेवा का पहला अवसर है। वह महावर को अपने मुँह से फूँक मार कर सुखा सकता है, पर उसे खेद है कि वह यह सेवा नहीं कर पा रहा है, क्योंकि अभी तक उसे पक्का निश्चय नहीं है कि मालविका उसके प्रेम-प्रस्ताव को स्वीकार करेगी या नहीं।

६१ **कुतः + ते + अनुशयः**=तुम्हें खेद काहे का? **चिरं भवता+ एतत् + क्रमेण + अनु०** √अनुभू+(भ्वा०) तव्यम् (कर्मणि) ऐसा अवसर आपको क्रमशः भोगना ही है, अर्थात् जीवन में विवाहोपरान्त सेवा करने के कितने ही ऐसे अवसर आते ही रहेंगे, खेद करने की कोई बात नहीं। देखिए विदूषक किस तरह राजा को भविष्य के सुन्दर स्वप्न दिखा कर ढाढस दे रहा है।

६२ **अरुणं च तत् शतपत्रम्** (कर्मधा०) लाल कमल, शतपत्र उस लाल

मुझे इस समय सेवा का पहला अवसर मिल गया है ॥१३॥

६१ विदूषक—इसमें खेद की कौन-सी बात है? ऐसे अवसर तो आपको चिरकाल तक क्रमशः मिलते ही रहा करेंगे।

६२ बकुलावलिका—सखी! तुम्हारा पैर तो लाल कमल की तरह

९३ राजा—ममेयमाशीः।

९४ मालविका—हला अवअणीअं मन्तेसि। [हला अवचनीयं मन्त्रयसे।]

९५ वकुलावलिका—मन्तिदव्वं एव मए मन्तिदं। [मन्त्रयितव्यमेव मया मन्त्रितम्।]

कमल को कहते हैं, जिसमें सौ पंखुड़ियाँ हों। भर्तुः + अंके परिवर्तितुं शीलम् अस्याः (उपपद तत्पु०) = स्वामी की गोद में लोटने, लेटने वाली। भव = √भू + लोट् मध्य० एकव० = हो। मालविका का उत्तर पाकर वकुलावलिका को अब प्रोत्साहन मिल गया कि वह इस मामले में और आगे बढ़े और व्यंग्य रूप से मालविका को यह बतला दे कि वह राजा के हृदय में घर किये बैठी है। आशीर्वाद का यही व्यंग्यार्थ है। इरावती निपुणिकायाः मुखम् (ष० तत्पु०) अवेक्षते = इरावती निपुणिका मुख देखने लगती है, यह बताने के लिए कि उसका सन्देह ठीक ही रहा, साथ ही 'भर्तृ' शब्द सुन कर उसे ईर्ष्या भी हो जाती है कि मालविका राजा पर अनुरक्त है।

९३ मम + इयम् + आशीः = आशीर्वाद।

९४ अवचनीयम् = न वक्तुं योग्यम् न कहने योग्य। यहाँ 'अवचनीयम्' के दो अर्थ हो सकते हैं (१) अण्ट-सण्ट, बेसिर-पैर की, क्योंकि यह सर्वथा असम्भव है कि राजा उससे प्रेम करे। (२) अनुचित अर्थात् सच होने पर भी जो बोलने योग्य नहीं है। मन्त्रयसे=√मन्त्र् (चु० कहना) + लट् = कहती हो।

९५ मन्त्र् + तव्य, मन्त्रयितव्यम् √मन्त्र् + त = कहने योग्य ही कहा।

सुन्दर लग रहा है। ईश्वर करे तुम सर्वथा स्वामी की गोद में लोटती रहो।

(इरावती निपुणिका के मुँह की तरफ देखती है)

९३ राजा—मेरा भी यही आशीर्वाद है।

९४ मालविका—अरी ! क्या अण्ट-सण्ट कहती है।

९५ वकुलावलिका—(नहीं) मैंने तो वही कहा जो कहना चाहिए।

९६ मालविका—पिआ खु अहं तुह। [प्रिया खल्वहं तव।]

९७ वकुलावलिका—ण केवलं मह। [न केवलं मम।]

९८ मालविका—कस्स वा अण्णस्स। [कस्य वान्यस्य।]

९९ वकुलावलिका—गुणेसु अहिणिवेसिणो भट्टिणो वि। [गुणेष्वभिनिवेशिनो भर्तुरपि।]

१०० मालविका—अलीअं मन्तेसि। एदं एव्व मइ णत्थि। [अलीकं मन्त्रयसे। एतदेव मयि नास्ति।]

---

९६ प्रिया + खलु अहम्, क्योंकि तुम मुझ से प्रेम करती हो। प्रेम में असम्भव बात की भी कल्पना हो जाया करती है, देखिए इसी अङ्क की टिप्पणी सं० ४१—'सौहार्दमेवं पश्यति'।

९७ वा + अन्यस्य = दूसरे का। मालविका जान तो गई कि वकुलावलिका का संकेत किधर है। वह स्वयं राजा पर अनुरक्त है, पर वह वकुलावलिका के मुँह से सुनना चाहती है कि वह राजा की प्रियतमा है।

९९ गुणेषु + अभिनिवेशिनः भर्तुः+अपि, अभिनिवेशः अस्य अस्तीति अभिनिवेश + इन् (मतुवर्थ तद्धि०)=सौन्दर्य-आदि गुणों पर पक्षपात करने वाले, गुण-ग्राही स्वामी का भी। वे तुम से प्रेम करते हैं, क्योंकि वे गुणग्राहक है, और तुम में गुण हैं ही।

१०० एतत् + एव मयि न + अस्ति, एतत् से यहाँ (१) गुण भी लिया जा सकता है अर्थात् मुझ में सौन्दर्य कहाँ, यदि होता तो महाराज मुझ से प्रेम न करते, (२) प्रेम भी लिया जा सकता है अर्थात् महाराज का

---

९६ मालविका—तुम्हारा मुझसे प्रेम है, इसीलिए न ?

९७ वकुलावलिका—केवल मेरा ही नहीं।

९८ मालविका—फिर और दूसरे किसका ?

९९ वकुलावलिका—गुणग्राही महाराज का भी।

१०० मालविका—झूठ कहती हो। उन्हीं का तो मुझसे प्रेम नहीं।

१०१ बकुलावलिका—सच्चं तुइ णत्थि। भट्टिणो किसेसु सुन्दर-पण्डुरेसु अङ्गेसु दीसइ। [सत्यंत्वयि नास्ति। भर्तुः कृशेषु सुन्दरपाण्डुरेष्वङ्गेषु दृश्यते।]

१०२ निपुणिका—पुढमगणिदं विअ हदासाए उत्तरं। [प्रथमगणितमिव हताशाया उत्तरम्।]

ही तो मुझ से प्रेम नहीं। मालविका जान-बूझ कर अपनी अनभिज्ञता दिखा रही है जिससे कि वह महाराज की शिष्या से उनका अपनी ओर भाव प्रकट करा सके।

१०१ **सत्यं ''नास्ति** = यह व्यंग्य से कहा जा रहा है कि हाँ, महाराज का तुमसे क्यों प्रेम होता, किन्तु वास्तविक अर्थ यह है कि वे तुम्हें बहुत प्रेम करते हैं। यदि इसका प्रमाण ही जानना चाहती हो, तो इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मैं देती हूँ। **सुन्दराणि च तानि पाण्डूनि** (कर्मधा०) सुन्दर और पीले **अङ्गेषु** = अंगों में (कर्मधा०) **दृश्यते** यह दिखाई देता है कि वे तुमसे कितना प्रेम करते हैं अर्थात् तुममें सौन्दर्य-गुण हो, न हो, प्रेमान्ध बने हुए महाराज तुम्हारे वियोग में सूख रहे हैं, पीले पड़ रहे हैं—यह प्रेम के कारण नहीं तो क्या ? अंगों से प्रेम प्रकट करने के लिए देखिए विक्रमो० II "ननु भणितमेव कमलनालायमानैरङ्गैः"।

१०२ **प्रथमं गणितम् इव** = पहले का सोचा हुआ-सा। **हता + आशा** यस्याः सा (ब० व्री०)=तथाभूतायाः 'दास्याः पुत्री' की तरह 'हताशा' भी एक गाली का शब्द है अर्थात् मुई, निगोड़ी, खोटी। बकुलावलिका की प्रत्युत्पन्नमतिता, हाजिरजवाबी का लोहा निपुणिका को भी मानना पड़ा। इससे यह भी

---

१०१ **बकुलावलिका**—हाँ, सचमुच तुमसे नहीं। महाराज के दुबले-पीले पड़े सुन्दर अंगों में यह दिखाई देता है।

१०२ **निपुणिका**—निगोड़ी पहले से ही तैयार किया हुआ-सा उत्तर दे रही है।

१०३ वकुलावलिका—अणुराओ अणुराएण परिक्खिदव्वोत्ति सुअणवअणं पमाणीकरेहि। [अनुरागोऽनुरागेण परीक्षितव्य इति सुजनवचनं प्रमाणीकुरु।]

१०४ मालविका—किं उत्तणो छन्देण मन्तेसि। (किमात्मनश्छन्देन मन्त्रयसे।]

पता चलता है कि वकुलावलिका को ऐसे-ऐसे उत्तर की शिक्षा पहले से ही दी गई है।

१०३ अनुरागः + अनुरागेण परीक्षि० = परि + √ईक्ष् (भ्वा० आ० देखना) + तव्य, इति सुजनानां वचनम् (ष० तत्पु०) अप्रमाणम् प्रमाणं सम्पद्यमानं करोति इति प्रमाण + च्वि (तद्धि कृ०) + (नामधातु) + लोट् म० ए० = सही मानो अर्थात् सज्जन लोगों का जो यह कहना है कि प्रेम की परीक्षा प्रेम द्वारा ही करनी चाहिए, इसे मानो। यदि यह जानना हो कि अमुक व्यक्ति मुझ से प्रेम करता है या नहीं, तो पहले अपने दिल को टटोलो कि तुम भी उससे प्रेम करते हो या नहीं। यदि तुम प्रेम करते हो, तो वह भी प्रेम करेगा। यह बात प्रेम-क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि सभी विषयों में समझिए। 'अपने दिल से जानिए, दूसरे दिल की बात' कहने वाले कबीर का भी यही कहना है। भाव यह हुआ कि यदि तुम्हारा महाराज से प्रेम है, तो उनका भी क्यों न होगा?

१०४ किम् + आत्मनः छन्देन=क्या अपनी मर्जी से। मन्त्रयसे =कहती हो? मालविका यह जानना चाहती है कि क्या वकुलावलिका अपनी ही मन-मर्जी से यह बात गढ़ रही है अथवा उसे राजा ने संकेत किया है।

---

१०३ वकुलावलिका—"प्रेम से ही प्रेम को परखना चाहिए"—यह सज्जन लोगों की कही हुई बात मानो।

१०४ मालविका— क्या तुम अपनी मन-मर्जी से कह रही हो?

१०५ बकुलावलिका—णहि णहि। भट्टिणो खु एदाइं पणअमिदुआइं विम्वन्दरिदाइं अक्खराइं। [नहि नहि। भर्तुः खल्वेतानि प्रणयमृदुकानि वक्त्रान्तरितान्यक्षराणि।]

१०६ मालविका—हला देविं चिन्तिअ ण मे हिअअं विस्ससदि। [हल, देवीं चिन्तयित्वा न मे हृदयं विश्वसिति।]

---

०५ खलु + एतानि प्रणयेन मृदूनि एव मृदुकानि (स्वार्थे क) (तृ० तत्पु०)=प्रेम से कोमल, प्रेम-सने, प्रेम-पगे। अन्यत् वक्त्रं वक्त्रान्तरम् (अस्वपद-विग्रह समास) वक्त्रान्तरं सञ्जातम् एषाम् वक्त्रान्तर+इतच् (तद्धि०) वक्त्रान्तरितानि अक्षराणि=जो अक्षर मैंने कहे हैं, वे मेरे नहीं हैं, राजा के हैं। इन्होंने मेरे मुख को दूसरा मुख वना रखा है अर्थात् मैं जो कुछ कह रही हूं, वह राजा का ही कहा हुआ है, भेद है तो केवल मुख का। पहले राजा के मुख के थे, अव मेरे मुख के हैं। बकुलावलिका मालविका को विश्वास दिला रही है कि वह अपनी मन-गढ़ी वात नहीं कह रही है, वल्कि सच कह रही है। वास्तव में ये शव्द राजा ने वकुलावलिका को कभी नहीं कहे थे। यह तो विदूषक ने ही राजा की तरफ से उसे पाटी पढ़ा रखी थी कि तू यों-यों वोलना।

१०६ चिन्तयित्वा=विचार करके। हृदयं न विश्वसिति = विश्वास नहीं करता। मालविका रानी धारिणी से डर रही है। यह जान कर भी कि महाराज उसे प्रेम करते हैं, रानी के कारण उसे प्रेम-व्यापार में सफलता नहीं दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त उसे रानी की अप्रसन्नता का भी तो भय वना हुआ है जो उसकी मालकिन है।

---

१०५ बकुलावलिका—नहीं, नहीं, ये प्रेम-पगे कोमल अक्षर महाराज के कहे हुए ही मैं कह रही हूँ।

१०६ मालविका—अरी, जव मुझे महारानी का ध्यान आता है, तो मेरा हृदय विश्वास नहीं करता।

१०७ बकुलावलिका—मुद्धे भमरसम्बाधोत्ति वसन्दावदारसव्वस्स-भूदो किं ण चूदपसवो ओदंसणिज्जो। [मुग्धे ! भ्रमरसंबाध इति वसन्तावतारसर्वस्वभूतः किं न आम्रप्रसवोऽवतंसनीयः।]

१०८ मालविका—तुमं दाव दुज्जादे मह अच्चन्दसहाइणी होदि। [त्वं तावद् दुर्जाते ! ममात्यन्तसहायिनी भव।]

---

१०७ मुग्धे=(संबो०) अरी भोली, अरी पगली ! भ्रमराणां संबाधः (ष० तत्पु०) इति=इस कारण से। वसन्तस्य अवतारः (प्रारम्भः) तस्य (ष० तत्पु०) सर्वस्वं भूतः (कर्मधा०)=वसन्त ऋतु के प्रारम्भ का सर्वस्व बना हुआ। आम्रस्य प्रसवः (ष० तत्पु०)=आम की मंजरी, बौर। किं न अवतंसं करोति इति (नामधा०) अवतंस+णिच्+अनीय=क्या कान का गहना नहीं बनाना चाहिए ? बकुलावलिका अन्योक्ति द्वारा कह रही है कि वसन्त में आममंजरी को क्यों न कानों में पहनें, भले ही उसके पीछे भौंरे क्यों न आएँ और तंग करें ? उसका संकेत राजा के प्रेम और उस मार्ग में बाधा पहुँचाने वाली धारिणी और इरावती से है। मालविका धारिणी की नौकरानी है। रानी को पता लगते ही कि मालविका का राजा से प्रेम है और राजा भी उसे चाहते हैं, मालविका की खैर नहीं, पर चतुर बकुलावलिका उसे प्रोत्साहन देती है कि रानियों की क्या पर्वाह ? प्रेम-मार्ग में बाधाएँ पड़ती ही हैं, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि कोई प्रेम ही न करे। जीवन में जहाँ फूल होता है वहाँ काँटों का होना भी स्वाभाविक ही है, यह तो जीवन का तथ्य है। इससे क्या घबराना ! 'प्यार किया तो डरना क्या'।

१०८ दुर्जाते=यदि शब्द को सम्बोधन माना जाय, तब इसका अर्थ

---

१०७ बकुलावलिका—अरी भोली ! भौंरे तंग करेंगे—इस डर से क्या वसन्त की सर्वस्व बनी आम की मंजरी कानों में न पहनें ?

१०८ मालविका—खोटी ! संकट खड़ा हो जाय, तो तुम सभी प्रकार मेरी सहायक बनना।

१०६ वकुलावलिका—विमद्दसुरही बउलावलिअ खु अहं। [विमर्दसुरभिर्वकुलावलिका खल्वहम् ।]

११० राजा—साधु वकुलावलिके! साधु।

भावज्ञानानन्तरं प्रस्तुतेन

प्रत्याख्याने दत्तयुक्तोत्तरेण।

दुः = दुष्टं यथा स्यात् तथा जाता दुर्जाता बनेगा। यह भी एक प्रकार की गाली समझो और यह शब्द वकुलावलिका का मालविका के लिए 'मुग्धे' इस शब्द के जवाब में है। यदि दुर्जाते को सप्तमी भी लें, तो इसका अर्थ होगा 'संकट में'। मालविका अपने प्रेम-मार्ग में पड़ने वाले भावी संकटों में वकुलावलिका की सहायता चाहती है। **मम + अत्यन्तं यथा स्यात् तथा सह अयितुं शीलम् यस्याः** = अत्यन्त-सहायिनी। सभी तरह सहायता देने वाली। **भव** = हो।

१०६ **विमर्दन सुरभिः** = मसलने से और भी अधिक सुगन्धि देने वाली। **वकुलस्य** = मौलसरी के फूलों की। **आवलिः एव आवलिका** (स्वार्थे क) = माला हूँ, वकुलावलिका अपने नाम को सार्थक करेगी, अर्थात् मसली जाने पर वह और भी अधिक सुगन्धि देने वाली मौलसरी की माला ही साबित होगी। इस तरह वह मालविका को किसी भी विपत्ति में सहायता का वचन दे रही है।

भाव०—अन्वयः—भाव-ज्ञानानन्तरं प्रस्तुतेन प्रत्याख्याने दत्त-युक्तोत्तरेण वाक्येन इयं स्वे निदेशे स्थापिता; कामिनां प्राणाः दूत्यधीना—इति स्थाने। (शालिनी)

भावस्य ज्ञानम् (ष० तत्पु०) **तस्मात् अनन्तरम्** (पं० तत्पु०)

---

१०६ **वकुलावलिका** = अरी! मैं तो हूँ वकुलावलिका—मौलसरी—के फूलों की माला, जो मसलने पर और भी अधिक सुगन्ध देती है।

११० **राजा**—वाह री वकुलावलिका! वाह!

(मालविका का) हृदय टटोल कर तुमने प्रेम-प्रस्ताव रखा और जब

वाक्येनेयं स्थापिता स्वे निदेशे
स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः ॥ २४ ॥

१११ इरावती—हञ्जे पेक्ख पेक्ख। कारिदा एव्व एदस्सिं बउलावलिआए पदं मालविआ। [हञ्जे पश्य पश्य। कारितैवैतस्मिन् बकुलावलिकया पदं मालविका।]

मालविका के हृदय का भाव जानने के अनन्तर। प्रस्तुतेन = रखे गए, कहे गए, प्रारम्भ किए गए। प्रत्याख्याने = ना करने पर, इनकार करने पर। दत्तं युक्तम् उत्तरं यस्मिन् (ब० व्री०) जिसमें ठीक-ठीक उत्तर दिया गया—ऐसे वाक्येन = वचन द्वारा, कथन से। स्वे निदेशे = अपनी आज्ञा में, अपने कहने में। स्थापिता = बिठा दिया, पक्का कर दिया, ले गई। कामिनां प्राणाः = प्रेमियों का जीवन। दूतीनाम् अधीनाः (ष० तत्पु०) = दूतियों के हाथ में हैं इति स्थाने = यह ठीक ही है। राजा बकुलावलिका की निपुणता पर प्रसन्न हैं कि किस तरह वह मालविका को अपने वश में ले आई। पहले तो उसके हृदय की थाह ली, तब मेरी तरफ से प्रेम-प्रस्ताव रखा और जब वह ना करने लगी, तब इस तरह तर्क-पुष्ट उत्तर दिया कि वह कहना मानने को तैयार हो गई। प्रेमियों का जीवन अथवा उनके प्रेम-व्यापार की सफलता या विफलता वास्तव में दूतियों और बिचौलियों के ही हाथ का खेल है। वे चाहें तो काम बनाएँ या बिगाड़ें।

१११ कारिता = √कृ + णिच् + त (कर्मणि) आ+एव + एतस्मिन्। पदम् = स्थान। महाराज के लिए मालविका के हृदय में स्थान बना दिया,

---

वह ना करने लगी तो तुमने ऐसा युक्ति-युक्त उत्तर दिया कि उसे अपने कहने में ले ही आई हो। "प्रेमियों का जीवन दूतियों—बिचौलियों—के हाथ में रहता है"—यह जो कहते हैं ठीक ही कहते हैं ॥ १४ ॥

१११ इरावती—अरी ! देख, देख। बकुलावलिका ने मालविका के हृदय में महाराज को बिठा ही दिया है।

११२ निपुणिका—भट्टिणि णिव्विआरस्स वि ऊसुअदाजणओ उवदेसो। [भट्टिनि! निर्विकारस्याप्युत्सुकताजनक उपदेशः।]

११३ इरावती—ठाणे सङ्किदं मे हिअअं। गहिदत्था अणन्दरं चिन्तइस्सं। [स्थाने शङ्कितं मे हृदयम्। गृहीतार्थानन्तरं चिन्तयिष्यामि।]

उन्हें विठा दिया है अर्थात् वकुलावलिका ने उसे ऐसा प्रोत्साहन दिया है जिससे कि वह महाराज को प्रेम करने लगी है। 'पदं कारिता' प्रयोग के लिए देखिए शाकुन्तल IV—"येन असत्य-सन्धे जने सखी पदं कारिता"।

११२ निर्विकारस्य=निर्गतः विकारो यस्मात् तथाभूतस्य (ब० व्री०)+अपि=विकार-रहित को भी। उत्सुकस्य भाव उत्सुकता तस्या जनकः (ष० तत्पु०) उत्सुकता, उत्कट इच्छा पैदा कर देने वाला। उपदेश=शिक्षा, सीख है। चतुर निपुणिका सारे मामले को एकदम समझ लेती है कि ये सब कुटिल-चालें दुष्ट वकुलावलिका की ही हैं जो मालविका के हृदय को भड़का उठीं। बेचारी भोली-भाली मालविका वकुलावलिका के जाल में फँस बैठी, वह दया की पात्र है न कि क्रोध की।

११३ स्थाने=(अव्यय) ठीक ही। गृहीतः अर्थो यया तथाभूता सती (ब० व्री०)=बात को (ठीक-ठीक) समझ कर ही, सारी बातों का अच्छी तरह पता लगा कर ही। चिन्तयिष्यामि=इस पर सोचूँगी कि इसका क्या उपाय किया जाय, इस समस्या का क्या हल निकाला जाय?

---

११२ निपुणिका—महारानीजी! जिसे कुछ भी लाग-लगाव न हो, उसमें भी उत्सुकता पैदा कर देने वाली इसकी सीख है।

११३ इरावती—मेरे हृदय की शंका ठीक ही निकली। सारा मामला ठीक-ठीक समझ कर ही (उपाय) सोचूँगी।

११४ वकुलावलिका—एसो दुदीओ वि समत्तपडिअम्मा दे चलणो। जाव दुवे वि सणेउरे करोमि। (नाट्येन नूपुरयुगलमामुच्य) हला उट्ठेहि। अणुचिट्ठ देवीए असोअविआसइत्तअं णिओअं। [एष द्वितीयोऽपि समाप्तपरिकर्मा ते चरणः। यावद् द्वावपि सनूपुरौ करोमि। (नाट्येन नूपुरयुगलमामुच्य) हला! उत्तिष्ठ। अनुतिष्ठ देव्या अशोकविकासयितृकं नियोगम्।]

(उभे उत्तिष्ठतः)

११५ इरावती—सुदं देवीए णिओओत्ति दाणिं। [श्रुतं देव्या नियोग इतीदानीम्।]

---

११४ द्वितीयः+अपि चरणः = यह दूसरा पैर भी। समाप्तं परिकर्म यस्य तथाभूतः (ब० व्री०)=जिसकी सजावट, रँगाई समाप्त हो गई है, अर्थात् तुम्हारा दूसरा पैर भी सजा दिया है। नूपुरयोः युगलम् (ष० त०)=पायजेबों का जोड़ा। आमुच्य = पहना कर। द्वौ+अपि = दोनों को। नूपुराभ्यां सहितौ (ब० व्री०) = पायजेबवाले। करोमि=कर दूँ। अनुतिष्ठ = करो। देव्याः= महारानी की। अशोकस्य विकासयितृ म्=वि + √कस्+णिच्+तृच् (कर्तरि) +क (स्वार्थे) अशोक को खिलाने, फुलाने वाली नियोगम्=आज्ञा को अर्थात् जिस तरह कि महारानी ने पाद-प्रहार करके अशोक की साध पूरी करने का जो काम सौंपा है—उसे करो।

११५ इति + इदानीम्। इरावती ने जब सुना कि मालविका को यह दोहद का काम धारिणी ने सौंपा है, तो उसे बड़ा क्रोध आ गया। यदि

---

११४ वकुलावलिका—लो, तुम्हारा यह दूसरा पैर भी सजा दिया है। लाओ अब इन दोनों पर पायजेब पहनाऊँ (दोनों पायजेब पहनाने का अभिनय करके) उठो सखी! अशोक-वृक्ष में फूल खिलाने की जो आज्ञा महारानी ने दी है, उसे पूरा करो।

(दोनों उठती हैं)

११५ इरावती—अब सुन लिया न कि यह महारानीजी की आज्ञा है।

११६ वकुलावलिका—एसो उवारूढराओ उवभोअक्खमो पुरदो दे दीसइ। [एष उपारूढराग उपभोगक्षमः पुरतस्ते दृश्यते।]

११७ मालविका (सहर्षम्)—किं भट्टा। [किं भर्ता ?]

पैरों पर चोट आ जाने के कारण वे स्वयं न कर सकती थीं, तो मुझे कहतीं, मैं कर देती। अब महारानीजी मुझे भी अधिकार-वंचित कर रही हैं और मुझे ही चिढ़ाने के लिए इस छोकरी को बढ़ावा दे रही हैं। इस तरह इरावती सौतिया-डाह से जल उठी।

११६ उपारूढः रागः यस्मिन् तथाभूतः (व० व्री०) उपभोगस्य क्षमः (ष० तत्पु०), यहाँ वकुलावलिका ने अपनी निपुणता की हद कर दी है। ऐसे शब्द कहे हैं जो अशोक और राजा दोनों की तरफ लग जाते हैं। 'राग' वृक्ष की कोंपलों की तरफ 'लाली' और राजा की तरफ 'प्रेम' बताता है। इसी तरह 'उपभोग' का अर्थ वृक्ष की कोंपलों की तरफ उन्हे कानों में पहनना है और राजा की तरफ 'मौज-बहार लूटना' है। (१) अशोक के लाल-लाल कोंपलों का गुच्छा सामने है, जो कानों में पहनने योग्य है। (२) प्रेम-रंग में छलकता प्रियतम सामने है, जो मौज-बहार लूटने योग्य है। ऐसे-ऐसे द्व्यर्थक शब्द-प्रयोग नाटक की भाषा में 'पताका-स्थान' कहलाता है, देखिए साहित्य-दर्पण-VI ४८—"अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत्। श्लिष्ट-प्रत्युत्तरोपेतं पताकास्थानकं मतम्" ॥

११७ बेचारी मालविका का प्रेमाकुल हृदय प्रियतम की तरफ का ही अर्थ लेता है, इसलिए वह पूछती है—"किं भर्ता ?"

---

११६ वकुलावलिका—राग-भरा और आनन्द लूटने योग्य यह तुम्हारे सामने ही तो दीख रहा है।

११७ मालविका—(प्रसन्नता के साथ) क्या प्रियतम ?

११८ बकुलावलिका (सस्मितम्)—ण दाव भट्टा। एसो असोअसाहावलम्बी पल्लवगुच्छो। ओदंसेहि दाव णं? [न तावद्भर्ता! एषोऽशोकशाखावलम्बी पल्लवगुच्छः। अवतंसय तावदेनम्!]

११९ विदूषकः—अवि सुदं भवदा। [अपि श्रुतं भवता।]

१२० राजा—सखे पर्याप्तमेतावता कामिनाम्।

---

११८ सस्मितम्=मुस्कराहट के साथ। मुस्कराहट का कारण यह है कि उसने जो जाल बिछाया था, वह सफल हो गया। बेचारी मछली उसमें फँस गई है। न तावत्+भर्ता=स्वामी कहाँ? एषः+अशोकस्य शाखायाम् (ष० तत्पु०) अवलम्बते इति...अवलम्बी (उपपद तत्पु०) पल्लवानां गुच्छः (ष० तत्पु०)=कोपलों का गुच्छा। अवतंसं करोति अवतंस+णिच (नामधातु) लोट्। तावत्+एनम्। श्लेष द्वारा दो अर्थ बताकर बाद को एक का खण्डन करना और दूसरा लेना—इसे शास्त्रीय भाषा में 'छेकापह्नुति' कहते हैं। यह हिन्दी में 'मुकरी' कहलाती है, जैसे देखिए खुसरो की 'मुकरी':—

शोभा सदा बढावनहारा, आँखिन ते छिन करूँ न न्यारा।
आठ पहर मेरा मनरंजन, क्यों सखि! 'साजन?' ना सखि, 'अंजन'।

१२० पर्याप्तम्+एतावता=इतना ही पर्याप्त, काफी है। कामिनाम्=कामियों को। राजा मालविका द्वारा प्रेम का उत्तर प्रेम से दिए जाने पर इतने मात्र से प्रसन्न हो जाता है।

---

११८ बकुलावलिका—(मुस्करा कर) अरी प्रियतम नहीं, अशोक की शाखा में लटकता हुआ कोंपलों का गुच्छा। इसे कानों में पहन लो।

११९ विदूषक— सुना आपने?

१२० राजा—मित्र! प्रेमियों को इतना मात्र पर्याप्त है:—

अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिध्यता
समागमेनापि रतिर्न मां प्रति ।
परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं
शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ॥१५॥

अना० अन्वयः—अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिध्यता समागमेन अपि मां प्रति रतिः न; परस्पर-प्राप्ति-निराशयोः समानुरागयोः शरीर-नाशः अपि वरम् । (वंशस्थम्)

न आतुरः अनातुरः (नञ् तत्पु०) अनातुरश्च उत्कण्ठितश्च तयोः (कर्मधा०) ऐसे दो व्यक्तियों, के जिनमें से एक में तो प्रेम की आतुरता, तड़पन ही न हो और एक में हो, प्रसि० = प्र + √सिध् (दि० प०) + शतृ+तृ० = होने वाले । समागमेन = मेल से, संयोग से । मां प्रति रतिः न=मुझे आनन्द नहीं आता अर्थात् प्रेम एक-तरफा नही हुआ करता, वह तो दो-तरफा व्यापार है । एक हृदय तो जल रहा हो और एक ठण्डा पड़ा हो—ऐसी हालत मे उन दोनों का मेल प्रेम नहीं, एक प्रकार का बलात्कार ही समझिए । इसे शृंगाररस नहीं, शृंगाररसाभास कहते हैं । परस्परस्य प्राप्तिः (ष० तत्पु०) तस्यां निराशयोः (स० तत्पु०)=एक दूसरे की प्राप्ति में निराश हुए । समः अनुरागः ययोः (ब० व्री०) =बराबर प्रेम करने वालों का । शरीरस्य नाशः (ष० तत्पु०) शरीर-नाश, मृत्यु । वरम् = अच्छी है । असली प्रेम तो दो-तरफा वस्तु है । हृदय में एक-दूसरे के लिए टीस होनी चाहिए । मेल हो न हो, यह गौण बात है । प्रेम में निराश हुओं की मृत्यु भी महत्त्वपूर्ण है । यही कारण है कि साहित्य-शास्त्रियों ने जितना महत्त्व प्रेम के वियोग-पक्ष को दिया है, उतना संयोग-पक्ष को नहीं ।

दो प्रेमियों में से एक में तो तड़पन ही न हो और दूसरा तड़प रहा हो – ऐसे दोनों का यदि मेल भी हो जाय, तो मुझे पसन्द नहीं, परन्तु हाँ, यदि दोनों का एक दूसरे के लिए समान प्रेम हो और वे परस्पर मिलने को आशा छोड़ बैठे हों, तो उनका (एक दूसरे के लिए) मर जाना भी अच्छा है ॥१५॥

(मालविका रचितपल्लवावतंसा सलीलमशोकाय पादं प्रहिणोति)

वयस्य ! पश्य ।

आदाय कर्णकिसलयमस्मादियमत्र चरणमर्पयति ।
उभयोः सदृशविनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये ॥ १६ ॥

आदाय०—अन्वयः—इयम् अस्मात् (अशोकात्) कर्ण-किसलयम् आदाय अत्र चरणम् अर्पयति, उभयोः सदृश-विनिमयात् (अहम्) आत्मानं वञ्चितं मन्ये । (आर्या)

इयम् = यह (मालविका) **अस्मात्** = (अशोक) से । **कर्णार्थं किसलयम्** (च० तत्पु०)=कानों के लिए कोंपल । **आदाय** = लेकर । अत्र=इस (अशोक) पर । **चरणम्** अर्पयति=पैर दे रही है । **उभयोः**=दोनों का । **सदृशः विनिमयः** (कर्मधा०) **तस्मात्** = बराबर के, एक-जैसे आदान-प्रदान, लेन-देन के कारण । मालविका ने लाल-लाल पत्ते लिये, तो उसके बदले पत्ते-जैसा लाल-लाल पैर दिया । इसलिए यह आदान-प्रदान बराबर की वस्तुओं से हुआ है । **आत्मानम्**=अपने को । **वञ्चितं मन्ये** = वञ्चित हुआ समझ रहा हूँ । राजा को बड़ा खेद हो रहा है कि मालविका ने 'राग' वाले अशोक से कुछ लिया और उसके बदले पादप्रहार दिया । मैं भी तो 'राग' वाला था । मेरे साथ इसने कुछ भी आदान-प्रदान नहीं किया और यों ही वंचित रखा । मेरी अपेक्षा यह अशोक ही भाग्यवान् निकला । इसी तरह के भाव के लिए देखिए शाकु० "वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर ! हतास्त्वं खलु कृती" I—२० ।

(मालविका कोंपलों को कानों में पहने हुए विलास (नाज) के साथ अशोक पर पैर मारती है)

मित्र ! देखो

मालविका ने अशोक-वृक्ष से तो कानों के लिए कोंपल लिए और उसे पैर दे रही है । दोनों में बराबरी की वस्तुओं का आदान-प्रदान होने के कारण मैं तो अपने को वञ्चित ही समझ रहा हूँ ॥ १६ ॥

१२१ मालविका—अवि णाम अम्हाणं संभावना सफला हवे।
[अपि नाम आवयोः संभावना सफला भवेत् ।]

१२२ बकुलावलिका—हला णत्थि दे दोसो। णिग्गुणो अअं असोओ जइ कुसुमोब्भेदमन्थरे भवे जो ईरिसं चलणसक्कारं लहेइ। [हला नास्ति ते दोषः निर्गुणोऽयमशोको यदि कुसुमोद्भेदमन्थरो भवेद्य ईदृशं चरणसत्कारं लभते ।]

---

१२१ **संभावना** = सम्मान, आदर, गौरव। मालविका चिन्तित होती है कि अशोक को दिया गया पाद-प्रहार का सम्मान सफल होता है या नहीं, क्योंकि इसकी सफलता पर ही उसकी मनोरथ-पूर्ति अवलम्बित है।

१२२ न + अस्ति दोषः। **निर्गुणः + अयम् + अशोकः** निर्गता गुणा यस्मात् तथाभूतः (ब० व्री०) **कुसुमानाम् + उद्भेदः** (प० तत्पु०) तस्मिन्, **मन्थरः** = फूलों को देने में ढीलाढाला। **भवेत्+यः + ईदृशं चरणेन सत्कारम्** (तृ० तत्पु०)=पैर द्वारा ऐसा सम्मान। **लभते**=पाता है। वकुलावलिका का कहना है कि यदि इतने सुन्दर पैर से सम्मान प्राप्त करने पर भी अशोक-वृक्ष फूल नहीं देवे, तो दोष मालविका का नहीं बल्कि गुणों की पहचान न करने वाले अशोक का समझिए।

---

१२१ मालविका—हमने इसे जो सम्मान दिया है—आशा है वह सफल हो जाय।

१२२ वकुलावलिका—सखी ! जो तुम्हारे पैर से ऐसा सम्मान प्राप्त करता है यह अशोक यदि फूल प्रकट करने में देरी करे, तो यही निर्गुणी है, इसमें तुम्हारा दोष नहीं।

१२३ राजा—

अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराराविणा
नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन संभावितः ।
अशोक ! यदि सद्य एव कुसुमैर्न संपत्स्यसे
वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम् ॥ १७ ॥

---

१२३ अनेन० **अन्वयः**—तनु-मध्यया मुखर-नूपुराराविणा नवाम्बु-रुह-कोमलेन अनेन चरणेन सम्भावितः (त्वं) यदि सद्यः एव कुसुमैः न सम्पत्स्यसे, (तर्हि) अशोक ! ललित-कामि-साधारणं दोहदं वृथा वहसि । (पृथ्वी वृत्तम्)

तनु मध्यं यस्या साः तथाभूतया (ब० व्री०) पतली कमरवाली । **मुखरं नूपुरम्** (कर्मधा०) **तस्य आरावः अस्त्यत्र** (इन् तद्धि०) = बजते हुए पायजेब से झंकारते हुए । **नवम् + अम्बुरुहम्** (कर्मधा०) तद्वत् **कोमलेन** (कर्मधा०) नये कमल की तरह कोमल । **अनेन चरणेन** = इस पैर द्वारा । **सम्भावितः**=सम्मानित किया हुआ यदि **सद्यः एव** = तत्काल ही । **कुसुमैः न सम्पत्स्यसे**=सम् + पद् (दि० आ जाना) + लृट् = फूलों से सम्पन्न, युक्त नहीं होता, तो **ललिताश्च ते कामिनः** (कर्मधा०) तेषां **साधारणम्** (ष० तत्पु०)= रसिक, मस्त प्रेमियों के समान, **दोहदम्** = इच्छा को, साध को । **वृथा वहसि**= व्यर्थ ही रखते हो । रोमांसी (Romantic) राजा भी अशोक को ही दोष देता है कि याद रख, इतनी परमसुन्दरी के पाद-प्रहार—जिसके लिए प्रेमी भी

---

१२३ राजा—

पतली कमर वाली ने बजती हुई पायजेब से झंकारते हुए, नये कमल के समान अपने इस सुकुमार पैर द्वारा तुम्हें इतना सम्मान दिया है, यदि तू तत्काल फुल नहीं प्रकट करता, तब तो हे अशोक ! तेरी यह साध (दोहद), जिसके लिए मस्त प्रेमी भी ललचाते रहते हैं, बेकार हो है ॥१७॥

सखे ! वचनावसरपूर्वं प्रवेष्टुमिच्छामि ।

१२४ विदूषकः—एहि णं परिहासइस्सं । [एह्येनां परिहासयिष्यामि ।]

(उभौ प्रवेशं कुरुतः)

१२५ निपुणिका—भट्टिणि भट्टा एत्थ एव्व पविसइ । [भट्टिनि ! भर्तात्रैव प्रविशति] ।

१२६ इरावती—इदं मह पुढमं चिन्तिदं हिअएण । [इदं मम प्रथमं चिन्तितं हृदयेन ।]

तरसते हैं—प्राप्त करके तू नहीं फूलता, तो यह तेरी गुणानभिज्ञता, मूर्खता ही सिद्ध होगी । प्रेमी को प्रियतमा के पाद-प्रहार से मिलने वाले आनन्द के लिए देखिए—"कान्ता-पाद-तलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः" । **वचनस्य अवसरः पूर्वं** यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात्तथा (क्रियावि०) बोलने का पहले **अवसर** ढूंढ़ लूं ।

१२४ एहि + एनाम् परिहा०=परि + √हस् + णिच् + लृट् उ० ए० =आओ, इसे बेवकूफ बनाता हूं, इससे हँसी-ठिठोली करता हूं ।

१२५ भर्ता + अत्र + एव ।

१२६ इदं...**हृदयेन**—इरावती ने तो कभी का भाँप लिया था कि महाराज अवश्य मालविका के असाधारण सौन्दर्य पर लट्टू हो जाएंगे । इसके लिए महाराज का सहसा प्रकट होना उसके लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं थी ।

मित्र ! बोलने का अवसर निकाल कर आगे बढ़ना चाहता हूं ।

१२४ विदूषक—आओ, इसे बनाऊंगा ।

(दोनों आगे बढ़ते हैं)

१२५ निपुणिका—स्वामिनी ! महाराज इधर ही आ रहे हैं ।

१२६ इरावती—मेरा हृदय तो यह पहले ही सोच रहा था ।

१२७ विदूषकः (उपसृत्य)—होदि जुत्तं णाम अत्तहोदो पिअवअस्सो असोओ अअं वामपादेण ताडिदुं। [भवति ! युक्तं नामात्रभवतः प्रियवयस्योऽशोकोऽयं वामपादेन ताडयितुम् ।]

१२८ उभे (ससंभ्रमम्)—अम्मो भट्टा । [अहो भर्ता !]

---

१२७ भवति = यह भवती का सम्बोधन एकवचन है, देवीजी ! नाम + अत्रभवतः = माननीय, महाराज का, प्रियश्चासौ वयस्यः (कर्मधा०) = प्रियमित्र ! अशोकः+अयम् = यह अशोक । वामश्चासौ पादः तेन (कर्मधा०)= बाएँ पैर से । हँसी-ठिठोली में नकली क्रोध करके विदूषक उन लड़कियों को फटकार रहा है । अशोक एक तो महाराज का परम-कृपापात्र, दूसरे, उसपर पैर मारना और वह भी बायाँ—कितनी धृष्टता है छोकरियों की । यह अपमान अशोक का नहीं, बल्कि एक प्रकार से महाराज का ही है । अनजाने में यह सारा अपराध मालविका का है ।

१२८ गृहीतः अर्थो यया तथाभूतया (ब० व्री०) = जिसे पता ही था । ईदृशम्+अविनयम् = ऐसी धृष्टता । कुर्वती = करती हुई । न निवारिता = नहीं रोकी ? मालविका की खबर लेकर विदूषक अब वकुलावलिका की खबर लेता है । उसके विचार में मालविका से अधिक अपराध वकुलावलिका का है, क्योंकि मालविका बाहर से आई हुई नई लड़की है, उसे इन बातों का क्या पता, पर वकुलावलिका तो पुरानी है, उसे सब पता है, उसको चाहिए था कि मालविका को रोकती, उलटा अपराध करने में उसकी सहायता करने लगती है ।

---

१२७ विदूषक – (आगे बढ़कर) क्यों जी देवीजी ! महाराज के प्रिय सखा इस अशोक पर आपका बायाँ पैर मारना क्या ठीक है ?

१२८ दोनों —(घबरा कर) अरे ! महाराज !

१२९ विदूषकः—वउलावलिए तुए गहिदत्थाए ईरिसं अविणअं करेन्दी किं सही ण णिवारिदा। [बकुलावलिके ! त्वया गृहीतार्थया ईदृशमविनय कुर्वती किं सखी न निवारिता ?] (मालविका भय रूपयति)

१३० निपुणिका—भट्टिणि पेक्ख किं पवुत्तं अज्जगोदमेण। [भट्टिनि ! पश्य किं प्रवृत्तमार्यगौतमेन।]

१३१ इरावती—कहं ब्रम्हबन्धू अण्णहा जीविस्सदि। [कथं ब्रह्मबन्धुरन्यथा जीविष्यति।]

---

१३० प्रवृत्तम् + आर्य गौतमेन = आर्य गौतम किस तरह प्रारम्भ कर रहा है, किस तरह बात बना रहा है। निपुणिका को आश्चर्य होता है कि किस तरह विदूषक निर्दोष लड़कियों को डरा रहा है। वह तत्काल विदूषक के आशय को समझ जाती है कि वह डरा-धमका कर मालविका पर प्रभाव जमाना चाहता है और राजा से अपराध के लिए उसे क्षमा दिलवा कर राजा की उदारता दिखाते हुए उसके हृदय में राजा के प्रति प्रेम को और भी बढ़ावा देना चाहता है।

१३१ कथं ब्रह्मबन्धुः + अन्यथा। ब्रह्म = ब्राह्मणजातिः एव बन्धुः यस्य (ब० व्री०)–यह ब्राह्मण के लिए निन्दावाचक शब्द है, ब्रह्मबन्धु उस ब्राह्मण को कहते हैं, जो पढ़ा-लिखा न हो, केवल जाति-मात्र का ब्राह्मण हो देखिए अमरकोश—'ब्रह्मबन्धुरधिक्षेपे'। हिन्दी मे ऐसे ब्राह्मण को भटड़ा ब्राह्मण या केवल भटड़ा कहते हैं। इरावती को विदूषक की दुष्टता पर बड़ा क्रोध आ

---

१२९ विदूषक—बकुलावलिका ! तुम्हें तो पता ही था, इस तरह की धृष्टता करते हुए तुमने अपनी सखी को क्यों नहीं रोका ?

(मालविका डर जाने का अभिनय करती है)

१३० निपुणिका—रानीजी ! देखा आपने आर्य गौतम किस तरह बातें बना रहा है ?

१३१ इरावती—ऐसी बातें न बनावे, तो भटड़ा पेट कैसे भरे ?

१३२ वकुलावलिका—अज्ज एसा देवीए णिओअं अणुचिट्ठदि। एदस्सिं अदिक्कमे परवदी इअं। पसीददु भट्टा। [आर्य ! एषा देव्या नियोगमनुतिष्ठति। एतस्मिन्नतिक्रमे परवतीयम्। प्रसीदतु भर्ता।] (आत्मना सममेनां प्रणिपातयति)

१३३ राजा—यद्येवमनपराद्धासि। उत्तिष्ठ भद्रे ! [हस्तेन गृहीत्वोत्थापयति]

रहा है और उसे गाली दे रही है।

१३२ नियोगम् + अनुतिष्ठति = आज्ञा का पालन कर रही है। एतस्मिन् + अतिक्रमे=इस अपराध में। परवती + इयम् = यह पराधीन है। चतुर वकुलावलिका—जो पहले से ही तैयार करी-कराई है—एकदम अपराध को स्वीकार कर लेती है, परन्तु इसमें मालविका की विवशता सिद्ध करती हुई क्षमा माँग लेती है। आत्मना + समम् + एनाम् = अपने साथ-साथ इसे भी। प्रणिपा० = प्र + नि + पत् + (भ्वा०) + णिच् + लट् = पैरों में झुका देती है। वकुलावलिका अपने दौत्य-कर्म में पूरी-पूरी सफल हो जाती है, यहाँ तक कि मालविका को राजा के पैरों में गिरा देती है। राजा को उसे हाथ से उठाने और उसका स्पर्श-सुख प्राप्त करने का सुन्दर अवसर मिल जाता है, जिसके लिए वह इतने समय से तड़प रहा था।

१३३ यदि + एवम् + अनपराद्धा + असि। न अपराद्धा अनपराद्धा (नञ् तत्पु०) अप + √राध् (स्वा० प० प्रसन्न करना) + त (कर्तरि) निरपराध = निर्दोष हो। गृहीत्वा + उत्थाप० = उत् + √स्था (भ्वा०) + णिच् + लट् पकड़ कर उठाता है।

---

१३२ वकुलावलिका – आर्य ! यह तो महारानी की आज्ञा का पालन कर रही है। इस अपराध में यह पराधीन है। महाराज प्रसन्न हूजिए।

१३३ राजा—यदि ऐसी बात है, तो तुम्हारा कोई अपराध नहीं। उठो भली लड़की ! (हाथ से पकड़ कर उठाता है)

१३४ विदूषकः—जुज्जइ। देवी एत्थ माणइदव्वा! [युज्यते। देव्यत्र मानयितव्या।]

१३५ राजा—(विहस्य)

किसलयमृदोर्विलासिनि कठिने निहितस्य पादपस्कन्धे।
चरणस्य न ते बाधा संप्रति वामोरु वामस्य ॥१८॥

---

१३४ देवि + अत्र मान० = √मन् (दि० आ० मानना)+णिच्+तव्य। महारानी धारणी का मन रखना चाहिए। विदूषक का अभिप्राय यह है कि राजा के प्रिय वृक्ष का इस तरह अनादर होने पर भी महारानी का मान रखना चाहिए, जिन्होंने पाद-प्रहार करने की आज्ञा दी है। देखिए विदूषक की विडम्बना।

१३५ किस०—अन्वयः—(हे) विलासिनि! वामोरु! कठिने पादपस्कन्धे निहितस्य किसलय-मृदोः ते वामस्य चरणस्य सम्प्रति बाधा न? (आर्या)

विलासः अस्ति अस्याम् इति विलास + इन् (तद्धि०) हे विलासवाली, विलास स्त्रियों की अपने प्रियतमों के प्रति अनुराग-भरी चेष्टाओं, नाज-नखरों को कहते हैं। **वामौ ऊरू यस्याः सा** (व० ब्री०) सम्बोधन, सुन्दर जाँघों वाली। **कठिने पादपस्य स्कन्धे** (प० तत्पु०)=कठोर अशोक वृक्ष के तने पर। **निहि०**= नि + √धा (जु० उ०) + त (कर्मणि) धरे हुए, मारे हुए। **किसलयवत् मृदोः** (कर्मधा०) कोंपलों की तरह कोमल। **ते वामस्य चरणस्य**=तुम्हारे बायें पैर पर। **बाधा न?** क्या पीड़ा, दर्द तो नहीं हुआ? रोमान्सवाले राजा के हृदय में अपनी प्रियतमा के सुकुमार पैर के कठोर वृक्ष पर लगने से बड़ा दुःख हो

---

१३४ विदूषक—ठीक है, महारानी का मान रखना चाहिए।

१३५ राजा—(हँस कर)—

हे विलासिनी! इस वृक्ष के कठोर तने पर मारने से तुम्हारे कोंपल-से सुकुमार पैर पर, अब सुन्दरी! कोई पीड़ा तो नहीं? ॥१८॥

(मालविका लज्जां नाटयति)

१३६ इरावती—(सासूयम्)—अहो णवणीदकप्पहिअओ खु अज्ज-उत्तो। [अहो नवनीतकल्पहृदयः खल्वार्यपुत्रः।]

१३७ मालविका—वउलावलिए एहि। अणुट्ठिदं अत्तणो णिओअं देवीए णिवेदेम्ह। [बकुलावलिके! एहि। अनुष्ठितमात्मनो नियोगं देव्यै निवेदयावः।]

१३८ बकुलावलिका—तेण हि विण्णावेहि भट्टारं विसज्जेहि त्ति। [तेन हि विज्ञापय भर्तारं विसर्जयेति।]

रहा है कि कहीं उसे चोट या पीड़ा तो नहीं हुई? राजा का आशय यह है कि क्या मैं पैर दबा दूँ? रोमान्स होता ही ऐसा है।

१३६ असूयया सहितं यथा स्यात् तथा (क्रियावि०) असूया ईर्ष्या, डाह को कहते हैं। नवनीतात् ईषत् असमाप्तम् न्यूनम् नवनीत+कल्प (तद्धि०)= मक्खन से थोड़ा ही कम अर्थात् मक्खन-जैसा, हृदयं यस्य तथाभूतः (व० ब्री०) खलु + आर्यपुत्रः। इनका हृदय कितना मक्खन-जैसा बन गया—आश्चर्य होता है। मालविका को पाद-प्रहार करते ही इनका हृदय तत्काल पिघल गया है जब कि मुझे झूलने का वचन देकर भूल गए। क्या मेरे हृदय को चोट की भी इन्हें कोई परवाह है? अरे पत्थर-दिल साजन!

१३७ अनुष्ठितम् + आत्मनः। निवेदयावः=सूचित कर दें।

१३८ विज्ञाप०—√वि + ज्ञा (क्र्या० उ० जानना) + णिच् + लोट् =

(मालविका लज्जा का अभिनय करती है)

१३६ इरावती—(ईर्ष्या के साथ) आश्चर्य है कि आर्यपुत्र का हृदय मक्खन की तरह कितना कोमल बन गया है।

१३७ मालविका—बकुलावलिका! चलो महारानी को सूचना दे दें कि (हमने) अपना काम कर लिया है।

१३८ बकुलावलिका—तो महाराज से प्रार्थना करो कि जाने की आज्ञा दीजिए।

१३९ राजा—भद्रे ! यास्यसि । मम तावदुपपन्नावसरमर्थित्वं श्रूयताम् ।

१४० वकुलावलिका—अवहिदा सुणाहि । आणवेदु भट्टा । [अवहिता शृणु । आज्ञापयतु भर्ता ।]

१४१ राजा—

धृतिपुष्पमयमपि जनो न वध्नाति तादृशं चिरात्प्रभृति ।
स्पर्शामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यरुचेः ॥ १६ ॥

प्रार्थना करो । विस० = वि + √सृज् (तु० प० वताना) + णिच् + लोट्=जाने की आज्ञा दें, विदा करें । बेचारी मालविका सहसा महाराज की उपस्थिति में अकबका गई और वहाँ से खिसकना चाहती है, परन्तु वकुलावलिका को यह स्वीकार नहीं । वह चाहती है कि वह कुछ देर वहाँ और रुके और महाराज के साथ दो-चार बातें करें । इस लिए वह मालविका को कहती है कि महाराज से जाने की आज्ञा माँगो ।

१३९ तावत् + उपपन्नः अवसरो यस्य तत् (व० व्री०) = जिसका अवसर मिला हुआ है ऐसे अर्थित्वम् = अर्थयते इति अर्थी तस्य भावः तत्ता = प्रार्थना । श्रूयताम् (कर्मवा०) सुन लो । राजा अपनी प्रेम-प्रार्थना करना चाहता है ।

१४० अवहि०=अव+√धा + त (कर्तरि) सावधान (होकर), ध्यान से ।

१४१ धृति०—अन्वयः—अयं जनः अपि चिरात् प्रभृति तादृशं धृति-पुष्पं न वध्नाति, अनन्य-रुचेः अस्य अपि दोहदं स्पर्शामृतेन पूरय । (आर्या)

अयं जनः = मैं भी । चिरात् प्रभृति = बहुत समय से लेकर । तादृशम्

---

१३९ राजा—भली लड़की ! जाने को तुम जाओगी, किन्तु मेरी एक प्रार्थना तो सुन लो, जिसका अवसर मुझे मिला हुआ है ।

१४० वकुलावलिका—सावधान होकर सुन लो, महाराज ! आज्ञा कीजिए ।

१४१ राजा—अशोक की तरह इस जन पर भी बहुत समय से धैर्य

१४२ इरावती (सहसोपसृत्य)=पूरेहि पूरेहि। असोओ कुसुमं दंसेदि ण वा। अअं उण पुप्फइ फलइ अ। [पूरय पूरय। अशोकः कुसुमं दर्शयति न वा। अयं पुनः पुष्पति फलति च।] (सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा संभ्रान्ताः।)

= अशोक की तरह। धृतिः एव पुष्पम् (कर्मधा०)=धैर्य-रूपी फूल। न बध्नाति =नहीं रख रहा है। अनन्य० = न अन्यस्यां रुचिः यस्य तथाभूतस्य (ब० व्री०) = जो तुम्हें छोड़ अन्य किसी स्त्री को नहीं चाहता। अस्य अपि = इसकी भी (मेरी भी)। दोहदम्=इच्छा को, साध को, मनोरथ को। स्पर्शः एव अमृतं तेन (कर्मधा०)=अपने स्पर्श-रूपी अमृत से। पूरय=पूरा कर दो। देखिए राजा किस तरह स्पष्ट शब्दों में प्रेम-प्रस्ताव कर रहा है। वह अपनी तुलना अशोक से ही करता हुआ कहता है—मुझमें भी आनन्द के फूल नहीं खिले हैं। मैं भी तुम्हारे अमृत-समान स्पर्श की बाट जोह रहा हूँ। अशोक की साध तो तुमने पूरी कर दी, मेरे प्रति भी न्याय हो।

१४२ पुष्पति फलति = यहाँ आसन्न भविष्यत्काल में वर्तमान का प्रयोग है। राजा के सीधे प्रेम-प्रस्ताव पर इरावती का सारा धैर्य जाता रहा। वह आग-बबूली हो जाती है और राजा तथा मालविका पर खूब बरसती है। अशोक फूले, न फूले—क्या पता, परन्तु राजा तो फूलेगा अर्थात् मालविका का प्रेम प्राप्त करके उस पर कृपा करेगा ही, साथ ही फल भी दे देगा। फल देने से इरावती का व्यंग्यार्थ मालविका से सन्तान पैदा होना है। यद्यपि

के फूल नहीं लग रहे हैं, जो तुम्हें छोड़ कर और किसी को नहीं चाहता इसकी (भी) तुम अपने अमृत-तुल्य स्पर्श से साध पूरी कर दो न ॥१९॥

१४२ इरावती—(सहसा आगे बढ़ कर) हाँ, पूरी कर दो न, अवश्य पूरी कर दो। अशोक फूल प्रकट करे या न करे, ये तो फूलेंगे भी और फलेंगे भी।

(सब के सब इरावती को देख कर अकबका जाते हैं)

१४३ राजा (अपवार्य)—वयस्य ! का प्रतिपत्तिरत्र ।

१४४ विदूषकः—किं अण्णं । जङ्घाबलं एव्व । [किमन्यत् ? जङ्घाबलमेव ।]

१४५ इरावती—वउलावलिए साहु तुए उवक्कन्दं । मालविए तुमं दाव करेहि सफलपत्थणं अज्जउत्तं । [बकुलावलिके ! साधु त्वयोपक्रान्तम् । मालविके ! त्वं तावत् कुरु सफलप्रार्थनमार्यपुत्रम् ।]

ऐसा कहना अश्लील और भद्दा है, पर क्योंकि इरावती नशे में है और क्रोध से सन्तुलन खोए बैठी है, इसीलिए स्वाभाविक और क्षम्य है। देखिए दो प्रेमियों के मधुर मिलन में इरावती कैसा विघ्न बन कर आई है। वास्तव में कालिदास को यह अभिमत नहीं कि काम-चेष्टा को अधिक बढ़ाया जाए, इसलिए वे दोनों को पृथक् करके वियोग द्वारा अन्तिम मिलन का महत्त्व देना चाहते हैं।

१४३ प्रतिपत्तिः=उपाय है। राजा एक दम असमंजस में पड़ जाता है कि वह क्या करे और विदूषक को इसका प्रतिकार पूछता है।

१४४जङ्घयोः बलम् (ष० तत्पु०) जाँघों, पैरों का बल ही प्रतिकार है अर्थात् यही उपाय है कि नौ-दो ग्यारह हो जाएँ, भाग चलें। परिहास-प्रिय विदूषक को इससे भिन्न और क्या उपाय सूझ सकता है ?

१४५ साधु त्वया + उपाक्रान्तम् = तूने खूब शुरू किया है। सफल०= सफला प्रार्थना यस्य तथाभूतम् = सफल प्रार्थना वाला। कुरु—बना अर्थात् आर्यपुत्र की मनोकामना पूरी कर दे।

---

१४३ राजा—(अलग) मित्र ! अब क्या करें ?

१४४ विदूषक—और क्या करें, भाग चलें।

१४५ इरावती—बकुलावलिका ! खूब काम छेड़ा है। मालविका ! कर दे न आर्यपुत्र की प्रार्थना पूरी।

१४६ उभौ—पसीददु भट्टिणी। का वअं भट्टिणो पणअपरिग्गहस्स। [प्रसीदतु भर्त्त्री। का वयं भर्तुः प्रणयपरिग्रहस्य।] (इति निष्क्रान्ते)

१४७ इरावती—अहो अविस्ससणीआ पुरिसा। मए क्खु अत्तणो वञ्चणा वाहजणगीदिरत्ताए हरिणीए विअ असङ्किदाए :ण विण्णादा। [अहो अविश्वसनीयाः पुरुषाः। मया खल्वात्मनो वञ्चना व्याधजनगीतिरक्तया हरिण्येवाऽशङ्कितया न विज्ञाता।]

---

१४६ प्रणयस्य परिग्रहः तस्य (ष० तत्पु०)=प्रेम-प्राप्ति के। दोनों लड़कियाँ अपने को निर्दोष दिखाना चाहती हैं और कहती हैं 'भला, हम-जैसी तुच्छ लड़कियां महाराज के प्रेम का स्वप्न भी देखने वाली होती ही कौन हैं ?' हमारा इतना ऊंचा भाग्य कहाँ ?

१४७ अवि० = न विश्वसितुं योग्याः वि+√श्वस्+अनीय (कृदन्त) विश्वास न करने योग्य, धोखेबाज, वञ्चक। यह है स्त्रियों की पुरुषों के प्रति साधारण धारणा। मया खलु + आत्मनः वञ्चना=ठगी। व्याध-जनानां गीत्यां रक्तया (ष० तत्पु०) = शिकारी लोगों के गीत में आसक्त हुई हरिण्या + इव = मृगी की तरह न शङ्किता तया = कुछ भी शंका, शक न करती हुई, 'मया' का और 'हरिण्या' का विशेषण है। इरावती राजा की ठगी पर क्रुद्ध है। राजा ने उसे वचन दिया था कि वह उसके साथ झूलने का आनन्द लेगा। पर उसके स्थान में इरावती ने क्या देखा कि राजा एक दासी के साथ विलास

---

१४६ दोनों—स्वामिनी ! प्रसन्न हूजिए। भला, हम होती ही कौन हैं स्वामी का प्रेम प्राप्त करने वाली ?

(दोनों चली जाती हैं)

१४७ इरावती—ओह ! पुरुषों का कोई विश्वास नहीं। सचमुच मुझे बिलकुल भी पता नहीं चला कि मेरे साथ ऐसी ठगी हो रही है। मेरा हाल तो उस मृगी का-सा है जो व्याधों के गीत पर लट्टू हुई बेखटके फांस टी [illegible]ा ई हो।

१४८ विदूषकः (जनान्तिकम्) पडिओजेहि किं वि दाणिं। किं अण्णं कम्मगहीदेण कुम्भीलएण सन्धिच्छेअणं सिक्खिदोम्हित्ति वत्तव्वं होइ। [प्रतियोजय किमपीदानीम्। किमन्यत् कर्मगृहीतेन कुम्भीलकेन सन्धिच्छेदनं शिक्षितोऽस्मीति वक्तव्यं भवति।]

१४९ राजा—सुन्दरि! न मे मालविकया कश्चिदर्थः। मया त्वं चिरयसीति यथाकथंचिदात्मा विनोदितः।

कर रहा है। कितनी बड़ी वञ्चना, कितना बड़ा विश्वासघात है! वह राजा की तुलना व्याध से और अपनी व्याधों के मधुर गीतों से फँसाई जाने वाली मृगी से करती है। इस सम्बन्ध में देखिए सुभाषित—"यस्य चाप्रियमन्विच्छेत् तस्य कुर्यात् सदा प्रियम्। व्याधा मृग-वधं कर्तुं सम्यग् गायन्ति सुस्वरम्॥"

१४८ प्रतियो० प्रति + √युज् + णिच् + लोट्। किम् + अपि + इदानीम् = अब कुछ बात सोचो, कुछ उत्तर दो। किम् + अन्यत् = और क्या? कर्मणि + गृहीतेन = काम करते पकड़े गये, रंगे-हाथों पकड़े गये। कुम्भीलकेन = चोर ने। सन्धेः छेदनम् = सेंध लगाना (Hous-breaking) शिक्षितः + अस्मि = सीखा है यही वक्तव्यं भवति = कहना होता है। विदूषक का भाव यह है कि जब कोई चोर सेंध लगाता पकड़ा जाता है, तब यह थोड़ा कहता है कि मैं चोरी कर रहा था। वह तो यही कहेगा कि मैं सेंध लगाने का अभ्यास कर रहा था। इसलिए तुम भी कोई बहाना बना लो। चुप मत रहो, चुप रहने से यही सिद्ध होगा कि वास्तव में तुम अपराधी हो, क्योंकि "मौनं स्वीकृति-लक्षणम्" होता है।

१४९ कश्चित् + अर्थः = कोई मतलब। चिरयसि = विलम्ब कर

---

१४८ विदूषक—(अलग) अब बनाओ कुछ (और ही) बात। और कुछ क्या बनाओ! जब चोर रंगे-हाथों पकड़ा जाता है, तब उसे यही तो कहना होता है कि मैं सेंध लगाना सीख रहा था।

१४९ राजा—सुन्दरी! मेरा मालविका से कोई सरोकार नहीं। तुम्हारे आने में देर रही, इसलिए मैंने तो थोड़ा-सा मन बहलाया है।

१५० इरावती—विस्सणीओसि। मए ण विण्णादं ईरिसं विणोदवत्थुअं अज्जउत्तेण उवलद्धंति। अण्णहा मन्दभाइणीए एव्वं ण करीअदि। [विश्वसनीयोऽसि। मया न विज्ञातमीदृशं विनोदवस्तुकमार्यपुत्रेणोपलब्धमिति। अन्यथा मन्दभागिन्या एवं न क्रियते।]

१५१ विदूषकः—मा दाव अत्तहोदी अत्तहोदो दक्खिण्णस्स उवरोहं भणदु। समावत्तिदिट्ठेण देवीए परिअणेण संकहावि जइ अवराहो ठाविअदि एत्थ तुमं एव्व पमाणं। [मा तावदत्रभवती अत्रभवतो दाक्षिण्यस्योपरोधं भणतु। समापत्तिदृष्टेन देव्याः परिजनेन संकथापि यद्यपराधः स्थाप्यते अत्र त्वमेव प्रमाणम्।]

रही हो। यथाकथंचित् = थोड़ा-सा, यों ही। विनो०—वि + नुद् (तु०)+णिच् +नः (कर्मणि) = बहलाया।

१५० विश्व० = वि + श्वस् + अनीय + असि, विश्वास के योग्य, बड़े सच्चे हो। यह एक ताना है। विज्ञातम् + ईदृशम् विनोदस्य वस्तु एव वस्तुकम् (स्वार्थे क) आर्यपुत्रेण + उपलब्धम् + इति। विनोद-वस्तु से यहाँ मालविका की ओर संकेत है। अन्यथा = नहीं तो, मन्दः भागो यस्याः सा (व० ब्री०) मन्दभागिन, अभागिन। एवं न क्रियते (कर्मवा०) = ऐसी न करती बड़ा ताना कसती है। इसका आशय यह है कि यदि मुझे यह पता होता कि आप ऐसी सुन्दर बालिका से मन बहला रहे हैं, तो मैं कभी आपको ढूंढने न आती और आपके इस मन-बहलाव में बाधा डालती। इरावती को इस तरह राजा के प्रेम से अपने को वञ्चित पाकर बड़ा दुःख हो रहा है।

१५१ दक्षिणस्य भावः दाक्षिण्यम्, दाक्षिण्यस्य = उपरोधः उदारता,

---

१५० इरावती—हाँ, क्यों न विश्वास करें आपका ? मुझे पता नहीं रहा कि आपको ऐसी मन-बहलाव की वस्तु मिली हुई है, नहीं तो मैं अभागिन ऐसा न करती (तुम्हारे बीच न आती।)

१५१ विदूषक—रानीजी ! आप महाराज को यों शिष्टाचार भंग

१५२ इरावती—णं संकहा णाम होदु। किंत्ति अत्ताणं आआसइस्सं।
[ननु संकथा नाम भवतु। किमित्यात्मानमायासयिष्यामि।] (रुष्टा प्रस्थिता)

साधारण शिष्टाचार में रुकावट अर्थात् आप महाराज को यों शिष्टाचार दिखाने में रोक मत लगाइये। **समापत्त्या दृष्टः** (तृ० तत्पु०) **तेन**=अकस्मात् दिखाई पड़ने वाली। समापत्ति आकस्मिकता (Chance) को बोलते हैं। **देव्याः परिजनेन** = रानी की दासियों, नौकरानियों के साथ। **संकथा** = वार्तालाप, बातचीत भी। **यदि+अपराधः स्थाप्यते** = अपराध समझा जाता है। **अत्र त्वम् एव प्रमाणम्** = यह आप ही जानें अर्थात् इस बात को अपराध कहने में आप ही प्रमाण हैं, आप ही सही हैं। दूसरा व्यक्ति इसे अपराध कोई नहीं कहेगा। देखिए विदूषक की चतुराई। उसने देखा कि राजा तो इरावती को शान्त नहीं कर सका, तो स्वयं राजा का पक्ष समर्थन करता है कि दासी-जन से महाराज की बातचीत करना कोई गुनाह नहीं, इसके लिए राजा को यों फटकारना अनुचित है।

१५२ किम् + इति + आत्मानम् आयास०=आ + √यस् (दि० श्रम करना) + णिच् + लट् = क्यों अपने को दुःख दूँ। इरावती विदूषक के सफेद झूठ पर और भी तप गई, क्योंकि उसने अपनी आँखों से मालविका के साथ राजा की रंगीनियाँ देख लीं जिन्हें विदूषक साधारण बातचीत कह रहा है। उसे ऐसे मक्कारों के साथ विवाद करना ठीक न लगा, इसलिए उनके हाथों अपना और अधिक अपमान न देखने के विचार से वहाँ से खिसकना ही चाहती है।

करने को न कहें। अकस्मात् दिखाई पड़ी महारानी की दासियों से बातचीत करना भी यदि अपराध है, तो इसमें तुम ही सही हो।

१५२ इरावती—हाँ, तो होने दो बातचीत। क्यों मैं अपने जी को दुखाऊँ?

(रूठ कर चल पड़ी)

१५३ राजा (अनुसरन्)—प्रसीदतु भवती।

(इरावती रशनासंदानितचरणा व्रजत्येव)

सुन्दरि ! न शोभते प्रणयिजने निरपेक्षता।

१५४ इरावती—सठ अविस्ससणीअहिअओ सि। [शठ ! अविश्वसनीय हृदयोऽसि।]

---

१५३ इरावती रशनया संदानितौ चरणौ यस्याः सा (ब० व्री०) = तागड़ी से पैरों के उलझे रहने पर भी। रानी क्रोध मे काँपती हुई जा रही थी, इसलिए उसकी तागडी कमर से खिसक पडी थी और उसके चलने में बाधा डाल रही थी। व्रजति + एव=चली ही जाती है। प्रणयः अस्य अस्तीति प्रणय + इन् (तद्धि०) प्रणयी चासौ जनः (कर्मधा०) तस्मिन्। निर०=निर्गता अपेक्षा यस्याः सा इति निरपेक्षा (ब० व्री०) तस्या भावः निरपेक्ष + ता (तद्धि०) खयाल, पर्वाह न करना, उपेक्षा।

१५४ शठ (सम्बो०)= धूर्त ! शठ उस नायक को कहते है, जो दिल से तो किसी नायिका से प्रेम रखता हो, और औरों से नकली प्रेम करता हो। अवि० = न विश्वसनीयं हृदयं तस्य सः (ब० व्री०) जिसका हृदय विश्वास के योग्य नही।

---

१५३ राजा—(पीछे-पीछे चलता हुआ) आप प्रसन्न हों।

(इरावती पैरों में तागड़ी उलझी रहते चली ही जाती है)

सुन्दरी ! अपने प्रणयी की यों उपेक्षा करना ठीक नही होता।

१५४ इरावती—चल धूर्त कही का ! तेरे हृदय का कोई विश्वास नहीं।

१५५ राजा—

शठ इति मयि तावदस्तु ते परिचयवत्यवधीरणा प्रिये।
चरणपतितया न चण्डि तां विसृजसि मेखलयापि याचिता ॥२०॥

१.५ श०—**अन्वयः**—(हे) प्रिये ! मयि तावत् शठ इति ते परिचयवती अवधीरणा अस्तु, (हे) चण्डि ! चरणपतितया मेखलया अपि याचिता तां न विसृजसि। (अपरवक्त्रम्)

परिचयवती=नित्यप्रति की जानी हुई, अभ्यस्त, **अवधीरणा**=उपेक्षा, अनादर अर्थात् जो निरादर तुम मेरा कर रही हो, वह मेरे लिए कोई नई चीज नहीं, रात-दिन की भोगी हुई है। उसका मैं अच्छी तरह भुक्त-भोगी हूँ। परिचयवती के स्थान में सन्धि-च्छेद **परिचयवति + अवधीरणा** यों भी किया जा सकता है और वह सप्तम्यन्त बन कर 'मयि' का विशेषण बनेगा। उसका अर्थ होगा तुम्हारा नित्य-प्रति का परिचित तो मैं हूँ, उसका अनादर हो तो हो; क्योंकि कहा है कि—'अतिपरिचयादवज्ञा' (Familiarity breads contempt) परन्तु हे **चण्डि** ! हे क्रोधिनी, मानिनी। **चरणयोः पतितया** (स० तत्पु०) चरणों में गिरी हुई। **मेखलया अपि** = तागड़ी द्वारा। **याचिता** = √याच् + त (कर्मणि) प्रार्थना की जाती हुई भी। **ताम्** = **अवधीरणाम्** = अनादर को। **न विसृजसि** ? = क्यों नहीं त्यागती ? भाव यह कि मैं तो रात-दिन तुमसे अनादर पाता ही हूँ, परन्तु यह तागड़ी तो पहले-पहल तुम्हारे चरणों में पड़ कर तुमसे प्रार्थना कर रही है कि रुको, उसका तो अनादर न करो। 'मेखला' स्त्रीलिंग होने से यह व्यंग्य है कि पुरुष का अनादर करो, तो करो, किन्तु यह तुम्हारी

---

१५५ **राजा**—प्रिये ! मुझे 'धूर्त' कह कर जो तुम मेरा अनादर कर रही हो, कर लो, क्योंकि मैं तुम्हारे अनादरों से परिचित ही हूँ, किन्तु हे मानिनी ! तुम्हारे चरणों में पड़ कर यह जो तागड़ी तुमसे (न जाने की) प्रार्थना कर रही है, उसका तो अनादर न करो ॥२०॥

१५६ इरावती—इअं वि हदासा तुमं एव्व अणुसरदि। [इयमपि हताशा त्वामेवानुसरति।] (इति रशनामादाय राजानं ताडयितुमिच्छति,

१५७ राजा—वयस्य! एषा हि

वाष्पासारा हेमकाञ्चीगुणेन
श्रोणीविम्बादव्यपेक्षाच्युतेन।
चण्डी चण्डं हन्तुमभ्युद्यता मां
विद्युद्दाम्ना मेघराजीव विन्ध्यम् ॥२१॥

सखी तुम्हें चरणों में पड़ कर मना रही है, इसको तो मत ठुकराओ अथवा जड़ होकर भी तागड़ी को मुझ पर दया आ रही है और मेरी तरफ से तुम्हें मना कर रही है, पर तुम चेतन होकर भी दया नहीं करती?

१५६ इयम्+अपि हताशा=यह निगोड़ी भी। त्वाम्+एव+अनुसरति=तेरे ही पीछे-पीछे जा रही है अर्थात् तेरी तरह ही (धूर्त) है। रशनाम्+आदाय=तागड़ी को लेकर। ताडयितुम्+इच्छति=राजा पर मारना चाहती है। इससे सिद्ध होता है कि इरावती 'अधीरा' नायिका है, जबकि धारिणी 'धीरा' नायिका, देखिए—'खेदयेद्दयितं कोपात् अधीरा परुषाक्षरम्'।

१५७ वाष्पा०—अन्वयः—(वाष्पासारा) मेघराजी विद्युद्-दाम्ना विन्ध्यम् इव वाष्पासारा चण्डी श्रोणी-विम्बात् अव्यपेक्षा-च्युतेन हेम-काञ्चीगुणेन मां चण्डं हन्तुम् अभ्युद्यता। [शालिनी]

वाष्पासारा के दो अर्थ हैं (१) मेघराजी की तरफ वाष्प का अर्थ

---

१५६ इरावती—यह निगोड़ी भी तेरी तरह ही है।

(यह कह कर तागड़ी लेकर राजा को पीटना चाहती है)

१५७ राजा—मित्र! देखो—

आंसुओं की धार वहाती हुई यह चंडी प्रमाद-वश नितम्बों से खिसकी हुई अपनी सोने की करधनी से मुझे निर्दयता के साथ यों ताड़ने को उतारू हो

१५८ इरावती किं मं भूओ वि अवरद्धं करेसि। [किं मां भूयोऽप्यपराद्धां करोषि।] (इति रशनां हस्तेनावलम्बते)

जल है, वाष्पस्य आसारो यस्याम् तथाभूता (ब० व्रो०) (२) इरावती की तरफ वाष्प का अर्थ है आँसू, वाष्पाणाम् आसारो यस्यां सा। आसार धारासम्पात अर्थात् धारा-रूप में बहने को कहते हैं अर्थात् मूसलाधार पानी बरसाने वाली। मेघानां + राजी (ष० तत्पु०) = मेघों की पंक्ति। विद्युत् एव दाम तेन (कर्मधा०) बिजली-रूपी रज्जु से, बिजली की लकीर से। विन्ध्यम् इव = विध्याचल को जैसे। बाष्पासारा = आँसुओं की झड़ी लगाती हुई। चण्डी= रोषवाली इरावती। श्रोण्योः विम्बः तस्मात् (ष० तत्पु०) = नितम्ब-मण्डल से। न व्यपेक्षा अव्यपेक्षा (नञ् तत्पु०) तया = लापरवाही से, प्रमाद से, मानसिक सन्तुलन खोने से। च्युतेन = खिसकी, छुटी हुई। हेम्नः काञ्ची (ष० तत्पु०) एव गुणः तेन (कर्मधा०) सोने की तागड़ी की डोरी, शृंखला से। चण्डं यथा स्यात् तथा (क्रिया-वि०)=जोर से, कठोरता से, निर्दयता से। हन्तुम् = मारने को। अभ्युद्यता = तय्यार, उतारू हो गई है। क्रोध और अपमान में आँसू बहाती हुई रानी अपनी सोने की तागड़ी से राजा को यों मारने को उतारू हो गई जैसे कि मूसलाधार पानी बहाती हुई मेघ-माला बिजली की छड़ी से विन्ध्याचल पर्वत को मारा करती है। रानी की मेघ-राजी से, आँसुओं की पानी से, तागड़ी की बिजली से और राजा की विन्ध्याचल से तुलना की गई है। मेघराजी काली होती है, रानी भी क्रोध से हृदय में मलिन बनी हुई है। यही गुण-साम्य है।

१५८ भूयः + अपि + अपराद्धां करोषि? इसके दो तरह से अर्थ किए जा सकते हैं—(१) मुझे चिढ़ा कर (पीटने का) अपराध करने के लिए

गई है जैसे कि मूसलाधार पानी बहाती हुई मेघ-माला बिजली की शृंखला से विन्ध्याचल को ताड़ा करती है ॥ २१ ॥,

१५८ इरावती—तो फिर क्यों (भड़काकर) मुझसे अपराध करवा रहे हो? (करधनी को हाथ में थाम लेती है)

१५९—राजा—

अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि !
वर्धयसि विलसितं त्वं दासजनायात्र कुप्यसि च ॥ २२ ॥

विवश कर रहे हो ? (२) फिर भी मुझे ही अपराधी बना रहे हो अर्थात् मुझे ही दोष दे रहे हो ? अपना दोष स्वीकार ही नहीं करते ?

१५९ अप०—अन्वयः— (हे) कुटिल-केशि ! अपराधिनि मयि उद्यतं दण्डं किं संहरसि ? त्वं विलसितं वर्धयसि, दास-जनाय अत्र कुप्यसि च । (आर्या)

कुटि० = कुटिलाः केशा यस्याः सा तत्सम्बोधने (ब० व्री०) = हे घुँघराले बालों वाली । अप० मयि = मुझ अपराधी के प्रति । उद्यतम् = उठाया हुआ । दण्डम् = (तागड़ी मारने का) दण्ड, सजा । किं संहरसि = क्यों वापस ले लिया ? अर्थात् तुम मुझे मेरे अपराध के लिए दण्ड दे रही थी, अब क्यों रुक गई ? त्वं विलसितम्=विलास को, अपने नाज-नखरे को । वर्धयसि= बढ़ाती जा रही हो, और-और करती जा रही हो । दास-जनाय कुप्यसि च= और इस दास पर अप्रसन्न भी हो रही हो । राजा की रोमाञ्च-भरी आँखों में इरावती की ऐसी स्थिति—चेहरा क्रोध से लाल, चितवन कठोर, भौं टेढ़ी और हाथ में करधनी थामे हुए—राजा को और भी अधिक मनोमुग्धकारी लग रही थी । अपनी इस अनोखी छटा—अदो —से वह राजा को आकृष्ट भी कर रही थी, नूनम् + इदानीम् = साथ ही क्रोधानल भी बरसा रही थी । अनुज्ञातम्= अब रानी ने आज्ञा दे दी है अर्थात् ये मान गई हैं । दण्ड देते-देते जो रुक गई—इसका मतलब यही है कि मैंने मालविका के साथ जो रंगीनियाँ की हैं उन्हें इन्होंने क्षमा कर दिया है । यहाँ इसका दूसरा अर्थ भी हो सकता है—इस समय इस बात की अनुज्ञा है, अर्थात् पत्नी के पैरों पर गिर पड़ना—

---

१५९ राजा—हे घुंघराले बालों वाली ! तुम मुझ अपराधी को दण्ड देते-देते क्यों रुक गई ? तुम अपने हाव-भावों से सौंदर्य-छटा भी बढ़ाती जाती हो, साथ ही मुझ दास पर अप्रसन्न भी होती जाती हो ॥ २२ ॥

(आत्मगतम्) नूनमिदानीमनुज्ञातम् । (इति पादयोः पतति)

१६० इरावती—ण क्खु इमे मालविआए चलणा जे दे फरिसदोहअं पूरइस्संदि । [न खल्विमौ मालविकायाश्चरणौ यौ ते स्पर्शदोहदं पूरयिष्यतः ।]

(इति सचेटी निष्क्रान्ता)

१६१ विदूषकः—उट्ठेहि । किदप्पसादो सि । [उत्तिष्ठ । कृतप्रसादोऽसि ।]

१६२ राजा (उत्थाय इरावतीमपश्यन् ,—कथं गतैव प्रिया ।

यह कोई अच्छी बात नहीं है, परन्तु इस समय यह अधिक अप्रसन्न हुई बैठी है, इसलिए ऐसी स्थिति में उसको शान्त करने के लिए उसके पैर पकड़ लेना कोई बुरी बात नहीं; दाम्पत्य-शास्त्र में इस बात की आज्ञा है, देखिए --'साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षा-रसान्तरैः' । (दशरूपक)

१६० खलु + इमौ + मालविकायाः + चरणौ । स्पर्श एव दोहदः तम् (कर्मधा०) स्पर्श-रूपी साध, इच्छा । राजा की साध मालविका का स्पर्श था । देखिए इसी अंक को सं० १४१—"स्पर्शामृतेन पूरय दोहदमस्याप्यनन्यरुचेः ।" **पूरयिष्यतः**—पूरी कर देंगे । इरावती का क्रोध क्यों शान्त होना था । वह राजा की मक्कारी पर उसे और भी ताने कसती है यह कह कर कि ये मालविका के पैर नहीं हैं, इरावती के पैर हैं, जो तुम्हें आनन्द नहीं दे सकते ।

१६१ कृत० = कृतः प्रसादो यस्मिन् स (ब० व्री०) जिस पर कृपा कर

(मन ही मन अब तो मान ही गई है । (यह सोच कर पैरों में गिर पड़ता है)

१६० इरावती—ये मालविका के पैर नहीं हैं, जो छूने से तुम्हारी साध पूरी कर दें—(दासी सहित चल पड़ती है)

१६१ विदूषक—उठो, हो गई हैं तुम पर प्रसन्न ।

१६२ राजा—(उठ कर इरावती को न देखता हुआ) क्यों ? प्रियतमा क्या चली ही गई ?

१६३ विदूषकः—वअस्स ! दिट्ठिआ इमस्स अविणअस्स अप्पसण्णा गदा एसा। दाव सिग्घदरं अवक्कमाम जाव अंगारओ रासिं विअ सा अणुवक्कं ण करेइ [वयस्य ! दिष्ट्या अनेनाविनयेनाप्रसन्ना गतैषा । तावच्छीघ्रतरमपक्रमावः यावदङ्गारको राशिमिव अनु वक्रं प्रतिगमनं न करोति ।]

दी है, जिस पर प्रसन्न हो गई है। यह भी विदूषक का व्यंग्य ही समझिए, जिसका अर्थ उल्टा ही है अर्थात् वह क्यों प्रसन्न होगी, भले ही पैरों में पड़ जाओ।

१६३ दिष्ट्या (अव्यय) सौभाग्य की बात है कि अनेन + अविनयेन + अप्रसन्ना + गता + एषा = आपके इस अविनय, ढिठाई से अप्रसन्न हुई यह चली गई है। विदूषक का भाव यह है कि भला ही हुआ कि रानी अप्रसन्न ही चली गई। यदि वह पैरों में झुक पड़ जाने पर आप से प्रसन्न हो जाती, तो मालविका के साथ चल रहे आपके प्रेम-व्यापार में वह बाधक ही होती, क्योंकि वह तो फिर आपको ऐसा क्यों करने देती ? उसने आपके 'प्रणिपात' को ठुकरा कर अब उलटा अपराध कर लिया है। आप अपने इस अपमान को ही बहाना बना कर उससे सरोकार छोड़ दें और मालविका के साथ अब अपनी प्रेम-लीला बे-खटके जारी रखें। तावत् + शीघ्रतरम् + अपक्रमावः = तो अब यहाँ से शीघ्र खिसक पड़ते हैं। यावत् + अङ्गारकः + राशिम् + इव + अनु वक्रं = मंगल-ग्रह अपनी राशि में पीछे वक्रं प्रतिगमनम् = वक्र गति में वापसी। अङ्गारक मंगल-ग्रह को कहते हैं, क्योंकि वह अंगारे की तरह लाल होता है और युद्ध का देवता माना जाता है। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार मंगल-ग्रह ७६० दिनों में सूर्य के चारों तरफ अपने एक चक्कर में एक बार ६० दिनों के लिए वक्र होकर अपनी राशि में आ जाता है और अपनी इस वक्रगति में लोगों पर बुरा फल दिखाता है।

---

१६३ विदूषक—मित्र ! यह अपना सौभाग्य ही समझें कि ये आपकी ढिठाई से अप्रसन्न हो कर चली गई हैं। तो अब हम भी यहाँ से जल्दी-जल्दी भाग निकलें। वे कहीं फिर यहाँ मुड़ कर न आ जायें जैसे कि मंगल-ग्रह मुड़ कर अपनी राशि में आ जाया करता है।

१६४ राधा—अहो मनसिजवैषम्यम् ।

मन्ये प्रियाहृतमनास्तस्याः प्रणिपातलंघनं सेवाम् ।
एवं प्रणयवती सा मयि शक्यमुपेक्षितुं कुपिता ॥२३॥

विदूषक इरावती की तुलना मंगल से करता है अर्थात् क्रोध में लाल बनी झगड़ालू इरावती मुड़ कर (वक्र होकर) यदि कहीं फिर यहाँ वापस आ जायेगी, तो उसका फल राजा के लिए बुरा होगा, मालविका के साथ राजा की प्रेम-लीला में वह बाधक हो जायगी। इससे पता चलता है कि कालिदास के समय में ज्योतिष-ज्ञान लोगों को खूब था।

१६४ मनसि जायते इति **मनसिजः** (अलुक्-समास) **मनसिजस्य वैषम्यम्=विषमस्य भावः** = काम—प्रेम—की विषमता=उलटी चाल है। प्रेम के सम्बन्ध में यह आश्चर्य की ही बात है कि इरावती पैरों मे पड़ने पर भी राजा को ठुकरा देती है—जिसे प्रियतम का एक दौर्भाग्य ही समझना चाहिए था, परन्तु राजा उसे सौभाग्य समझ रहा है, क्योंकि इस अपमान से राजा का मालविका वाला काम बनता है।

मन्ये०—अन्वयः—प्रिया-हृत-मनाः (अहम्) तस्याः (इरावत्याः) प्रणिपात-लङ्घनं सेवां मन्ये; मयि प्रणयवति सा कुपिता एवं उपेक्षितुं शक्यम्। (आर्या)

प्रियया हृतं मनः यस्य सः (ब० व्री०)=जिसका हृदय प्रिया (मालविका) ने हर लिया है—ऐसा मैं। **तस्याः**=उसका इरावती का। **प्रणिपातस्य लङ्घनम्** (ष० तत्पु०)=पैरों पर पड़ जाने का ठुकराना अर्थात् इरावती द्वारा मेरा प्रणि-

---

१६४ **राजा**—आश्चर्य है कि प्रेम कितना उलटा होता है :—

जब कि मेरा हृदय प्रियतमा (मालविका) ने हर रखा है, तो पैरों में पड़ने पर भी इरावती ने जो मुझे ठुकराया—इसे मैं अपनी एक भलाई ही

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति तृतीयोऽङ्कः ॥

पात ठुकराया जाना। **सेवाम् मन्ये**=एक सेवा, भलाई ही समझता हूँ। **एवं मयि प्रणयवती**=इस प्रकार मुझसे प्रेम रखने वाली **सा**=इरावती, **कुपिता**=रूठी ही है। इसलिए **उपेक्षितुम् शक्यम्**=उसकी उपेक्षा की जा सकती है। राजा का अभिप्राय यह है कि मेरे हृदय में मालविका ने घर कर रखा है। अब वहाँ और के लिए स्थान नहीं है। दूसरे, इरावती ने मेरा बड़ा अपमान कर दिया है और रूठी ही बैठी है, इसलिए उसकी क्या पर्वाह ? यह सब मेरा बड़ा भाग ही है कि मेरा प्रेम-मार्ग साफ हो गया है; अब मैं मालविका के साथ गुलछर्रे उड़ाऊँगा।

॥ तीसरा अङ्क समाप्त ॥

मानता हूँ। ठीक है वह मुझसे प्रेम करती है, किन्तु जब वह रूठ ही बैठी है, तो मैं उसकी उपेक्षा कर सकता हूँ ॥२३॥

(सब चले जाते हैं)

॥ तीसरा अङ्क समाप्त ॥



चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति पर्युत्सुको राजा प्रतिहारी च)

१ राजा (आत्मगतम्)

तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामाशया लब्धमूलः
संप्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः ।

---

१ तामा० अन्वयः—श्रुति-पथ-गतां ताम् आश्रित्य आशया लब्ध-मूलः, नयन-विषयं सम्प्राप्तायां रूढ-राग-प्रवालः हस्तस्पर्शैः व्यक्त-रोमोद्गमत्वात् मुकुलित इव मनसिज-तरुः क्लान्तं मां फलस्य रसज्ञं कुर्यात् । (मन्दाक्रान्ता)

श्रुति० = श्रूयते अनया इति √श्रु (भ्वा० प० सुनना) + ति (करणे) तस्याः पन्थाः (प० तत्पु०) = तस्मिन् गतायाम् (स० तत्पु०) = कानों के मार्ग में गई हुई, सुनी हुई ताम्=मालविका को, अर्थात् जब मैंने पहले-पहल चित्र में देख कर उसके सम्बन्ध में कुमारी वसुलक्ष्मी से सुना कि यह मालविका है, देखिए अंक 1 संख्या २३—ततः कुमार्या वसुलक्ष्म्याऽऽख्यातम्—आर्या, एषा मालविकेति । आश्रित्य = आधार बनाकर आशया = आशा से, बद्ध०=बद्धं मूलं यस्य सः (ब० व्री०)=जिसकी जड़ जमी हुई है । जब से राजा ने मालविका के विषय में सुना, तभी से उसकी आशा ही राजा के प्रेम-तरु की जड़ बन गई । नयन०=नयनयोः विषयं (प० तत्पु०) संप्राप्तायाम्=जब वह आँखों का विषय बनी अर्थात् जब राजा ने मालविका को नृत्य-प्रतियोगिता में देखा, तभी रूढ०= रूढानि राग एव प्रवालानि यस्मिन् तथाभूतः (ब० व्री०) जिस प्रेम-तरु पर

चौथा अङ्क

(विरहाकुल राजा और प्रतिहारी का प्रवेश)

१ राजा—(मन ही मन)—

जिस प्रेम-वृक्ष की जड़ें तब पड़ी थीं, जब कि मैं उसका नाम सुन कर उसकी आशा करने लगा था, राग—प्रीति—के रूप में कोंपल तब फूट पड़ी

हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वात्
कुर्यात्क्लान्तं मनसिजतरुर्मां रसज्ञं फलस्य ॥१॥

(प्रकाशम्) सखे गौतम !

राग, प्रेम-रूपी कोंपलें फूट पड़ी थीं अर्थात् जब से राजा मालविका से प्रेम करने लगा था। हस्त०=हस्तस्य स्पर्शः=(ष० तत्पु०) हाथ के स्पर्श से, हाथ से, मालविका को छूने से, व्यक्त०=व्यक्ता रोम्णाम् उद्गमा यस्मिन् (ब० व्री०) व्यक्तरोमोद्गमस्य भावः (त्व तद्धि०) तस्मात्=रोमाञ्च हो जाने के कारण। मुकु०=मुकुलानि सञ्जातानि अस्य (इतच् तद्धि०) जिसमें कलियाँ फूट पड़ी थीं। अशोक पर पैर मारने के अपराध में राजा से क्षमा माँगती हुई मालविका जब राजा के पैरों पर गिर पड़ी, तब हाथ पकड़कर उठाते हुए राजा को जो रोमाञ्च हुआ वही जिस प्रेम-वृक्ष की मानों कलियाँ हों—ऐसा यह मनसिज एव तरुः (कर्मधा०) काम प्रेमरूपी वृक्ष। क्लान्तम्=थके हुए, विरहाकुल हुए माम् = मुझे, फलस्य रसं जानातीति रस + √ज्ञा (क्र्या० उ० जानना) + अ (कर्तरि)=फल का रस जानने वाला, रस लेने वाला। कुर्यात्=बनाये। राजा का मालविका के प्रति जो प्रेम था उसे एक वृक्ष-रूप में चित्रित किया गया है। पहले तो उसकी जड़ पड़ी और वह बनी मालविका के लिए राजा की आशा जबकि राजा ने उसके विषय में सुना, फिर कोंपलें फूटीं और वह बनी राजा का राग जबकि उसने मालविका को संगीतशाला में देखा। फिर वृक्ष में कलियाँ फूटीं और वह बनीं रोमाञ्च, जो राजा को पैरों में पड़ी हुई उसे हाथ पकड़ कर उठाने में हुआ। अब वृक्ष पर फल लगना बाकी रहा हुआ है। वह फल है मिलन—जिसका स्वाद लेने को राजा कामना कर रहा है।

थीं, जब मैंने उसे अपने आँखों से देखा और कलियाँ-सी तब खिल गई थीं, जब उसे हाथों से छूकर उठाते हुए मुझे रोमाञ्च हुआ था, वह (वृक्ष) अब मुझे अपना फल चखने दे, जिसके लिए मैं आकुल हुआ बैठा हूँ ॥१॥

(प्रकट) मित्र गौतम !

२ प्रतीहारी—जेदु भट्टा। असण्णिहिदो गोदमो। [जयतु भर्ता। असंनिहितो गौतमः।]

३ राजा—(आत्मगतम्) —आः मालविकावृत्तान्तज्ञानाय प्रेषितः।

४ विदूषकः—(प्रविश्य) वढढदु भवं [वर्धतां भवान्।]

५ राजा—जयसेने! जानीहि तावत् क्व देवी धारिणी कथं वा सरुजचरणत्वाद्विनोद्यत इति।

---

२ सखे गौतम!—देखिए राजा विरहाकुलता की अवस्था में यह भी भूल बैठा है कि गौतम को मैंने ही मालविका का हाल जानने के लिए भेज रखा है। मालविका के भी ऐसे ही हाल के लिए देखिये अङ्क III सं० ३१—"कुत्र नु खलु प्रस्थितास्मि"। प्रेम में सुध-बुध खोई जाती है।

३ आः = याद करने में आने वाला अव्यय। मालविकाया वृत्तान्तः तस्य ज्ञानाय (ष० तत्पु०)=मालविका के हाल-समाचार का पता लगाने।

४ सरुज० = रुजया सहितः सरुजः (ब० व्री०) सरुजः चरणौ यस्याः सा (ब० व्री०) तस्या भावः तत्त्वम् तस्मात् = पैर में चोट और दर्द होने के कारण। रानी झूले से गिर पड़ी थी। विनोद्यते = वि + √नुद् (तु० प०) कर्मवाच्य = दासियों द्वारा बहलाई जा रही हैं।

५ राजा का जयसेना को रानी का वृत्तान्त पता लगाने भेजना तो बहाना

---

२ प्रतीहारी—जय-जय महाराज! गौतम यहाँ नहीं है।

३ राजा—(मन ही मन) हाँ, याद आ गई। उसे तो मैंने मालविका का हाल-समाचार जानने के लिए भेज रखा है।

४ विदूषक—(आकर) महाराज की वृद्धि हो।

५-राजा—जयसेना! तुम जाओ और इस बात का पता लगाओ कि रानी धारिणी के पैर में दर्द होने के कारण कहाँ और किस तरह जी बहला रही हैं?

६ प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। [यद्देव आज्ञापयति।]

(इति निष्क्रान्ता)

७ राजा—गौतम ! को वृत्तान्तस्तत्रभवत्यास्ते सख्याः ?

८ विदूषकः—जो विडालगहिदाए परहुदिआए। [यो बिडालगृहीतायाः परभृतिकायाः।]

मात्र ही है। वास्तव में गौतम आ पहुँचा है जिसके साथ गुप्त बातें होनी हैं, इसलिए राजा ने प्रतिहारी की उपस्थिति ठीक नहीं समझी।

७ कः वृत्तान्तः तत्रभवत्याः ते सख्याः = तुम्हारी सखी मालविकाजी का क्या हाल ?

८ विडालेन गृहीता तस्याः (तृ० त०) = बिल्ली द्वारा पकड़ी हुई। परैः भृता परभृता एव परभृतिका तस्याः=कोयल का। कोयल को परभृतिका' 'परपुष्टा' इसलिए कहते हैं कि कोयल पालने के लिए अपने बच्चों को कौए के घोंसले में डाल देती है। काले होने के कारण कौआ उसे अपना ही बच्चा समझ कर पालता है। बड़ा होकर कोयल का बच्चा उड़ कर भाग जाता है। देखिए शकुन्तला ५।२२ "प्रागन्तरिक्ष-गमनात् स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति"। मालविका को वही यातना भोगनी पड़ रही है, जो बिल्ली द्वारा पकड़ी कोयल को। यहाँ रानी धारिणी की बिडाली से और मालविका की कोयल से तुलना की गई है। तात्पर्य यह है कि धारिणी मालविका पर बड़ी निर्दयता का व्यवहार कर रही है।

---

६ प्रतीहारी—जैसी महाराज की आज्ञा (चली जाती है।)

७ राजा—गौतम ! तुम्हारी सखी मालविकाजी का क्या हाल-समाचार है ?

८ विदूषक—जो हाल बिल्ली द्वारा पकड़ी हुई कोयल का होता है।

९ राजा (सविषादम्)—कथमिव ?

१० विदूषकः—सा खु तवस्सिणी ताए पिङ्गलच्छीए सारभण्डभूमिगेहे मिच्चुमुहे विअ णिक्खित्ता। [सा खलु तपस्विनी तया पिङ्गलाक्ष्या सारभाण्डभूमिगृहे मृत्युमुख इव निक्षिप्ता ।

११ राजा—ननु मत्सम्पर्कमुपलभ्य ।

---

१० तपस्विनी = बेचारी (मालविका) पिङ्गला=पिंगले अक्षिणी यस्याः तथाभूतया = पीली आँखों वाली । धारिणी भी राजा और मालविका के मध्य चल रहे रोमान्स से बड़ी कुपित हुई पड़ी है । सार० = साराणां भाण्डानां भू-गृहं तस्मिन् (ष० तत्पु०)=भाण्ड कीमती गहने और मूल-धन को बोलते हैं और सार श्रेष्ठ को । कीमती पदार्थों को रखने के लिए भू-गृह, भूमि के नीचे घर अर्थात् तहखाना अथवा तलघर बने रहते थे । मृत्योः मुखं तस्मिन् इव (ष० तत्पु० =जैसे मौत का मुँह हो । निक्षिप्ता = डाल रखी गयी है; कैद कर दी है । धारिणी ने मालविका और उसकी सखी बकुलावलिका दोनों को दण्ड के रूप में तहखाने में कैद कर रखा है, जो हवा और प्रकाश न आने के कारण ऐसा लगता था मानो मृत्यु का मुँह—जबड़ा—हो । जैसे मौत के जबड़े से निकल आना बड़ा कठिन होता है, उसी तरह बेचारी दोनों लड़कियों का वहाँ से बच आना बड़ा असम्भव है ।

११ मम सम्पर्कः तम् (ष० तत्पु०) उपलभ्य = मेरे साथ उसका सम्पर्क—प्रेम-सम्बन्ध—है, यह जान कर ही कैद कर रखा है क्या ?

---

९ राजा—(दुःख के साथ) वह किस तरह ?

१० विदूषक—बेचारी मालविका को उस पीली आँखों वाली (रानी) ने भण्डार वाली भूगर्भ की कोठरी में यों धकेल दिया जैसे कि कोई काल के मुँह में धकेल देता हो ।

११ राजा—क्या मेरे साथ उसका (प्रेम) सम्बन्ध जान कर ?

१२ विदूषकः—अह इं । [अथ किम् ?]

१३ राजा—गौतम ! क एवं विमुखोऽस्माकं येन चण्डीकृता देवी ।

१४ विदूषकः—सुणादु भवं । परिव्वाजिआ मे कहेदि । कहिओ किल तत्तहोदी इरावती रुअक्कन्त चलणं देवि सुहपुच्छिआ आअदा । [शृणोतु भवान् । परिव्राजिका मे कथयति । ह्यः किल तत्रभवती इरावती रुजाक्रान्तचरणां देवीं सुखपृच्छयाऽऽगता ।]

१५ राजा—ततस्ततः ।

१६ विदूषकः – तदो देवीए सा पुच्छिदा किं उण लक्खिदो वल्लह-जणोत्ति । तदो ताए उत्तं मदो वो उवआरो जं दे परिअणस्स वल्लहत्तणं जाणन्ती वि पुच्छसित्ति । [ततो देव्या सा पृष्टा किं पुनर्लक्षितो वल्लभजन इति । ततस्तयोक्तं मन्दो व उपचारो यत्तव परिजनस्य वल्लभत्वं जानन्त्यपि पृच्छसीति ।]

---

१३ विमुखः—विरोधी, वैरी । चण्डी०=अचण्डी चण्डी सम्पद्यमाना कृता चण्ड + च्वि + √कृ+त+आ । भड़का दी गई, नाराज कर दी गई ।

१४ रुजा आक्रान्तः चरणः यस्याः तथाभूताम् ब० व्री०)=जिसके पैर पर चोट आई हुई है— ऐसी को । सुखस्य पृच्छा तया (ष० तत्पु०) = कुशल पूछने के निमित्त ।

१६ लक्षितः=देखा, भेंट हुई ? वल्लभ-जनः = प्रियतम अर्थात्

---

१२ विदूषकः—और क्या ?

१३ राजा—गौतम ! ऐसा हमारा विरोधी कौन है, जिसने रानी को इस तरह कुपित कर दिया है ?

१४ विदूषक—सुनिए, परिव्राजिकाजी बोल रही थीं कि कल इरावतीजी रानी धारिणी के पैर की चोट का कुशल-समाचार पूछने के लिए आई थीं ।

१५ राजा—हाँ, फिर ?

१६ विदूषक—तब महारानी ने उन्हें पूछा— क्या प्रियतम से भेंट हुई ?

१७ राजा—निर्भेदादृतेऽपि मालविकायामयमुपन्यासः शङ्कयति। ततस्ततः।

राजा। धारिणी को पता ही था कि राजा का प्रमदवन में इरावती के साथ झूला झूलने का कार्यक्रम था। वह यह भी जानती थी कि राजा आजकल इरावती के प्रियतम बने हुए हैं अर्थात् राजा के हृदय में धारिणी का स्थान इरावती ने ले रखा है। इसलिए धारिणी का यह प्रश्न कि प्रियतम से भेंट हो गई थी? एक छिपा हुआ ताना ही था। इरावती भी वैसा ही उत्तर देती है—मन्दः+वः + उपचारः=यह पूछना आपका एक मन्द—सूखी—उपचारः= शिष्टता है अर्थात् प्रियतम से भेंट होने का प्रश्न एक कोरी शिष्टता-मात्र है। वास्तव में अब महाराज मेरे प्रियतम नहीं रहे, वे तो मालविका के प्रियतम बने हुए हैं। मेरे प्रियतम बता कर क्यों मेरा उपहास करती हो? साथ ही इरावती धारिणी को यह भी जता देती है कि वे अब मेरे ही नहीं, आपके भी प्रियतम नहीं रहे; नव-युवती पत्नी के प्रियतम हैं। इरावती यह समझ बैठी है कि धारिणी को इस बात का पता है, नहीं तो अशोक के दोहद के लिए मुझे न भेज कर एक दासी को क्यों भेजती? देखिए दोनों के वार्तालाप में छिपी कितनी सौतिया-डाह व्यक्त हो रही है।

१७ निर्भेदात् + ऋते + अपि = निर्भेद खोलने को, स्पष्ट करने को कहते हैं, ऋत (अव्यय) बिना के अर्थ में आता है और इसके साथ पञ्चमी होती है=बिना (नाम) स्पष्ट किए भी। मालविकायाम् + अयम् + उपन्यासः = मालविका के प्रति यह वाक्य-प्रयोग, बात शङ्क० =√शक् (स्वा० उ० सकना) + णिच् + लट् = शंका कर देती है अर्थात् यद्यपि इरावती ने मालविका का

इस पर वे बोलीं—'यह तो आपके पूछने की कोरी शिष्टता है कि स्वामी को अपनी दासी का प्रियतम बना जानती हुई भी पूछ रही हैं'।

१७ राजा—नाम स्पष्ट न करने पर भी उनका संकेत मालविका की ओर है—यह शंका पैदा हो रही है। हाँ, फिर क्या हुआ?

१८ विदूषकः—तदा ताए अणु न्धिज्जमाणाए भवदो अविणअं अन्तरेण परिगहिदत्था किदा देवी। [ततस्तयानुबध्यमानया भवतोऽविनय-मन्तरेण परिगृहीतार्था कृता देवी।]

१९ राजा—अहो दीर्घरोषता तत्रभवत्याः। अतः परं कथय।

२० विदूषकः—किं अदो वरं ! मालविआ बउलावलिआ अ णिअल-वदीओ अदिट्ठसुज्जपादं पादालवासं णाअकण्णआओ विअ अणुहोन्ति। [किमतः परम् ! मालविका बकुलावलिका च निगडवत्यावदृष्टसूर्यपादं पातालवासं नागकन्यके इवानुभवतः।]

नाम तो नहीं लिया, दासी ही कहा, परन्तु उसकी यह बात मालविका को लक्ष्य करती है, इसकी शंका पैदा कर देती है।

१८ ततः + तया + ानु + √बन्ध् (क्या० पर० बाँधना) कर्मवा० में शानच् = रानी धारिणी द्वारा अनुबन्ध, अनुरोध, आग्रह किये जाने पर। भवतः + अविनयम् + अन्तरेण। यहाँ 'अन्तरेण' का अर्थ बीच, मध्य है। इरावती ने आपके अविनय, धूर्तता, शरारत के बीच अर्थात् विषय में देवी धारिणी परि०=परिगृहीतः अर्थः यया तथाभूता (ब० व्री०) जिसे पता लग गया है—ऐसी कृता अर्थात् इरावती ने उसको आपकी सारी बात बता दी, आपकी पोल खोल दी।

१९ दीर्घः रोषो यस्याः सा (ब० व्री०) तस्या भावः दीर्घरोषता = बड़ी नाराजी। राजा को आशा नहीं थी कि पैरों में पड़ जाने पर भी इरावती मेरे प्रति इतना रोष करेगी।

२० निगडवत्यौ = निगडः अस्ति अनयोः इति = निगड + वत् + ई

---

१८ विदूषक—तब महारानी के आग्रह करने पर इरावतीजी ने उनके आगे आपकी पोल खोल दी।

१९ राजा—आश्चर्य है कि वे मुझ पर कितनी रूठी हुई हैं। हाँ, इसके आगे बोलो।

२० विदूषक—इसके आगे क्या ? मालविका और बकुलावलिका पैरों में

२१ राजा—कष्टं कष्टम् ।

मधुररवा परभृतिका भ्रमरी च प्रफुल्लिताम्रसंगिन्यौ ॥
कोटरमकालवृष्ट्या प्रबलपुरोवाततया गमिते ॥ २ ॥

(स्त्री०) प्र० द्वि० निगल अथवा निगड़ बेड़ी को कहते हैं। **न दृष्टः सूर्यस्य पादः यत्र** (ब० व्री०) = जहाँ सूर्य की किरण भी नहीं दिखलाई पड़ती—ऐसा **पाताले वास**. (स० तत्पु०) = पाताल-वास। **नागानां कन्ये** (ष० तत्पु०) नागों की दो कन्याओं की तरह। **अनुभवतः** = भुगत रही हैं। विदूषक परिहास में तहखाने को पाताल बना बैठा है और मालविका एवं बकुलावलिका की तुलना पाताल में रहने वाली दो नाग-कन्याओं से कर रहा है। पाताल को नागलोक भी कहते हैं। नाग-कन्याएँ अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हैं और वे मानवों से भी विवाह कर लेती थीं। वास्तव में नाग-जाति कोई मनुष्येतर नहीं थी। ये सीथिक जाति के लोग थे, जो भारत के कुछ भागों में रहा करते थे। नागपूजक होने के कारण ही इन्हें नाग कहने लगे।

२१ **मधु०—अन्वयः**—प्रफुल्लिताम्रसङ्गिन्यौ मधुर-रवा परभृतिका भ्रमरी च प्रबल-पुरोवातया अकाल-वृष्ट्या कोटरं गमिते। [आर्या]

प्रफुल्लि०-प्रफुल्लितः यः आम्रः तस्मिन् सङ्गिन्यौ=जिस आम पर बौर आई हुई है उस पर बैठी हुई। **मधुर०=मधुरः रवो यस्याः सा** (ब० व्री०)= मीठा बोलने वाली। **परिभृतिका**=कोयल और **भ्रमरी=भौंरी**। **प्रबल०-प्रकृष्टं बलं यस्य सः** (ब० व्री०) **प्रबलश्चासौ पुरोवातः यस्यां सा** (ब० व्री०) **तथाभूतया** = पहले चलने वाले तूफान के साथ। **न कालः यस्याः सा**

बेड़ी पहने नागकन्याओं की तरह ऐसे पाताल में रह रही हैं जहाँ सूर्य की किरण तक नहीं दिखलाई पड़ती।

२१ **राजा**—बड़े दुःख की बात है कि—

मञ्जरियों से विकसित आम के वृक्ष पर बैठने वाली मधुर-कण्ठी कोयल और भ्रमरी को बड़ी आँधी साथ में लिये हुए असमय की वर्षा ने पेड़ के खोखले में बन्द कर दिया है ॥ २ ॥

वयस्य ! अप्यत्र कस्यचिदुपक्रमस्य गतिः स्यात् ।

२२ विदूषकः—कहं भविस्सदि । जं सारभण्डे वावुदा माहविआ देवीए संदिट्ठा । कहं अङ्गुलीअअमुद्दं अदेक्खिअ ण मोतव्वा तुए इअं हदासा मालविआ अत्ति । [कथं भविष्यति । यत्सारभाण्डे व्यापृता माधविका देव्या संदिष्टा । ममाङ्गुलीयकमुद्रामदृष्ट्वा न मोक्तव्या त्वयेयं हताशा मालविका• बकुलावलिका चेति ।

(ब० व्री०) अकाला चासौ वृष्टिः=असमय की वर्षा द्वारा । कोटरम् पेड़ के खोखले में । गमिते=√गम्+णिच्+त+स्त्री०=भेज दी गई, बन्द कर दी गई हैं । राजा अन्योक्ति द्वारा मालविका और बकुलावलिका का चित्रण कर रहा है । राजा के साथ विकसित होता हुआ मालविका का प्रेम बना विकसित आम का वृक्ष, मधुर बोलने वाली मालविका बनी कोयल और उसकी देख-रेख करने वाली बकुलावली बनी भ्रमरी । कुपित हुई इरावती आँधी बनकर जिसके कारण कोयल और भ्रमरी को भूगर्भ-गृह के रूप में पेड़ के खोखले के भीतर बन्द होना पड़ा । यह बड़ी मार्मिक अन्योक्ति है । अपि+अत्र अस्यचिन्+उपक्रमस्य गतिः=आरम्भ करने की कोई चाल है? अर्थात् आरम्भ करने योग्य कोई उपाय हो सकता है ?

२२ व्यापृता=नियुक्त । मम+अङ्गुलीयकस्य मुद्रा ताम् (ष० तत्पु०) अदृष्ट्वा=न देखकर, बिना देखे । न मोक्तव्या=√मुच् + तव्य + स्त्री=न छोड़नी चाहिए । हताशा शब्द के लिए देखिए अंक III—टिप्पण १०२ । विदूषक सारी बात स्पष्ट कर देता है कि मालविका को छुड़ाने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि उस पर कठोर निगरानी की जा रही है और जब तक स्वयं रानी की अँगूठी की छाप के साथ आज्ञा नहीं आती, तब तक वह छूट ही नहीं सकती है ।

मित्र ! है कोई उपाय जो यहाँ काम बना दे ?

२२ विदूषक—उपाय क्या हो सकता है ? भू-गर्भ के भण्डार (के पहरे) पर रानी ने माधविका को बिठा रखा है और उसे आज्ञा दे रखी है

२३ राजा (निःश्वस्य सपरामर्शम्) —सखे ! किमत्र प्रतिकर्तव्यम् ।

२४ विदूषकः—(विचिन्त्य)—अत्थि एत्थ उवाओ । [अस्त्यत्रोपायः ।]

२५ राजा—क इव ।

२६ विदूषकः—(सदृष्टिक्षेपम्)—को वि अदिट्ठो सुणादि । कण्णे दे कहेमि । (उपश्लिष्य कर्णे) एव्वं विअ । [कोऽप्यदृष्टः श्रृणोति । कर्णे ते कथयामि । (उपश्लिष्य कर्णे) एवमिव ।]

---

२३ परामर्शेन सहितं यथा स्यात् तथा=सोच कर । किम्+अत्र+प्रति+√कृ+तव्य = इसका क्या प्रतीकार—इलाज—करना चाहिए ?

२४ अस्ति+अत्र+उपायः=इसका उपाय है ।

२६ दृष्टेः क्षेपः (ष० तत्पु०) तेन सहितं यथा स्यात् तथा (क्रिया-वि०)=(इधर-उधर) निगाह डालते हुए । विदूषक को उपाय सूझ गया है, पर वह उसे गुप्त रखने के लिए सावधानी बरत रहा है और चारों ओर देखता है कि कोई सुन या जान तो न ले । कः+अपि+अदृष्टः=कोई न देखने में आता हुआ अर्थात् छिपा हुआ सुन ले । उपश्लि०=उप+√श्लिष्+ल्यप्=कानों से सट कर । विदूषक ने अपने उपाय को गुप्त रखने का प्रकार प्रथम अंक में भी अपनाया है । उसका उपाय क्रिया-रूप में ही प्रकट होता है ।

कि बिना मेरी अंगूठी की छाप देखे तू मुई मालविका और बकुलावलिका को मत छोड़ना ।

२३ राजा—(गहरी साँस खींच कर और सोचते हुए) मित्र ! इस मामले में हमें क्या उपाय करना चाहिए ?

२४ विदूषक—(सोच कर) इसका एक उपाय है ।

२५ राजा—किस तरह का ?

२६ विदूषक- (चारों तरफ निगाह डालते हुए) कोई छिपा-छिपा सुन लेगा । आपके कान में कहता हूं । (कानों के पास लग कर) ऐसा-ऐसा ।

२७ राजा—(सहर्षम्) साधु प्रयुज्यतां सिद्धये ।

२८ प्रतीहारी (प्रविश्य)—देव पवादसअणे देवी णिसण्णा रत्तचन्दण-धारिणा परिअणहत्थगदेण चलणेण भअवदीए कहाहिं विणोदिअमाणा चिट्ठइ । [देव ! प्रवातशयने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनहस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति ।]

२९ राजा—अस्मत्प्रवेशयोग्योऽयमवसरः ।

---

२७ प्रयु०=प्र + युज् – (कर्मवा०) + लोट्=काम में लाया जाय । सिद्धये=सफलता के लिए ।

२८ प्रकृष्टः वातः यस्मिन् (ब० ब्री०) तथाभूतं स्थानम तत्र शयनं तस्मिन् = खुले हवादार कमरे में पलंग पर । निषण्णा = बैठी हुई । रक्तं चन्दनं धारयतीति (उपपद तत्पु०)=लाल चन्दन का लेप किए हुए । चोट पर लाल चन्दन का लेप शान्ति पहुँचाता है । परिजनस्य हस्ते गतेन = दासी के हाथ में रखे हुए । चरणेन = यहाँ 'उपलक्षणे तृतीया' है अर्थात् ऐसे चरण से (उपलक्षित = युक्त) । रानी का पैर दासी के हाथ में सँभाला हुआ था । भगवत्या = परिव्राजिका के द्वारा । विनो० = वि + नुद् + णिच् + शानच् (कर्मणि) बहलाई जाती हुई अर्थात् परिव्राजिका कथा सुना-सुना कर रानी का मन बहला रही थी ।

२९ अस्माक प्रवेशः तस्य योग्यः+अयम्+अवसरः=राजा भी रानी की कुशल-मंगल पूछने के लिए जा रहा है ।

---

२७ राजा—(प्रसन्नता के साथ) हाँ ठीक है । सफलता के लिए इसे काम में लाओ ।

२८ प्रतीहारी—(प्रवेश करके) महाराज ! महारानी हवादार कमरे में पलंग पर बैठी हुई हैं; पैर पर लाल चन्दन का लेप कर रखा है और उसे एक दासी अपने हाथ में थामे हुए है तथा परिव्राजिकाजी कथाओं से उनका जी बहला रही हैं ।

२९ राजा—हमारे चलने के लिए यही उचित अवसर है ।

३० विदूषकः—ता गच्छदु भवं। अहं वि देवि पेक्खिदुं अरित्त पाणी भविस्सं। [तत् गच्छतु भवान्। अहमपि देवीं द्रष्टुमरिक्तपाणिर्भविष्यामि।]

३१ राजा—जयसेनायास्तावत्संवेद्य गच्छ।

३२ विदूषकः—तह (कर्णे) भादि एव्वं विअ। [तथा (कर्णे) भवति एवमिव।] (इति निष्क्रान्तः)

३३ राजा—जयसेने ! तेन हि प्रवातशयनमार्गमादेशय।

३४ प्रतीहारी—इदो इदो देवो। [इत इतो देवः]

---

३० अहम् + अपि देवीं द्रष्टुं न रिक्तः पाणिः यस्य सः (ब० व्री०)= बिना खाली हाथ। क्योंकि विदूषक ब्राह्मण है, अतः उसके लिए कुछ फल आदि भेंट लेकर ही जाने का शास्त्र में विधान है, देखिए अंक III टिप्पणी सं० १।

३१ संवेद्य = सम् + विद् + णिच् + ल्यप् = अच्छी तरह समझा कर, सूचित करके। जयसेना को मालविका को छुड़ाने के षड्यन्त्र में मुख्य भाग लेना है, इसलिए उसे जो-जो इस सम्बन्ध में करना है, उस-उस का पूरा निर्देश आवश्यक है और इस तरह उसे अपने पूरे विश्वास में लेना है।

३४ विभवतः = अपने-अपने पदानुसार स्थानों में बैठे हुए परिवारः = दासीगण।

---

३० विदूषक—हाँ तो चलिए आप। मैं भी महारानी को देखने के लिए हाथ में कुछ (पुष्पादि) ले लूँ।

३१ राजा—जयसेना को सब कुछ समझा-बुझा कर जाना।

३२ विदूषक—अच्छा। (जयसेना के कान में) अजी ! इस तरह, इस तरह।

(चल पड़ता है)

३३ राजा—जयसेना ! तो चलो, हवादार कमरे का मार्ग दिखाओ।

३४ प्रतीहारी—इधर इधर महाराज !

(ततः प्रविशति शयनस्था देवी परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः)

३५ **देवी**—भअवदि अदिरमणीअं कहावत्थु । तदो तदो । [भगवति ! अतिरमणीयं कथावस्तु । ततस्ततः ।]

३६ **परिव्राजिका** (सदृष्टिक्षेपम्)—अतः परं पुनः कथयिष्यामि । तत्रभवानीश्वरः संप्राप्तः ।

३७ **देवी**—अम्मो भट्टा । [अहो भर्त्ता] (अभ्युत्थातुमिच्छति)

३८ **राजा**—अलमलमुपचारयन्त्रणया ।

---

३५ कथायाः वस्तु = कथानक, कथा का विषय ।

३६ **सदृष्टिक्षेपम्** = दृष्टेः निक्षेपः तेन सह, निगाह डाल कर । परिव्राजिका महाराज को आते देख लेती है और इस कारण अपनी कथा को समाप्त करने लगती है । **ईश्वरः** = महाराज ।

३७ **अभि + उत् + स्था + तुम्** = आदर के लिए उठना चाहती है ।

३८ **अलम् + अलम् + उपचारस्य + यन्त्रणा** = (कष्ट)-तया (ष० तत्पु०) = उपचार शिष्टाचार (Courtesy) को कहते हैं । अलम् अव्यय यहाँ प्रतिषेध में है । पुरानी प्रथा के अनुसार पति के आने पर प्रत्येक पत्नी को उठ कर पति के प्रति आदर प्रकट करने का शिष्टाचार है ।

(शय्या पर बैठी हुई रानी, परिव्राजिका एवं यथास्थान स्थित दासियों का प्रवेश)

३५ **रानी**—भगवती ! बड़ी सुन्दर कहानी है । हाँ, इसके आगे ?

३६ **परिव्राजिका**—(सामने दृष्टि डालकर) इसके आगे फिर कहूँगी । महाराज पधारे हैं ।

३७ **रानी**—अरे, स्वामी ! (उठना चाहती है)

३८ **राजा**—बस, बस, शिष्टाचार का कष्ट मत करो ।

अनुचितनूपुरविरहं नार्हसि तपनीयपीठिकालम्बम् ।
चरणं रुजापरीतं कलभाषिणि ! मां च पीडयितुम् ॥ ३ ॥

३९ देवी—जेदु अज्जउत्तो । [जयत्वार्यपुत्रः ।]

४० परिव्राजिका—विजयतां देवः ।

अनु०—अन्वयः—(हे) कलभाषिणि ! अनुचित-नूपुर-विरहं तपनीयपीठिकालम्बं रुजापरीतं चरणं मां च पीडयितुं (त्वं) न अर्हसि । (आर्या)

कलं भाषणम् अस्या अस्तीति अथवा कलं भाषितुं शीलं यस्याः तत्सम्बुद्धौ=ओ मधुर बोलने वाली ! अनुचितः नूपुरस्य विरहो यस्मात् तथाभूतम् (ब० व्री० =जिस पर पायजेब का अभाव ठीक नहीं लग रहा है—ऐसे, रुजया परीतः तम् (तृ० तत्पु०)=जिस पर रुजा=चोट लगी हुई है, अर्थात् चोट-लगे। तपनीयस्य पीठिका अवलम्बो यस्य तथाभूतम् (ब० व्री०)=सोने की चौकी पर रखे हुए, चरणम् = पैर को, साथ ही मां च=मुझको भी पीडयितुम् न अर्हसि = कष्ट देने योग्य नहीं हो । राजा रानी की वेदना-पूर्ण अवस्था को देख रहा है। रानी ने पैर का नूपुर उतार रखा है और उसे सोने की चौकी पर रखा हुआ है । इसलिए वह रानी को उठ कर आदर-सत्कार करने से रोक देता है ।

३९ जयतु + आर्यपुत्रः ।

४१ प्रणम्य + उपविश्य=प्रणाम करके और बैठ कर। सोढुं योग्या सह + य=सहने योग्य वेदना । क्या वेदना कुछ सहने योग्य हो गई अर्थात् वेदना कुछ कम हुई ?

तुम चोट खाये हुए अपने इस पैर को—जिस पर नूपुर का अभाव ठीक नहीं लग रहा है और जो सोने की चौकी पर रखा हुआ है—कष्ट देकर मुझे भी कष्ट न दो ॥ ३ ॥

३९ रानी—आर्यपुत्र की जय हो ।

४० परिव्राजिका—महाराज की जय हो ।

४१ **राजा** (परिव्राजिकां प्रणम्योपविश्य)—देवि ! अपि सह्या ते वेदना ।

४२ **देवी**—अत्थि मे विसेसो । [अस्ति मे विशेषः ।]

(ततः प्रविशति यज्ञोपवीतबद्धांगुष्ठः संभ्रान्तो विदूषकः)

४३ **विदूषकः**—परित्ताअदु परित्ताअदु । सप्पेण मिच्चुणा दट्ठोम्हि । [परित्रायतां परित्रायतां । सर्पेण मृत्युना दष्टोऽस्मि ।] (सर्वे विषण्णाः)

४४ **राजा**—कष्टं कष्टम् । क्व भवान् परिभ्रान्तः ।

४५ **विदूषकः** देविं देक्खिस्सं ति आआरपुप्फग्गहणकालणादो

---

४२ **विशेषः**=फर्क है, हाँ, पीड़ा कुछ कम है । यज्ञोपवीतेन बद्धः अङ्गुष्ठो यस्य तथाभूतः (ब० व्री०)=अगूठे को यज्ञोपवीत द्वारा बाँधे हुए । विदूषक का षड्यन्त्र आरम्भ हो गया है । वह साँप काटने का बहाना बना कर घबराया हुआ आया है । विष को सारे शरीर में फैलने से रोकने के लिए उसने जिस हाथ के अँगूठे को साँप ने काटा बतलाता है उसे अपने जनेऊ से कस कर बाँध दिया है ।

४३ **सर्पेण मृत्युना**=साँप को मृत्यु बना दिया है अर्थात् साँप नहीं, बल्कि मेरी मृत्यु आई है । विषैला साँप मौत ही होता है, उससे कोई नहीं बच सकता है । **विषण्णाः**=दुःखित, दुःखी ।

४५ **द्रक्ष्यामि+इति आचारार्थं पुष्पम्** (च० तत्पु०) तस्य ग्रहणं तस्य

---

४१ **राजा**—(परिव्राजिका को प्रणाम करके बैठ कर) महारानी ! कहो क्या पीड़ा कुछ कम है ?

४२ **रानी**—हाँ, कुछ कम है ।

(यज्ञोपवीत से अँगूठे को बाँधे और घबराये हुए विदूपक का प्रवेश)

४३ **विदूषक**—बचाओ, बचाओ । साँप मौत बन कर मुझे काट गया है ।

(सब के सब दुःखी हो जाते हैं)

४४ **राजा**—यह तो बड़े दुःख की बात है । अरे ! तुम कहाँ घूम रहे थे ?

४५ **विदूषक**—महारानीजी के दर्शन करूँगा—यह सोच कर शिष्टाचार

पमदवणं गदोम्हि । [देवीं द्रक्ष्यामीत्याचारपुष्पग्रहणकारणात्प्रमदवनं गतोऽस्मि ।]

४६ देवी—हद्धि हद्धि । णं अहं एव्व बम्हणस्स जीविअसंसअणिमित्तं जादा । [हा धिक् हा धिक् !! नन्वहमेव ब्राह्मणस्य जीवितसंशयनिमित्तं जाता ।]

४७ विदूषकः— तहिं असोअत्थवअकालणादो पसारिदे मे हत्थे कोडरणिग्गदेण सप्परूवेण कालेण दट्ठोम्हि । णं एदाइं दुवे दन्तपदाइं । [तत्रा-

---

कारणात् (ष० तत्पु०)=हम पीछे वतला आये हैं कि राजा-रानियों के पास खाली हाथ जाना ठीक नहीं होता है। विदूषक जान-बूझ कर रानी का नाम लेता है और उसे भी अपने षड्यन्त्र में फँसाना चाहता है। उसका आशय यह है कि मेरी मौत का कारण रानी ही है जिसके लिए मैं फूल लेने गया था।

४६ ननु + अहम् + एव = वास्तव में मैं ही। जीवितस्य संशयः तस्य निमित्तम् (ष० तत्पु०) = ब्राह्मण के प्राणों के संकट का कारण वनी। देखिए रानी कितनी सरल-स्वभाव और दयाशील है। झट अपने को ब्राह्मण की मृत्यु का कारण समझ बैठती है।

४७ तत्र + अशोकस्य स्तवकं तस्य कारणात् (ष० तत्पु०)=अशोक के फूलों के गुच्छे के हेतु। कोटरात् + निर्गतेन (पं० तत्पु०)=वृक्ष के खोहट से निकले हुए, सर्पः रूपम् अस्य अस्तीति रूप + इन् (तद्धि०)=सर्प-रूप में कालेन =मौतने, दष्टः + अस्मि = काट डाला है। विदूषक जान-बूझ कर सर्प को काल बना कर यह जताना चाहता है कि मेरा संकट साधारण नहीं, बड़ा गम्भीर है। ननु+एते द्वे दन्तयोः पदे=दाँतों के स्थान, अर्थात् वे दो स्थान हैं

के रूप में भेंट के लिए (दो-एक) फूल लाने के हेतु प्रमदवन गया था।

४६ रानी—राम ! राम ! राम ! ब्राह्मण के जीवन को संकट में डालने का कारण सचमुच मैं ही वनी हूँ।

४७ विदूषक—वहाँ अशोक के फूलों के गुच्छे के लिए मैंने हाथ

शोकस्तवककारणात्प्रसारिते मे हस्ते कोटरनिर्गतेन सर्परूपिणा कालेन दष्टोऽस्मि। नन्वेते द्वे दन्तपदे।] (इति दर्शयति)

४८ परिव्राजिका—तेन हि दंशच्छेदः पूर्वकर्मेति श्रूयते। स तावदस्य क्रियताम्।

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुषः प्रतिपत्तयः ॥ ४ ॥

जहाँ पर काटा है। विदूषक दाँतों के दो चिह्न बता रहा है। वास्तव में उस धूर्त ने केतक का काँटा चुभा कर अपने=आप दो ऐसे निशान बना दिए थे, जिनसे खून बहने लगा था।

४८ दंशस्य छेदः (ष० तत्पु०)=दंश का, दष्ट भाग का काट देना पूर्वं च तत् कर्म (कर्मधा०)=सबसे पहला काम (first aid) स तावत्+अस्य क्रियताम्= इसके यही करो।

छेदा० अन्वयः—दंशस्य छेदः दाहः वा, क्षतेः रक्त-मोक्षणं वा, एतानि दष्टमात्राणाम् आयुषः प्रतिपत्तयः। (पथ्यावक्त्रम्)

दाहः = जला देना। क्षतेः = घाव से। रक्तस्य मोक्षणम् = (ष० तत्पु०) खून का निकाल देना—एतानि, जहाँ संज्ञा शब्द विभिन्न-लिङ्गों के हों, उनका सर्वनाम और विशेषण नपुंसक लिङ्ग होता है। दष्टाः एव दष्टमात्राः तेषाम् = उसी समय काटे-हुओं के। आयुषः=प्राण बचाने के। प्रतिपत्तयः=उपाय, इलाज

पसारा ही था कि/ वृक्ष की खोहट से निकल कर साँप-रूप काल ने मुझे डस दिया।

(दिखाता है)

४८ परिव्राजिका—तब तो सब से पहला कार्य हम यही सुनते हैं कि जहाँ डसा हो उस अंग को काट दिया जाय। इसके यही करो—

जहाँ डसा हो उस अंग को काट देना या जला देना या घाव का खून निकाल देना—ये ताजे-ताजे डसे हुए मनुष्यों के प्राण बचाने के उपाय हैं ॥४॥

४९ राजा—संप्रति विषवैद्यानां कर्म। जयसेने! क्षिप्रमाहूयतां ध्रुवसिद्धिः।

५० प्रतीहारी—जं देवो आणवेदि। [यद्देव आज्ञापयति।]

(इति निष्क्रान्ता)

५१ विदूषकः—अहो पावेण मिच्चुणा गहीदाम्हि। [अहो पापेन मृत्युना गृहीतोऽस्मि।]

५२ राजा—मा कातरो भूः। [अविषोऽपि कदाचिद्दंशो भवेत्।]

हैं। विदुषी परिव्राजिका साँप से काटे हुए मनुष्यों के तीन इलाज बताती है, पर शर्त यह है कि काटते समय ही किए जायँ। ये उपाय वही हैं, जो हमारे आयुर्वेद-शास्त्र में बताये हुए हैं।

४९ विषस्य वैद्यः विषवैद्यः (षष्ठी तत्पुरुष) क्षिप्रम् (अव्यय) = शीघ्र। आहूयताम् = बुलाया जाय। राजा परिस्थिति सँभालने में शीघ्रता करता है कि कहीं विदूषक की अंगुलि काट देने की नौबत न आ जाय, अतः वह विषवैद्य को बुलाता है, जो षड्यन्त्र का ही एक भाग है। राजा के भाग्य से षडयन्त्र की सारी प्रक्रिया ठीक-ठीक चल रही है। ध्रुवसिद्धि सरकारी विषवैद्य है।

५२ न विषं यस्मिन् तथाभूतः (ब० व्री०) = जिसमें विष नहीं। कदाचित् = संभव है। चालाक राजा किस तरह ढोंगी विदूषक को ढाढस दे रहा है। दोनों भली-भाँति जानते हैं कि हम किस तरह चकमा दे रहे हैं जिससे दर्शकों को पर्याप्त हास्य-सामग्री मिलती है।

---

४९ राजा—अब तो विष की दवा करने वाले वैद्य का काम है। जयसेना शीघ्र ध्रुवसिद्धि को बुलाओ।

५० प्रतीहारी—जैसी महाराज की आज्ञा। (चली जाती है)

५१ विदूषक—अरे! मुझ को पापी मौत पकड़ बैठी है।

५२ राजा—भैया घबराते क्यों हो? क्या पता निर्विष साँप ने काटा हो!

५३ विदूषकः—कहं ण भाइस्सं। सिमसिमाअन्ति मे अङ्गाइं। [कथं न भेष्यामि। सिमसिमायन्ति मे अङ्गानि।] (इति विषवेग रूपयति)

५४ देवी—ही ही असुहं दंसिदं विआरेण। हला अवलम्बह णं। [ही ही अशुभं दर्शितं विकारेण। हला! अवलम्बध्वमेनम्।] (परिजनः ससंभ्रममवलम्बते)

५५ विदूषकः (राजानमवलोक्य)—भो भवदो बल्लादो वि वअस्सो-म्हि। तं विचारिअ वुड्ढाए मे जणणीए जोअक्खेमं वहेहि। [भो भवतो बाल्यादपि वयस्योऽस्मि। तद् विचार्य वृद्धाया मे जनन्या योगक्षेमं वह।]

---

५३ सिम० = यह शब्दानुकृति है। विष चढ़ते समय अङ्ग सिम-सिम करने लगते हैं अर्थात् अकड़ते जाते हैं। विदूषक राजा के इस तर्क को काट देता है कि साँप निर्विष हो। देखो वह कितना घाघ है।

५४ विकारेण = विष के प्रभाव ने। अशुभम् = बुरी बात, बुरा चिह्न, बुरा फल। दर्शितम्=दिखा दिया है अर्थात् इसकी हालत तो बिगड़ती जा रही है। बेचारी कोमल-हृदय रानी विदूषक का हाल देख कर भयभीत हो जाती है। अवलम्बध्वम्=सँभालो। ससम्भ्रमम्=घबराहट के साथ।

५५ बालस्य भावः बाल + य (भावे) बाल्यम् तस्मात्=बचपन से लेकर। वयस्यः+अस्मि=मित्र हूँ। विचार्य=सोचकर, इस बात का खयाल रख कर। योग०=योग प्राप्ति को और क्षेम प्राप्त के पालन को कहते हैं अर्थात् जीवन-निर्वाह, आजीविका करते रहिए। देखिए गीता-'तेषां नित्याभियुक्तानां

---

५३ विदूषक - क्यों न घबराऊँ? मेरे अंग सिम-सिम कर रहे हैं। (यह कह कर विष चढ़ने का अभिनय करता है)

५४ रानी—हे राम! विष के प्रभाव ने बुरा फल दिखा दिया है। अरी! इसको सँभालो तो। (घबराती हुई दासियाँ उसे सँभालती हैं)

५५ विदूषक – (राजा की ओर देख कर) महाराज! मैं आपका बचपन का मित्र हूँ। यह सोच कर मेरी बूढ़ी माँ के पालन-पोषण का भार उठाये रहिएगा।

५६ राजा—मा भैषीः । अचिरात्त्वां विषवैद्यश्चिकित्सते । स्थिरो भव ।

५७ जयसेना-(प्रविश्य) देव ध्रुवसिद्धी विण्णावेदि । इह एव्व आणीअदु गोदमोत्ति । [देव ! ध्रुवसिद्धिर्विज्ञापयति । इहैवानीयतां गौतम इति ।]

योगक्षेमं वहाम्यहम्' ॥ २२ ॥ विदूषक अपनी इस करुणा-भरी प्रार्थना से रानी के हृदय में दया का भाव उभाड़ना चाहता है ।

५६ मा भैषीः √भी (जु० प० डरना)+लुङ् मा० पु० । मङ् के योग में लुङ् लकार और अडागम का निषेध=मत डरो । अचिरात्+त्वाम्=शीघ्र ही, अभी तुम्हें । चिकित्सते=इलाज, दवा करता है । स्थिरः=धैर्य वाला, शान्त ।

५७ विज्ञा०=वि + ज्ञा+णिच्+लट्=प्रार्थना करता है, सूचना भेजता है । इह + एव+आ=नी√(कर्मवाच्य) लोट्=यहीं पहुँचा दें । जयसेना बाहर तो जाती है, पर ध्रुवसिद्धि के पास नहीं गई, यों ही ध्रुवसिद्धि का सन्देश लेकर आ जाती है । हम पीछे संकेत कर आए हैं कि जयसेना भी षड्यन्त्र में सम्मिलित है । यदि वास्तव में हिजड़ों की सहायता से विदूषक ध्रुवसिद्धि के पास ले जाया जाता, तो वह सारी पोल खोल देता कि साँप ने कोई नहीं काटा है, इसलिए ध्रुवसिद्धि को भी षड्यन्त्र में सम्मिलित करना पड़ता है । हिजड़े भी रंगमंच पर कहाँ आए ? राजा ने उनका नाम इसलिए लिया कि रानी को बनाया जाय । विदूषक तो ज्योंही रानी की दृष्टि से बाहर हुआ कि सीधा अपने गुप्त स्थान में चला गया, जहाँ वह जयसेना द्वारा रानी की अँगूठी लाये जाने की प्रतीक्षा कर रहा था । इस तरह न ध्रुवसिद्धि और न परिव्राजिका का षड्यन्त्र में हाथ है । यह अकेले विदूषक की ही करतूत है ।

---

५६ राजा—अरे ! डरो मत । विषवैद्य अभी तुम्हारा इलाज करता है । धीरज धरो ।

५७ जयसेना—(प्रवेश करके) महाराज ! ध्रुवसिद्धि का निवेदन है कि गौतम को यहीं पहुँचा दिया जाय ।

५८ राजा—तेन हि वर्षवरपरिगृहीतमेनं तत्रभवतः सकाशं प्रापय।

५९ जयसेना—तह। [तथा]

६० विदूषकः (देवीं विलोक्य)—भोदि जीवेअं वा ण वा। जं मए अत्त भवन्दं सेवन्तेण दे अवरद्धं तं मरिसेहि। [भवति जीवेयं वा न वा। यन्मया अत्रभवन्तं सेवमानेन तेऽपराद्धं तन्मर्षय।]

६१ देवी—दीहाऊ होहि। [दीर्घायुर्भव।] (निष्क्रान्तौ विदूषकः प्रतीहारी च)

६२ राजा—प्रकृतिभीरुस्तपस्वी। ध्रुवसिद्धिमपि यथार्थनामानं सिद्धि-

---

५८ वर्षवरैः परिगृहीतम् (तृ० तत्पु०)=वर्षवर हिजड़ों को कहते हैं, जो अन्तःपुर में नौकरी किया करते हैं। उनके द्वारा सँभाले, थामे हुए। एनम्=विदूषक को। प्रापय-प्र + √आप+णिच्+लोट्=पहुँचा दो।

६० भवति=भवती (स्त्री०) का सम्बोधन का रूप है। अप + √राध्+त अपराध किया है √मृष् (चु० उ० प०) + लोट् = क्षमा कीजिएगा। देखिए किस तरह धूर्त रानी को प्रभावित करते जा रहा है। वास्तव में नित्यप्रति वह रानी के प्रति अपराध करता ही रहता था। अब भी वह राजा की खातिर धारिणी का कितना अपराध कर रहा है। कितना कुटिल है?

६२ प्रकृत्या भीरुः (तृ० तत्पु०)=स्वभाव से ही डरपोक। तपस्वी=

---

५८ राजा—तो हिजड़ों के सहारे इन्हे उनके पास पहुँचा दो।

५९ जयसेना—अच्छा।

६० विदूषक—(रानी की ओर देख कर) महारानीजी! क्या पता जीऊँ, न जीऊँ। यहाँ महाराज की सेवा में रहते हुए मुझसे आपका यदि कोई अपराध हो गया हो, तो क्षमा कीजिए।

६१ रानी (ईश्वर करे) तुम लम्बी आयु भोगो।

(विदूषक और प्रतिहारी चले जाते हैं)

६२ राजा—बेचारा स्वभाव से ही डरपोक है। जैसा नाम है, उसी तरह

मन्तं न मन्यते ।

६३ **जयसेना**--(प्रविश्य) **जेदु भट्टा । ध्रुवसिद्धि विण्णाविदे । उअकुम्भविहाणे सप्पमुद्दिअं किं वि कप्पइदव्वं । ता अण्णेसीअदुत्ति ।**
[जयतु भर्ता । ध्रुवसिद्धिर्विज्ञपयति । उदकुम्भविधाने सर्पमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम् । तदन्विष्यतामिति ।]

बेचारा गौतम । **यथार्थं नाम यस्य तथाभूतम्** (ब० व्री०)=ध्रुवसिद्धि का अर्थ है ध्रुवा सिद्धिः यस्मिन्=जिसके कार्य में सिद्धि निश्चित है । सिद्धि०=सिद्धि+मत् (त०) कार्यसिद्धि वाला अर्थात् ध्रुवसिद्धि में 'यथा नाम तथा गुणः' वाली बात है । फिर भी नहीं मान रहा है ।

६२ **उदकपूर्णः कुम्भः उदकुम्भः** (उदक को उद आदेश) **उदकुम्भस्य विधानं तेन** (ष० तत्पु०)=उदकुम्भ जलपूर्ण घड़े को कहते हैं । उसमें कुछ तान्त्रिक विधान--प्रक्रिया--करनी पड़ती है, जिससे डसे हुए का विष उतर जाता है । इस विधान में, **सर्पस्य मुद्रा** (ष० तत्पु०) **जाता अस्मिन् इति** सर्पमुद्रा + इतच् (तद्धि०)=साँप की छाप वाली **किमपि**=कुछ वस्तु । **कल्पयितव्यम्**=बनानी पड़ती है, काम में लानी पड़ती है । फिर उदकुम्भ में नाग मुद्रा की मन्त्रोच्चारण के साथ पूजा की जाती है । इस सर्पविष-निर्हरण क विधान भैरवीतन्त्र में विस्तार से बताया गया है । पढ़ने का मन्त्र यह है--"नम सर्पकुलाधिपतये नागायामृतमूर्तये हुलु हुलु सर्पविषं शमय शमय नमस्ते स्वाहा" इस तरह मन्त्रोच्चारण से पवित्र हुए घट-जल को सर्प-मुद्रा से डसे हुए भाग प छिड़क दिया जाता है जिससे भयानक से भयानक सर्प का विष भी तत्काल उतर जाता है । **तत् + अन्विष्यताम्**=सर्प-मुद्रा वाली कोई वस्तु ढूँढो । जयसेन

तत्काल काम सिद्ध कर देने वाले ध्रुवसिद्धि का भी विश्वास नहीं कर रहा है ।

६३ **जयसेना**—(प्रवेश करके) स्वामी की जय हो । ध्रुवसिद्धि क निवेदन है कि पानी के घड़े द्वारा विष-शान्ति के लिए साँप की छाप वाली को वस्तु चाहिए, इसलिए कोई ऐसी वस्तु ढूँढ लाओ ।

६४ देवी—इदं सप्पमुद्दिअं अङ्गुलीअअं। पच्चा मह एव्व हत्थे देहि णं। [इदं सर्पमुद्रितमंगुलीयकम्। पश्चान्ममैव हस्ते देह्येतत्।]

(इति प्रयच्छति)

६५ राजा—जयसेने! कर्मसिद्धावाशु प्रतिपत्तिमानय।

६६ जयसेना—जं देवो आणवेदि। [यद्देव आज्ञापयति।] (इति निष्क्रान्ता)।

झूठमूठ ही विषवैद्य का सन्देश लाती है। वास्तव में वह रानी की सर्पमुद्रांकित अँगूठी लाने आई है, जिसकी मालविका को उन्मुक्त करने के लिए आज्ञापत्र पर छाप लगानी थी।

६४ सर्पमुद्रितम्+अङ्गुलीयकम्। जैसी कि आशा थी दयालु रानी विदूषक की जान बचाने के लिए तत्काल अपनी साँप-छापवाली अँगूठी दे देती है। पर फिर भी जयसेना को सावधान कर देती है कि 'उदकुम्भविधान' के बाद मुझे लौटा देना और किसी को मत दे देना। **पश्चात् + मम + एव हस्ते देहि + एतत्।**

६५ **कार्य-सिद्धौ + आशु प्रतिपत्तिम् + आनय।** राजा बड़ा चतुर है। दो अर्थों वाले शब्दों का प्रयोग कर रहा है, एक अर्थ मालविका की तरफ और दूसरा विष-निर्हरण की तरफ लगता है। मालविका की तरफ तो यह है कि जब कार्य सिद्ध हो जाय् अर्थात् रानी की अँगूठी की छाप से मालविका उन्मुक्त हो जाय, तब मुझे **प्रतिपत्तिम्** = प्रवृत्तिम्, अर्थात् इस बात का समाचार लाना; विदूषक की तरफ; जब कार्य अर्थात् विष दूर करने का कार्य सिद्ध हो जाय, तब अँगूठी की **प्रतिपत्तिम्** = प्राप्ति रानी को करा देना अर्थात् रानी के हाथ की अँगूठी वापस ले आना।

---

६४ देवी—अरी! साँप-छाप वाली यह मेरी अँगूठी कैसी है, लेकिन बाद को इसे मेरे ही हाथ में दे देना। (यह कह कर दे देती है)

६५ राजा—काम हो जाने पर समाचार लाना।

६६ जयसेना—जैसी महाराज की आज्ञा। (चली जाती है)

६७ परिव्राजिका—देव ! यथा मे हृदयमाचष्टे तथा निर्विषो गौतमः ।

६८ राजा—भूयादेवम् ।

६९ जयसेना (प्रविश्य)—देव ! णिउत्तविसवेओ अज्जगोदमो मुहुत्तेण पइदित्थो संवुत्तो । [देव ! निवृत्तविषवेग आर्यगौतमो मुहूर्तेन प्रकृतिस्थः संवृत्तः ।]

७० देवी—दिट्ठिआ वअणीआदो मुत्तम्हि । [दिष्ट्या वचनीयां-न्मुक्तास्मि]

---

६७ हृदयम् = आचष्टे = हृदय कहता है । हृदय की गवाही के लिए शकुन्तला प्रथम अङ्क 'सतां हि सन्देह-पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' । निर्गतं विषं यस्मात् (ब० व्री०)=जिसका विष उतर गया है ।

६९ निवृत्तः विषस्य वेगो यस्य (ब० व्री०) मुहूर्तेन = थोड़े से ही समय अर्थात् दो घड़ी (२०-२५ मिनट) को कहते हैं । प्रकृतौ + तिष्ठतीति प्रकृति + √स्था + अ (कर्तरि) (उपपद तत्पु०)=अपने प्राकृतिक रूप में ठीक चंगा ।

७० वचनीयात् = दोष से, निन्दा से । मुक्ता+अस्मि=छूट गई हूँ । क्योंकि विदूषक को रानी के लिए फूल लेने जाने पर ही साँप ने डसा—इस तरह यदि उसकी मृत्यु हो जाती, तो परोक्ष रूप में रानी के सिर पर ही उसका दोष आता ।

---

६७ परिव्राजिका—महाराज ! जैसा कि मेरा हृदय बोल रहा है—गौतम का विष उतरा समझिए ।

६८ राजा—ऐसा ही हो ।

६९ जयसेना—(प्रवेश करके) महाराज ! आर्य गौतम का विष उतर गया है और वे थोड़ी ही देर में ठीक हो गये हैं ।

७० रानी—सौभाग्य की बात है कि मैं दोष से बच गई ।

७१ जयसेना—एसो उण अमच्चो वाहदआ विण्णावेदि । राअकज्जं वहु मन्तिदव्वं । ता दंसणेण अणुग्गहं इच्छामित्ति । [एष पुनरमात्यो वाहतको विज्ञापयति । राजकार्यं बहु मन्त्रयितव्यम् । तद्दर्शनेनानुग्रहमिच्छामीति ।]

७२ देवी गच्छदु अज्जउत्तो कज्जसिद्धीए [गच्छत्वार्यपुत्रः कार्यसिद्धये ।]

७३ राजा (उत्थाय)—देवि आतपाक्रान्तोऽयमुद्देशः शीतक्रिया चास्या रुजः प्रशस्ता । तदन्यत्र नीयतां शयनम् ।

७४ देवी - वालिआओ अज्जउत्तवअणं अणुचिट्ठह [बालिकाः ! आर्यपुत्रवचनमनुतिष्ठत ।]

---

७१ राज्ञः कार्यं तस्य दर्शनेन + अनुग्रहम् + इच्छामि = मन्त्री का यह सन्देश सरासर झूठ है। राजा रानी के पास से इस बहाने खिसकना चाहता है और जाना चाहता है उस स्थान में, जहाँ कारा से मुक्त मालविका से पुनर्मिलन होना है।

७३ आतपेन + आक्रान्तः + अयम् + उद्देशः = यह स्थान धूप से घिर गया है अर्थात् इधर धूप आ गई है। प्रशस्ता = अच्छी कही गई है। धूर्त राजा को रानी की चोट की कितनी चिन्ता हो रही है कि उन्हें धूप से कहीं दूसरी जगह ले जाने की सलाह दे। वास्तव मे रानी का पलँग भीतर के कमरे में ले जाने से वह ऐसी परिस्थिति बनाना चाहता है कि जिससे रानी उसकी आगे की चेष्टाओं को देख ही न सके।

---

७१ जयसेना—मन्त्री वाहतक कह रहे हैं कि बहुत से राज-सम्बन्धी कार्यों पर विचार करना है, इसलिए महाराज के दर्शनों की कृपा चाहता हूँ।

७२ रानी—आर्यपुत्र ! जाइए और राज-काज कीजिए।

७३ राजा—(उठ कर) देवी ! इस स्थान में धूप आ गई है। ऐसे रोग में ठण्ड ही अच्छी कही गई है। इसलिए पलँग दूसरी जगह करा लें।

७४ रानी—लौंडियो ! आर्यपुत्र का कहना करो।

७५ परिजनः—तह [तथा ।] (इति निष्क्रान्ता देवी परिव्राजिका परिजनश्च)

७६ राजा—जयसेने ! गूढपथेन मां प्रमदवनं प्रापय ।

७७ जयसेना—इदो इदो देवो । [इत इतो देवः ।]

७८ राजा (परिक्रम्य)—जयसेने ! ननु समाप्तकृत्यो गौतमः ।

७९ जयसेना—अह इ ? [अथ किम् ?]

८० राजा—

इष्टाधिगमनिमित्तं प्रयोगमेकान्तसाधुमपि मत्वा ।

---

७६ गूढः पन्थाः (कर्मधा०) तेन = गुप्त मार्ग से । इससे स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्री के राज-काज की बात एक निरा बहाना ही था ।

७८ समाप्तं कृत्यं यस्य सः (ब० व्री०)=जिसका मालविका को छुड़ाने का काम बन गया है ।

८० इष्टा०—अन्वयः—इष्टाधिगम-निमित्तं प्रयोगम् एकान्त-साधुं मत्वा अपि सिद्धौ संदिग्धं कातरं चेत आशङ्कते एव । (आर्या)

इष्टस्य अधिगमः तस्य निमित्तम् (ष० तत्पु०)=अभिलषित वस्तु अर्थात् मालविका की प्राप्ति के साधन । प्रयोगम् = उपाय को । एकान्तम् यथा स्यात् तथा साधुम् = अच्छा, खूब, पक्का । एकान्त अव्यय अतिशय अर्थ में है, देखिए अमर-कोश—"तीव्रैकान्तनितान्तानि" । मत्वा = समझ कर भी । सिद्धौ =

---

७५ दासियाँ—अच्छा जी ।

(महारानी, परिव्राजिका और दासियाँ चली जाती हैं)

७६ राजा—जयसेना ! गुप्त मार्ग से हमें प्रमदवन ले चलो ।

७७ जयसेना—इधर-इधर महाराज ।

७८ राजा—(घूम कर) जयसेना, गौतम ने काम तो बना ही लिया होगा ?

७९ जयसेना—और क्या ?

८० राजा—मन-चाही वस्तु की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले उपाय को

सदिग्धमेव सिद्धौ कातरमाशङ्कते चेतः ॥ ५ ॥

८१ विदूषकः प्रविश्य—वड्ढदु भवं । सिद्धाइं दे सव्वमङ्गलकम्माइं ।
[वर्धतां भवान् । सिद्धानि ते सवमङ्गलकर्माणि ।]

८२ राजा—जयसेने ! त्वमपि स्वनियोगमशून्यं कुरु ।

कार्यसिद्धि में, काम वनने में उपाय की सफलता में । संदिग्धम् = सन्देह-पूर्ण तथा कातरम् = अधीर वना हुआ चेतः = मन आशङ्कते = सफलता के सम्बन्ध में डरता ही रहता है । राजा स्वीकार करता है कि विदूषक का उपाय सर्वथा काम वना ही देगा, तथापि उसे शंका हो रही है कि अन्तिम क्षण में उसके बने-वनाये काम में कोई विघ्न-वाधा न आ जाय । यह एक ऐसा मनोवैज्ञानिक तथ्य है जो मानव-मात्र के हृदय से सम्वन्ध रखता है ।

८१ सर्वाणि च तानि मंगलानि (शुभानि) कार्याणि (कर्मधा०) = सभी मंगल कार्य अर्थात् मालविका को छुड़ाने के उपाय । सिद्धानि = सफल हो गए हैं । प्रसन्नता में फूला न समाता हुआ विदूषक अपने परिहास-पूर्ण ढंग से मालविका की मुक्ति और उससे हो रहे पुनर्मिलन आदि मंगल-कर्मों की ओर संकेत कर रहा है । मंगल-कार्य वास्तव में विवाह आदि को कहते हैं । विदूषक का व्यंग्य ह कि आज विवाह का दिन है ।

८२ स्वस्य नियोगः (ष० तत्पु०) अपना कार्य । अशून्यं कुरु = खाली न रहने दो । प्रतिहारी का काम द्वार-रक्षा है । इसलिए अपने उस काम पर जाओ । स्वनियोगम् अशून्यं √कृ = यह एक मुहाविरा है जिसका अर्थ है—अपन काम देखना । नाटकों में इसका वहुत प्रयोग आता है ।

अच्छी तरह पक्का मान कर भी हृदय उसकी सफलता पर सन्देह ही करता है और अधीर वन कर डरता ही रहता है ॥ ५ ॥

८१ विदूषक—(प्रवेश करके) महाराज की वृद्धि हो । आपके सब मंगल-कार्य सिद्ध हो गए हैं ।

८२ राजा—जयसेना जाओ, तुम अपना काम देखो ।

८३ जयसेना—जं देवो आणवेदि । [यद्देव आज्ञापयति ।]

(इति निष्क्रान्ता)

८४ राजा—वयस्य ! क्षुद्रा मालविका । न खलु किंचिद्विचारितमनया ।

८५ विदूषकः—देवीए अंगुलीअ अमुद्दिअं देक्खिअ कहं विआरेदि ? [देव्या अंगुलीयकमुद्रिकां दृष्ट्वा कथं विचारयति ?]

८६ राजा—न खलु मुद्रामधिकृत्य ब्रवीमि । तयोर्वद्धयोः किंनिमित्तोऽयं मोक्षः । किं वा देव्या परिजनमतिक्रम्य भवान्संदिष्टः इत्येवमनया प्रष्टव्यम् ।

---

८४ क्षुद्रा = ओछे स्वभाव की । ओछे स्वभाव के व्यक्ति को झट किसी कार्य के करने को राजी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वड़ी मीनमेप निकालता है । 'क्षुद्रा' का अर्थ 'मूर्खा' भी किया जा सकता है कि वह ऐसी मूर्ख निकली कि विना पूरी जाँच-पड़ताल किए तत्काल छोड़ दिया । किञ्चित् + विचारितम् + अनया ।

८६ अधिकृत्य = यह एक मुहाविरा है, जिसका अर्थ है 'विषय में (About)' किं निमित्तं यस्य सः (व० व्री०)=क्या निमित्त वाला मोक्षः= मुक्ति, छुटकारा । परिजनम् + अतिक्रम्य = दासियों को छोड़ कर, तुम जैसे पुरुष के हाथ क्यों सन्देश भेजा ? इति + एवम् + अनया प्रष्टव्यम्=इस तरह उसे पूछना चाहिए था ।

---

८३ जयसेना—जैसी महाराज की आज्ञा ।

(चली जाती है)

८४ राजा—मित्र ! मालविका मूर्ख है । क्या उसने कुछ भी सोचा-विचारा नहीं ?

८५ विदूषक—महारानी की अँगूठी की छाप देख कर वह क्यों सोचती-विचारती ?

८६ राजा—अरे ! मैं इस अँगूठी की छाप के विषय में नहीं बोल रहा

८७ विदूषकः—णं पुच्छिदोम्हि। पच्चुप्पण्णबुद्धिणा मए कहिदं। [ननु पृष्टोऽस्मि। प्रत्युत्पन्नबुद्धिना मया कथितम्।]

८८ राजा—कथ्यताम्।

८९ विदूषकः—भणिद मए दव्वचिन्तएहि विण्णाविदो राआ। सोवसग्गं वा णक्खत्तं। सव्वबन्धणमोक्खो करीअदुत्ति। [भणितं मया—दैव-चिन्तकैर्विज्ञापितो राजा। सोपसर्ग वो नक्षत्रम्। सर्वबन्धनमोक्षः क्रियतामिति।]

---

८७ पृष्टः+अस्मि। प्रत्युत्पन्ना बुद्धिः यस्य तथाभूतन (ब० व्री०)=जिसकी बुद्धि चट-पट ठीक-ठीक उत्तर देना जानती है, हाजिर-जवाब।

८९ दैवस्य चिन्तकाः तैः (ष० तत्पु०) = भाग्य बताने वालों, ज्योतिषियों ने। विज्ञापितः = सूचित किया है। नक्षत्रम् = तारे, ग्रह। सोपसर्गम्= उपसर्गेण सहितम्-(ब० व्री०) = उपसर्ग उत्पात, उपद्रव, पीड़ा, बुरे फल को कहते हैं। अर्थात् आपके ग्रह खोटे आये हुए हैं। ज्योतिष के अनुसार ग्रहों का जीवन में शुभ-अशुभ फल देना कहा गया है। उनकी शान्ति दान, जप, बन्दी-मुक्ति आदि से की जाती है। वास्तव में राजा का ग्रह खराब कोई न था—यह विदूषक की चालाकी, बहाना है, जिससे कि किसी तरह मालविका छुड़ाई जाय।

हूँ। उसे यह पूछना चाहिए था कि बन्धन से इन दोनों की मुक्ति का कौन-सा निमित्त बना? महारानी की जब कितनी ही दासियाँ है, तो क्या बात है कि उन सब को छोड़ कर उन्होंने तुम्हें ही भेजा?

८७ विदूषक—क्यों नहीं? पूछा तो था, परन्तु मुझमें चटपट उपयुक्त उत्तर देने को सूझ रहती ही है, इसलिए मैंने कह दिया।

८८ राजा—कहो (क्या कहा?)

८९ विदूषक—मैंने कहा कि ज्योतिषियों ने महाराज को कहा है कि आपके ग्रह खोटे आए हुए हैं, (इसलिए) सभी बन्दियों को मुक्त कर देना चाहिए।

९० राजा (सहर्षम्)—ततस्ततः ।

९१ विदूषकः—तं सणिअ देवीए इरावदीये चित्तं रक्खन्तीए राआ किल मोएदित्ति तुमं एव्व णं मोएहित्ति अहं सन्दिट्ठोम्हित्ति । तदा जुज्जइति ताए सम्पादिदो अत्थो । [तच्छ्रुत्वा देव्या इरावत्याश्चित्तं रक्षन्त्या राजा किल मोचयतीति त्वमेवैनां मोचयेत्यहं संदिष्टोऽस्मि इति । ततो युज्यत इति तया संपादितोऽर्थः ।]

---

९१ तत्+श्रुत्वा=ज्योतिषियों की यह बात सुनकर । देव्या=रानी धारिणी ने । इरावत्याः + चित्तं रक्षन्त्या=इरावती का मन रखते हुए । इरावती राजा का हृदय धारिणी की अपेक्षा अपनी और अधिक आकृष्ट किए हुए थी । उसी के विशेष आग्रह पर राजा के हृदय को अपनी ओर खींचने वाली मालविका को रानी धारिणी ने भूगर्भ में बन्दी बना रखा था । यदि धारिणी अपनी ही दासी को भेज कर मालविका को छुड़ाने भेजती, तो इरावती का दिल दुःख जाता कि रानी ही मेरा अपमान करा रही है, इसलिए वह बुरा न माने यह सोच कर धारिणी ने अपनी दासी न भेज कर मुझे ही यहाँ मालविका को छुड़ाने भेजा, जिससे यह सिद्ध हो जाय कि उसे धारिणी ने नहीं छुड़ाया, बल्कि स्वयं राजा ने अपने ग्रह-दोष शमन के लिए अपने मित्र को भेज कर छुड़ाया है । माधविका के आगे विदूषक का यह तर्क काम कर गया और उसने तत्काल मालविका को छोड़ दिया । मोचयति + इति त्वम् + एव + एनां मोचय + इति + अहं संदिष्टः + अस्मि । तया=माधविका ने । सम्पादितः + अर्थः=काम कर दिया अर्थात् मालविका को छोड़ दिया ।

---

९० राजा—(प्रसन्नता के साथ) तब फिर ?

९१ विदूषक—उनकी यह बात सुनकर महारानी ने इरावतीजी का मन रखने के लिए मुझे कहला भेजा कि 'महाराजा छुड़ा रहे हैं'—यह कह कर तुम ही मालविका को छुड़ा दो । 'तब तो ठीक ही है' यह कह कर माधविका ने उसे छोड दिया ।

९२ राजा (विदूषकं परिष्वज्य)— सखे प्रियोऽहं तव ।

न हि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम् ।
कार्य-सिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ॥ ६ ॥

---

९२ परि०=परि + √स्वज् (भ्वा० प० गले लगाना) + ल्यप्=गले लगा कर । प्रियः अहं तव, तुम्हारा मैं बहुत प्रिय हूँ, मुझ पर तुम्हारा स्नेह हैं ।

न हि बुद्धि०—अन्वयः—सुहृदाम् अर्थ-दर्शनं बुद्धि-गुणेन-एव न, हि सूक्ष्मः कार्य-सिद्धि-पथः स्नेहेन अपि उपलभ्यते । (पथ्यावक्त्रम्)

सुहृदाम्=मित्रों के । अर्थस्य दर्शनम् (ष० तत्पु०) हित की बात को देखना । बुद्धेःगुणः तेन (ष० तत्पु०)=बुद्धि के गुण से । हि=क्योंकि । सूक्ष्मः= दुर्बोध, कठिन । कार्यस्य सिद्धिः तस्य पन्थाः तेन (ष० तत्पु०)=कार्य सफल बनाने का मार्ग, स्नेहेन अपि=स्नेह से भी । उपलभ्यते = देखा जाता है अर्थात् जब हम अपने मित्रों का कार्य बनाना चाहते है, तो निरी बुद्धि ही की आवश्यकता नहीं, बल्कि स्नेह की भी आवश्यकता पड़ती है । अकेली न बुद्धि ही काम कर सकती है, न अकेला स्नेह ही । दोनों बातें जब हों, तब जाकर कार्यसिद्धि होती है । इसी तरह के भाव के लिए देखिए विक्रमो० II । 'अतिस्नेहः कार्य-दर्शी' । Where there is a will there is a way का भी यही मतलब है । राजा अपने प्रति विदूषक के प्रेम की सराहना करता है जिसके कारण राजा को अपने काम में सफलता मिली ।

---

९२ राजा—(विदूषक को गले लगा कर) मित्र ! तुम्हारा मुझ से बड़ा प्रेम है:—

जब हम अपने मित्र लोगों का काम बनाने की सोचते हैं, तो निरे बुद्धि के बल से ही नहीं, बल्कि हमें कार्य-सफलता का कठिन मार्ग स्नेह से भी देखना होता है ॥ ६ ॥

९३ विदूषकः—तुरवदु भव। समुद्दघरए पियसहीसहिअं मालविअं ठाविअ भवन्दं पच्चुग्गदोम्हि। [त्वरतां भवान्। समुद्रगृहे प्रियसखीसहितां मालविकां स्थापयित्वा भवन्तं प्रत्युद्गतोऽस्मि।]

९४ राजा—अहमेनां संभावयामि। गच्छाग्रतः।

९५ विदूषकः—एदु भवं। (परिक्रम्य इदं समुद्दघरअं। [एतु भवान् (परिक्रम्य) इदं समुद्रगृहम्!]

९६ राजा (साशङ्कम्)—वयस्य! एषा कुसुमावचयव्यग्रहस्ता सख्यास्ते इरावत्याः परिचारिका चन्द्रिका समागच्छति। इतस्तावदावां भित्ति-निगूढौ भवावः।

---

९३ समुद्रगृह एक ऐसा महल होता है, जिसके चारों ओर नकली झील रहती है। एसे झील-घर (Lake-house) भी कहते हैं। राजस्थान में राजाओं के ऐसे कितने ही महल मिलते हैं, जो पानी के बीच में होते हैं। अमृतसर का स्वर्णमन्दिर और दुर्गियाना इसी तरह के हैं। प्रत्युद्गतः + अस्मि = पास आया हूँ।

९४ अहम् + एनां संभावयामि = उसका आदर-सत्कार करता हूँ।

९६—कुसुमानाम् + अवचयः तत्र व्यग्रौ हस्तौ यस्याः तथाभूता (ब० व्रीं०)=जिसके हाथ फूल चुनने में लगे हुए हैं अर्थात् फूल तोड़ती हुई। सख्याः

---

९३ विदूषक आप शीघ्रता कीजिए। मैं मालविका को उसकी प्रिय-सखी-सहित झील-घर में बिठा कर आपके पास आया हूँ।

९४ राजा—मैं चल कर इसका आदर-सम्मान करता हूँ। तुम आगे-आगे चलो।

९५ विदूषक—आइए चलिए। (घूम कर) यह झील-घर है।

९६ राजा—(डरता हुआ) मित्र! तुम्हारी सखी इरावती की यह दासी चन्द्रिका फूल तोड़ती-तोड़ती आ रही है। तो हम दोनों इस दीवार के पीछे छिप जाते हैं।

९७ विदूषकः—अहो कुम्भीलएहिं कामुएहिं अ पलिहलणिज्जा खु चन्दिआ। [अहो कुम्भीलकैः कामुकैश्च परिहरणीया चन्द्रिका।]

(उभौ यथोक्तं कुरुतः)

९८ राजा – गौतम कथं नु ते सखी मां प्रतिपालयति। एह्येनां गवाक्षमाश्रित्यावलोकयावः।

९९ विदूषकः – तह। [तथा।] (इति विलोकयन्तौ स्थितौ)

(ततः प्रविशति मालविका बकुलावलिका च)

+ ते = तुम्हारी सखी इरावत्याः परिचारिका = इरावती की दासी। इतः + तावत् + आवाम् = तो इधर हम दोनों। भित्त्या निगूढौ = (तृ० तत्पु०) दीवार के पीछे छिपे। भवावः = हो जाते हैं।

९७ कुम्भीलकैः कामुकैः च=चोरों और जारों को। परिह०=परि + √ हृ + अनीय + आ, चन्द्रिका = चांदनी छोड़नी पड़ती है अर्थात् उससे बचकर जाना पड़ता है। परिहासप्रिय विदूषक चन्द्रिका शब्द के झट दो अर्थ लगा देता है—चाँदनी और चन्द्रिका नाम की दासी। चोर-जारों को रात में ही काम करना पड़ता है और दिखाई पड़ने के भय से लुक-छिप कर अन्धेरे में ही चलना होता है। यहां चन्द्रिका दासी से बचे रहने का कारण यह भी है कि वह कहीं राजा के रोमान्स को अपनी स्वामिनी से न कह डाले।

९८ एहि + एनाम् गवाक्षम् आश्रित्य = इसे खिड़की के सहारे, खिड़की के बीच में से। गवाक्ष शब्द की व्युत्पत्ति के लिए देखिए अङ्क १ टिप्पण ३८।

---

९७ विदूषक - क्यों नहीं ? चोरों और जारों को चन्द्रिका से बच कर ही चलना चाहिए। (दोनों वैसा ही करते हैं)

९८ राजा—गौतम ! तुम्हारी सखी मालविका किस तरह मेरी प्रतीक्षा कर रही है—इसे हम खिड़की में से देखते हैं, आओ।

९९ विदूषक—अच्छा। (दोनों देखते हुए खड़े रहते हैं)

(मालविका और बकुलावलिका का प्रवेश)

१०० बकुलावलिका—हला पणम भट्टारं। [हला प्रणम भर्तारम्।]

१०१ राजा—मन्ये प्रतिकृतिं मे दर्शयतीति।

१०२ मालविका (सहर्षम्)–णमो दे। कहिं भट्टा हला विप्पलम्भेसि मं।
[नमस्ते। द्वारमवलोक्य (सविषादम्) कुत्र भर्ता। हला विप्रलम्भयसि माम्।]

१०३ राजा—सखे! हर्षविषादाभ्यामत्रभवत्याः प्रीतोऽस्मि।

---

१०० प्रणम = प्रणाम करो। वकुलावलिका कारागार से छूट कर प्रसन्नता की मुद्रा में मालविका से परिहास करना चाहती थी। समुद्रगृह में बहुत-सी अद्भुत वस्तुएँ थीं, दीवार पर राजा का इरावती आदि के साथ एक पूरे साइज का चित्र टँगा हुआ था; उसी को लक्ष्य करके वह मालविका बोल उठी – भर्ता को प्रणाम करो। राजा डर जाता है कि कहीं उसने हमें तो नहीं देख लिया, पर राजा झट सँभल जाता है कि नहीं, वह मेरे चित्र को लक्ष्य करके बोल रही है।

१०१ प्रतिकृतिम् = चित्र को। दर्शयति = दिखा रही है।

१०२ विप्र० = वि + प्र = √ लभ् + णिच = ठग रही हो, बना रही हो। बेचारी मालविका समझ रही थी कि विदूषक महाराज को लेकर आ गया होगा और उन्हें देख कर ही बकुलावलिका उसे उन्हे प्रणाम करने को बोल रही होगी। इसी प्रसन्नता में वह प्रणाम कर बैठी और दरवाजे की ओर देखा तो महा-महाराजा को न पाकर समझ गई कि सखी मुझे बना रही है और बड़ी खिन्न हुई।

१०३ हर्षश्च विषादश्च ताभ्याम् (द्वन्द्व) = प्रसन्नता और खेद से। प्रीतः + अस्मि - मुझे आनन्द आ रहा है

---

१०१ बकुलावलिका—सखी! स्वामी को प्रणाम करो।

१०१ राजा –मालूम होता है कि मेरा चित्र दिखा रही है।

१०२ मालविका –(प्रसन्नता से) नमस्ते। (द्वार की ओर देखकर) अरी! मुझे बना रही है?

१०३ राजा–मित्र! इनके हर्ष और विषाद से मुझे प्रसन्नता हो रही है। सूर्य

सूर्योदये भवति या सूर्यास्तमये च पुण्डरीकस्य।
वदनेन सुवदनायास्ते समवस्थे क्षणादूढे ॥ ७ ॥

१०४ वकुलावलिका—ण एसो चित्तगदो भट्टा। [नन्वेष चित्रगतो भर्ता।]

१०५ उभे (प्रणिपत्य) जेदु भट्टा। [जयतु भर्ता]

१०६ मालविका—हला तदा अह सम्मुहट्ठिदा भट्टिणो रूवस्स तह

सूर्यो०—अन्वयः—पुण्डरीकस्य सूर्योदये या सूर्यास्तमये च (या समवस्था) भवति, सुवदनायाः वदनेन ते समवस्थे क्षणात् ऊढे। [आर्या]

पुण्डरीकस्य=कमल की। सूर्यस्य उदयः तस्मिन् (ष० तत्पु०) या=जो अवस्था। सूर्यस्य अस्तमये—(ष० तत्पु०) अस्त होने पर (या समवस्था) सुष्ठु वदनं यस्या सा (व० ब्री०) = सुन्दरमुखी के वदनेन = मुख ने। ते समवस्थे= कमल की वे दोनों अवस्थाएँ, हालतें क्षणात्=क्षणभर में, ऊढे=धारण कर लीं। हम देखते हैं सूर्योदय में कमल खिल उठता है और सूर्यास्त में मुरझा जाता है— यही दो हालतें मालविका के मुखकमल को भी हुईं वकुलावलिका से यह सुन कर की भर्त्ता को प्रणाम करो उसने समझा प्रियतम आ गये हैं तो उसका मुख प्रसन्नता में दमक उठा, पर थोड़े ही समय बाद जब दासी ने कहा कि मेरा मतलब प्रियतम के चित्र से है, तभी बेचारी का मुख नैराश्य के अवसाद में मुरझा गया। राजा खिड़की की ओट से अपनी प्रियतमा के चेहरे की बदलती हुई रंगत देख कर कौतुक लूट रहा है।

१०४ ननु+एष। चित्रे गतः स० तत्पु०) = चित्र-स्थित। शरीर-रूप में नहीं, बल्कि चित्र रूप में।

१०६ तदा+अहम्=तब अर्थात् उस समय जब कि अशोक के तले

के उदय और अस्त होने पर कमल की जो हालतें हुआ करती हैं, वही दोनों (हालतें) इस सुन्दर-मुखी के मुख ने भी अपना ली हैं ॥७॥

१०४ वकुलावलिका—सखी! चित्र में ये स्वामी ही तो हैं।

१०५ दोनों—(प्रणाम करके) जय हो स्वामीजी की!

१०६ मालविका—सखी! जब मैं उनके सामने ही थी, तब स्वामी के

ण वितिण्हम्हि जह अज्ज मए विभाविदो चित्तगदो भट्टा। [हला तदाहं सम्मुखस्थिता भर्तृरूपस्य तथा न वितृष्णास्मि यथाद्य मया विभावितश्चित्रगतो भर्ता।]

१०७ विदूषक—सुदं भवदा। अत्तहोदीए जह दिट्ठो चत्त ण तह दिट्ठो भव ति मंतिदं। मुहा दाणि मञ्जूसा विअ रअणभण्डं जोव्वण-गव्वं वहेसि। [श्रुत भवता। अत्रभवत्या यथा दृष्टश्चित्रे न तथा दृष्टो भवा-निति मन्त्रितम्। मुधेदानीं मञ्जूषेव रत्नभाण्डं यौवनगर्वं वहसि।]

मिलन हुआ था। सम्मुखं यथा स्यात् तथा स्थिता (सुप्सुपेति समासः)=प्रिय-तम के सामने खड़ी हुई भर्तुः-रूपस्य=प्रियतम के रूप से। तथा न विगता+तृष्णा यस्याः सा (ब० व्री०)=उस तरह पूर्णतया तृप्त नहीं हुई थी, ऐसी नहीं अघाई थी। यथा+अद्य=जैसे आज। विभावितः+चित्रगतः+भर्ता=चित्र में प्रियतम को देख कर अघा रही हूँ। बेचारी सरल-हृदय मालविका स्वीकार कर रही है कि अशोक के निकट जब मिलन हुआ था, उस समय स्वाभाविक लज्जावश में जी भर कर प्रियतम को नहीं देख सकी थी। इस तरह उसके सौन्दर्य का पूर्ण चित्र उसके मानस-पटल पर अंकित न हो सका, किन्तु आज समुद्रगृह के चित्र में प्रियतम का पूर्ण सौन्दर्य उसकी आँखों के सामने है, जिसे वह छक कर निहार रही है।

१०७ दृष्टः + चित्रे। मुधा + इदानीम्। मुधा अव्यय है जिसका अर्थ होता है व्यर्थ ही। मंजूषा + इव = पिटारी, सन्दूकड़ी की तरह। रत्नानां भाण्डम् (ष० तत्पु०)=रत्नों का पात्र, अथवा रत्न-धन। भाण्ड धन, खजाने को भी कहते हैं। देखिए अमरकोश —'स्याद् भाण्डमश्वाभरणेऽमत्रे मूलवणिग्धने।' यूनः भावः यौवनं तस्य गर्वम् (ष० तत्पु०)=यौवन का गर्व। वहसि=रखते हो। परिहासी विदूषक को हँसी ही सूझती है। मालविका के शब्दों को और ही तरफ

रूप से उतनी नहीं अघाई थी जितनी आज चित्र में देख कर अघा रही हूँ।

१०७ विदूषक—सुना आपने क्या कहा? इन्होंने कहा है कि जैसे

१०८ राजा—सखे ! कुतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः । पश्य कार्त्स्न्येन निर्वर्णयितुं च रूपमिच्छन्ति तत्पूर्वसमागमानाम् ।

खींच कर कहता है कि मालविकाजी को आप प्रत्यक्ष में इतने सुन्दर नहीं लगते जितना आपका चित्र । आप व्यर्थ ही अपने यौवन और रूप का अभिमान किया करते हो । जो रूप प्रियतमा को प्रभावित न कर सके, वह तो ऐसा ही बेकार है जैसा कि सन्दूकड़ी के भीतर रखा हुआ रत्न-धन । रत्नों की बाहर बिखरती हुई कान्ति ही लोगों को मुग्ध किया करती है न कि भीतर सन्दूकड़ी में बन्द । आपका यौवन भी बन्द पडा है जो मालविका को प्रसन्न नहीं कर सकता ।

१०८ कुतूहलम् अस्य **अस्तीति कुतूहल + मतुप्** (तद्धि०) **कुतूहलवान् + अपि** = यद्यपि स्त्रियों में प्रियतम देखने का कुतूहल, बड़ी चाह रहती है, **तथापि निसर्गतः शालीनः** (पं० तत्पु०) वे **स्वभाव से** ही शालीन, लज्जाशील, शर्मीली हुआ करती हैं । शालीन शब्द की व्युत्पत्ति यह है—शाला-प्रवेशम् अर्हतीति अर्थात् शाला=घर के भीतर ही रखने योग्य, बाहर सकुचाने वाला । राजा एकदम विदूषक का यह तर्क कि आपका **यौवन-गर्व** व्यर्थ है, क्योंकि आप प्रियतमा को प्रभावित न कर सके—काट देता है । राजा का कहना है कि यद्यपि स्त्रियाँ अपने प्रियतम को देखने की बड़ी चाह रखती हैं, पर लाज के मारे बेचारी आँखें नीचे कर देती हैं, अच्छी तरह कहाँ देख पाती हैं । यही कारण है कि मालविका मेरे यौवन और यौवन-भरे रूप को एवं सुन्दर अंगों को खुल कर न देख सकी । वैसे तो मैं चित्र में ही नहीं, प्रत्यक्ष में भी सुन्दर ही हूँ ।

कार्त्स्न्यें० अन्वयः—(आयतलोचनाः) तत्-पूर्व-समागमानां (प्रियाणां)

आपको चित्र में देखा है, वैसे आप प्रत्यक्ष में नहीं हैं । अब आप व्यर्थ ही अपने यौवन का गर्व कर रहे हैं जैसे कि सन्दूकड़ी यह गर्व करने लग जाय कि मेरे भीतर रत्नों का खजाना है ।

१०८ राजा—मित्र ! प्रियतम को निहारने की बड़ी भारी चाह होने पर भी स्त्रियां स्वभाव से ही लजीली हुआ करती हैं । देखो—

न च प्रियेष्वायतलोचनानां समग्रपातीनि विलोचनानि ॥ ८ ॥

१०६ मालविका—हञ्जा का एसा ईसप्परिवत्तिदवअणा भट्टिणा सिणिद्धाए दिट्ठीए णिज्झाईअदि । [हला कैषा ईषत्परिवर्तितवदना भर्त्रा स्निग्धया दृष्ट्या निध्यायते ।]

रूपं कार्त्स्न्येन निर्वर्णयितुम् इच्छन्ति च आयतलोचनानां विलोचनानि प्रियेषु समग्रपातीनि न च । (उपजाति)

आयते लोचने यासां ताः (ब० व्री०)=बड़ी-बड़ी आँखों वाली सुन्दरियां। स एव पूर्वः समागमो येषां तथाभूतानाम् (ब० व्री०) = पहले-पहल जिनसे मिलन हो रहा हो ऐसे प्रियतमों का। रूपम्= रूप। कृत्स्नस्य भावः कृत्स्न + य (भावे ; तेन=पूरी तरह, अच्छी प्रकार, छक कर। निर्व० = निर् + √वर्ण् (चु०)णि, तुम्=देखना। इच्छन्ति=चाहती हैं। विलोचनानि=उनकी आँखें प्रियेषु =प्रियतमों पर। न समग्रं यथा स्यात् तथा पतन्तीति तच्छीलानि = पूरी तरह न पड़ पाने वाली, अर्थात् स्त्रियाँ लज्जावश आँखें उठा कर प्रियतम के मुख को देख ही नहीं सकती हैं, केवल कनखी —आँख के कोने—से झलक-मात्र पाती हैं। देखिए पार्वती की महादेव के आगे क्या हालत हुई थी —'विवृण्वती शैल-सुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्-बाल-कदम्बकल्पैः। साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥' कुमार० III ६८, शकुन्तला का भी यही हाल हुआ—'अभिमुखे मयि संहृतमीक्षणम्' शकु० II ॥

१०६ का + एषा ईषत् यथा स्यात् तथा परिवर्तितं वदनं यस्याः सा (ब० व्री०)=(क्रोध में) कुछ मुँह फेरे हुए। स्निग्धया दृष्ट्या = प्रेम-भरी

सुन्दरियाँ पहले-पहल मिलन पर अपने प्रियतमों का रूप अच्छी तरह से देखना तो चाहती हैं, लेकिन उनकी आँखें प्रियतमों पर पूरी तरह पड़ ही नहीं पातीं ॥ ८ ॥

१०६ मालविका—सखी ! यह कुछ मुँह-फेरे कौन है, जिसे स्वामी प्रेम-भरी दृष्टि से देख रहे हैं ?

११० बकुलावलिका—णं इअं भट्टिणो पासगदा इरावती। [नन्वियं भर्तुः पार्श्वगतेरावती।]

१११ मालविका—हला भट्टा अदक्खिणो विअ पडिभाइ। जा सव्वं देवीजणं उज्झिअ एक्काए मुहे बद्धलक्खो। [हला, भर्ता अदाक्षिण इव प्रतिभाति। यः सर्वं देवीजनमुज्झित्वा एकस्या मुखे बद्धलक्ष्यः।]

निगाह से निध्या०=नि + √ध्यै (भ्वा०) लट् कर्मवा०=देखी जा रही है। 'निर्वर्णनं तु निध्यानं' इत्यमरः।

११० ननु + इयं भर्तुः पार्श्वे गता (स० तत्पु०) + इरावती=पास में स्थित इरावती है।

१११ न दक्षिण इत्यदक्षिणः (नञ् तत्पु०)=एक-जैसा प्रेम न रखने वाला। 'दक्षिण' नाटक की भाषा में उसे कहते हैं, जिसकी एक से अधिक नायिकाएँ हों और जो शिष्टाचार के रूप में उन सभी के साथ एक-जैसा प्रेम दिखाता हो। देखिए, साहित्य-दर्पण "एषु त्वनेक-महिला-समरागो दक्षिणः कथितः॥" III ६०॥ अदक्षिण हुआ इसका उलटा अर्थ अर्थात् औरों को छोड़ कर एक पर ही लट्टू। देवीजनम् + उज्झित्वा=सभी रानियों को छोड़ कर, बद्धं लक्ष्यं येन तथाभूतः (ब० व्री०)=एक पर ही दृष्टि लगाए हुए। राजा का तो चित्र था, जिसमें इरावती आदि सभी रानियाँ थीं और राजा इरावती पर ही निगाह गाढ़े हुए था। भोली-भाली मालविका भूल में बैठी कि यह चित्र है और उसे वास्तविक समझ बैठी। चित्र में तो जो जैसा चित्रित रहता है उसे उसी तरह रहना पड़ता है, वह बदलता नहीं। मालविका को आश्चर्य हो रहा है कि क्या बात है कि इरावती को ही देख रहे हैं औरों को नहीं—यह कितनी बुरी बात है?

---

११० बकुलावलिका—ये तो स्वामी के पास खड़ी हुई इरावतीजी हैं।

१११ मालविका—सखी! मुझे तो स्वामी की यह अशिष्टता ही लगती है कि वे अन्य सभी रानियों को छोड़ कर एक का ही मुख ताक रहे हैं।

११२ बकुलावलिका (आत्मगतम्)—चित्तगदं भट्टारं परमत्थं गेण्हिअ असूअदि इअं। होदु कीळिस्सं दाव एदाए। (प्रकाशम्) हला भट्टिणो वल्लहा एसा। [चित्रगतं भर्तारं परमार्थं गृहीत्वाऽसूयतीयम्। भवतु क्रीडिष्यामि तावदेतया। (प्रकाशम्) हला भर्तुर्वल्लभैषा।]

११३ मालविका—तदो किं दाणिं अत्ताणं आआसेमि। [ततः किमिदानीमात्मानमायासयामि।] (इति सासूयं परावर्तते)

११४ राजा—सखे ! पश्य।

---

११२ परमार्थम् = असली सचमुच का, वास्तविक। गृहीत्वा = समझ कर। असूयति+इयम् = यह ईर्ष्या, डाह कर रही है, रूठ रही है। एतया क्रीडि० = इसके साथ परिहास करती हूँ। इसे बेवकूफ बनाती हूँ। वल्लभा+एषा।

११३ किम् + इदानीम् + आत्मानम् + आयासयामि=आ + यस्(दि० प०) = णिच् लट्, दिखाऊँ। मालविका को क्रोध चढ़ जाता है कि यदि इरावती ही महाराज को इतनी प्यारी है, तो मैं उनको अपनी ओर कैसे आकृष्ट कर सकूँगी और इस लिए उनका प्रेम प्राप्त करने के लिए मैं क्यों व्यर्थ प्रयास करूँ।

११४ भ्रू०—अन्वयः—भ्रू-भङ्ग-भिन्न-तिलकं स्फुरिताधरोष्ठम् आननं सासूयम् इतः परिवर्तयन्त्या अनया कान्तापराध-कुपितेषु ललिताभिनयस्य विनेतुः शिक्षा संदर्शिता इव। (वसन्ततिलका)

---

११२ बकुलावलिका (मन ही मन) चित्र बने हुए स्वामी को असली समझ कर ईर्ष्या कर रही है। अच्छा तो इसे बनाती हूँ (प्रकट) सखी ! यह तो स्वामी को प्यारी है।

११३ मालविका—तो अब मैं अपने को क्यों दुखाऊँ ?

(ईर्ष्या के साथ मुख फेर लेती है)

११४ राजा—मित्र ! देखो :-

भ्रूभङ्गभिन्नतिलकं स्फुरिताधरोष्ठं
सासूयमाननमितः परिवर्तयन्त्या।
कान्तापराधकुपितेष्वनया विनेतुः
संदर्शितेव ललिताभिनयस्य शिक्षा ॥ ६ ॥

११५ विदूषकः—अणुणअसज्जो दाणिं होहि। [अनुनयसज्ज इदानीं भव।]

भ्रुवोः भङ्गः(ष० तत्पु०) तेन भिन्नः (तृ० तत्पु०) तिलको यस्मिन् तथाभूतम् (ब० व्री०) स्फुरितः अधरः ओष्ठः यस्मिन् तथाभूतम् (ब० व्री०) =जिसमें निचला ओंठ कांप रहा है-ऐसे आननं=मुख को असूयया सहितं यथा स्यात् तथा (क्रि० विशे०)=ईर्ष्या से, क्रोध से, इतः परि+वृत् (भ्वा० प०) + णिच्+शतृ+ई (स्त्री०)+तृतीया=इधर से फेरती हुई। अनया=इसने कान्तस्य अपराधः तेन कुपितेषु✓कुप् (दि० प०) त (भावे)=क्रोधों में, ललितस्य अभिनयस्य=सुन्दर अभिनय की विनेतुः=शिक्षक की शिक्षा संदर्शिता इव=शिक्षा को दिखाया हो जैसा। मालविका की चित्र पर से मुंह फेर देने की विलास-भरी चेष्टाओं को देखकर राजा प्रशंसा करता है। नाट्याचार्य गणदास की वह शिष्या है, जिसे उसने सुन्दर अभिनय की शिक्षा के साथ प्रियतम से रूठने के अभिनय की भी शिक्षा दी होगी। राजा को आज मालविका की रूठने की चेष्टाओं को देख कर ऐसा लग रहा है मानो वह अपने आचार्य की दी हुई रोषाभिनय की शिक्षा का अभिनय कर रही हो।

११५ अनुनयाय सज्जः (च० तत्पु०)=मनाने के लिए तय्यार। विदूषक

ईर्ष्या में चित्र की तरह अपना मुँह फेरते हुए इसके ओंठ कांप रहे हैं और माथे की विन्दी तेवड़ी चढ़ने से टेढ़ी हो गयी है; मुझे ऐसा लग रहा है कि इसने अपने गुरु नाट्याचार्य से प्रियतम के अपराध पर रूठने के सुन्दर अभिनय की जो शिक्षा ली है, उसी को जैसे यहाँ दिखाया हो ॥९॥

११५ विदूषक—लीजिए, अव मनाने को तय्यार हो जाइए।

११६ मालविका—अज्जगोदमो वि एत्थ एव्व सेवदि णं। [आयगौतमोऽप्यत्रैव सेवत एनम्।] (पुनः स्थानान्तराभिमुखी भवितुमिच्छति)

११७ बकुलावलिका (मालविकां रुद्ध्वा)—ण खु कुविदा दाणिं तुमं। [न खलु कुपितेदानीं त्वम्?]

११८ मालविका—जइ मं चिरं कुविदं मण्णेसि एसो पच्चाणीअदि कोवो। [यदि मां चिरं कुपितां मन्यसे एष प्रत्यानीयते कोपः।]

का आशय है कि राजा को अब प्रेमी की तरह रूठी हुई मालविका को मनाने के लिए आगे बढ़ जाना चाहिए।

११६ गौतम + अपि + अत्र + एव सेवत + एनम्। अन्यत् स्थानं स्थानान्तरं तस्य अभिमुखी=दूसरे स्थान की तरफ मुँह किये हुए अर्थात् चित्र की तरफ से मुँह फेरे हुए। अभी-अभी विदूषक कारागृह से मालविका को छुड़ा कर लाते हुए उसके लिए राजा के प्रेम की डींग हाँक रहा था, परन्तु वह भी ठग ही निकला और यहाँ उसी राजा के साथ, जो इरावती से (चित्र में) इतना प्रेम दिखा रहा है, खड़ा है, जरा भी नहीं कोसता कि इरावती से अधिक तो आपकी प्रियतमा यह है, जिसे मैं छुड़ा लाया हूँ। देखिए बेचारी मालविका किस तरह निरे स्वप्न-लोक में ही विचर रही है। वह चित्र को चित्र न समझ कर वास्तविक ही समझ रही है और राजा एवं विदूषक दोनों पर क्रोध कर रही है कि ये कैसे छलिया हैं?

११७ कुपिता + इदानीम्। खलु शब्द यहाँ प्रश्नवाचक है।

११८ प्रत्या०=प्रति + आ + √नी (भ्वा०) + लट् (कर्मवा०)=वापस लाती हूँ अर्थात् मेरा कोप तो चला ही गया था, पर अब फिर उसे वापस लाती

---

११६ मालविका—आर्य गौतम भी तो यहीं महाराज की सेवा में हैं।

(फिर दूसरी ओर मुँह करना चाहती है)

११७ बकुलावलिका—अरी! तुम अभी तक रूठी हुई तो नहीं हो?

११८ मालविका—यदि तुम मुझे बहुत देर रूठी हुई ही समझती हो, तो लो, अब रूठी ही रहती हूँ।

११९ राजा (उपसृत्य)—

कुप्यसि कुवलयनयने चित्रार्पितचेष्टया किमेवं मयि।
ननु तव साक्षादयमहमनन्यसाधारणो दासः ॥१०॥

१२० वकुलावलिका—जेदु भट्टा । [जयतु भर्ता

हूँ, रूठ ही जाती हूँ । यहाँ 'प्रत्यानीयते' का यह भी अर्थ हो सकता कि मैं अपना कोप वापस लेती हूँ अर्थात् शान्त हो जाती हूँ ।

११९ कुप्य०—अन्वयः—अयि कुवलय-नयने ! (मम) चित्रार्पितचेष्टया किम् एवं कुप्यसि ? ननु तव अयम् अहं साक्षात् अनन्य-साधारणः दासः । (आर्या) ।

कुवलयवत् नयने यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ (ब० व्रो०)=कुवलय की तरह नयनों वाली, कमल-नयनी ! **चित्र अर्पिता चेष्टा तया**=चित्र में दी गई मेरी चेष्टा से; चित्र में मैं जो इरावती की ओर प्रेम दृष्टि से दिखाया गया हूँ, उसके कारण किम्··सि ? क्यों ऐसे रूठ रही हो ? **ननु तव अयं साक्षात् न अन्यासां साधारणः** (प० तत्पु०) **दासः** = तुम्हारा प्रत्यक्ष दास—जो अन्य स्त्रियों के लिए नहीं है, अर्थात् तुम्हारा ही केवल एक-मात्र दास शरीर-रूप में सामने खड़ा है । राजा का भाव यह है कि चित्र में बनाए गए मेरे एक भाव से तुम इतना क्रोध करती हो यह अन्याय है । मैं जब तुम्हारे सामने अपने असली रूप में खड़ा हूँ और विश्वास दिला रहा हूँ कि तुम्हारे सिवा मेरे हृदय में और कोई नहीं है, तब चित्र से पैदा हुई भ्रान्ति तुम्हारे हृदय से दूर हो जानी चाहिए । प्रत्यक्ष में और प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

---

११९ राजा (पास आकर)

हे कमल-नयनी ! चित्र में दिए हुए मेरे से तुम क्यों मुझ पर, ऐसे रूठ रही हो ? शरीर-रूप में तुम्हारा अनन्य-दास तो यह खड़ा है ॥१०॥

१२० वकुलावलिका—स्वामी की जय हो !

१२१ मालविका (आत्मगतम्)--कहं चित्तगदो भट्टा मए असूइदो। [कथं चित्रगतो भर्ता मयासूयितः ?]

(सव्रीडवदना अञ्जलिं करोति। राजा मदनकातर्यं रूपयति)

१२२ विदूषकः—किं भवं उदासीणो विअ। [किं भवानुदासीन इव ?]

१२३ राजा—अविश्वसनीयत्वात्सख्यास्ते।

---

१२१ मया + असूयितः = मैंने ईर्ष्या की है, मैं रूठी हूँ। व्रीडया सहितं सव्रीडं वदनं यस्याः ना (ब० व्री० =लज्जा के मारे मुँह नीचे किए हुए। अञ्जलिं करोति = हाथ जोड़ देती है। मालविका को अपने इस कर्म पर लज्जा आ रही है कि वह अब तक चित्र में बनाए हुए राजा को उलाहना दे रही थी। उनका स्वप्न राजा को शरीर-रूप में प्रत्यक्ष देख कर ही टूटा है। राजा मदनस्य कातर्यं (प० तत्पु०) = प्रेम में आकुल होने की अवस्था, रूपयति=अभिनय करता है। राजा में प्रेम की बेचैनी—अधीरता—तो है, पर आगे बढ़ने से सकुचा रहा है।

१२२ भवान् + उदासीनः + इव = तटस्थ, बेलाग, चुपचाप से क्यों हो ?

१२३ विश्वसितुं योग्या विश्वसनीया न विश्वसनीया अवि० तस्या भावः (त्व) तस्मात्, सख्याः + ते = तुम्हारी सखी पर विश्वास न होने के कारण अर्थात् वह मुझे अपनाती है या नहीं, इसलिए।

---

१२१ मालविका—(मन ही मन) अरे क्या मैं चित्र में बनाए हुए स्वामी से रूठी हुई थी ?

(मुख पर लज्जा का भाव प्रकट करती हुई हाथ जोड़ देती है

राजा प्रेम की अधीरता दिखाता है)

१२२ विदूषक=आप चुपचाप-से क्यों हैं ?

१२३ राजा—तुम्हारी सखी पर विश्वास न होने के कारण।

१२४ विदूषकः—मा दाव। अत्तहोदी तुह अविस्ससणीआ। [मा तावत्। अत्रभवती तवाविश्वसनीया।]

१२५ राजा—श्रूयताम्।

पथि नयनयोः स्थित्वा स्थित्वा तिरोभवति क्षणा-
त्सरति सहसा बाह्वोर्मध्यं गतापि सखी तव।
मनसिजरुजा क्लिष्टस्यैवं समागममायया
कथमिव सखे! विस्रब्धं स्यादिमां प्रति मे मनः ॥११॥

---

१२५ पथि० अन्वयः—(हे) सखे! तव सखी (मालविका) (मे) नयनयोः पथि स्थित्वा स्थित्वा क्षणात् तिरोभवति, बाह्वोः मध्यं गता अपि सहसा सरति; एवं समागम-मायया मनसिज-रुजा क्लिष्टस्य मे मनः इमां प्रति कथम् इव विस्रब्धं स्यात्। (हरिणी)

नयनयोः पथि=आँखों के मार्ग में, दृष्टि में, आँखों के सामने। **स्थित्वा**=खड़ी हो-होकर बैठी। **क्षणात् तिरोभवति**=क्षण भर में छुप जाती है, ओझल हो जाती है, राजा स्वप्न का अनुभव कह रहा है। **बाह्वोः**···**अपि**=भुजाओं के बीच आई हुई भी। **सहसा सरति**=एकाएक खिसक जाती है, **एवं समागमे माया तया** (स० तत्पु०)=इस तरह मिलन में छल करके अर्थात् माया की तरह अपने क्षणिक मिलने के कारण, **मनसिजस्य रुक्** (ष० तत्पु०) **तया**=काम-पीड़ा से, प्रेम के रोग से, **क्लिष्टस्य मे मनः**=दुःखी हुआ मेरा मन। **कथमिव**=किस तरह, **विस्रब्धं स्यात्**=विश्वास-पूर्ण हो अर्थात् कैसे विश्वास करूँ। राजा स्वप्न में मालविका द्वारा दिए गए धोखे की शिकायत कर रहा है कि ऐसी अवस्था में मैं कैसे विश्वास करूँ कि वह मेरे आलिंगन को स्वीकार कर लेगी, यही कारण है कि मैं चुपचाप हूँ, आगे नहीं बढ़ रहा हूँ।

---

१२४ विदूषक—ऐसा न बोलें; इन पर आपका क्यों विश्वास नहीं?

१२५ राजा—सुनो—

मित्र! मेरी आंखों के सामने खड़ी हो-होकर भी क्षण-भर में ओझल हो जाती

१२६ बकुलावलिका—सहि बहुसो किल तुए विप्पलद्धो भट्टा। ता दाव अत्ता विस्ससणिज्जो करिअँदु। [सखि ! बहुशः किम् त्वया विप्रलब्धो भर्ता। तत्तावदात्मा विश्वसनीयः क्रियताम्।]

१२७ मालविका—सहि मह्ं उण मन्दभाइणीए सिमिणअसमाअमो वि भट्टिणो दुल्लहो आसि। [सखि ! मम पुनर्मन्दभागिन्याः स्वप्नसमागमोऽपि भर्तुर्दुर्लभ आसीत्।]

---

१२६ बहुशः=बहुत बार, विप्रलब्धः=ठगा है, उन्हें धोखा दिया है। तत् + तावत् + आत्मा=इसलिए अब अपने-आपको। विश्वसनीयः=विश्वास किये जाने योग्य, क्रियताम् (कर्मवाच्य लोट्)=बनाओ।

१२७ पुनः मन्दः भागः अस्या अस्तीति मन्दभाग + इन् (तद्धित) + ई (स्त्रियाम्) मन्दभागिनी को तो, स्वप्ने समागमः (स तत्पु०) + अपि = स्वप्न में भी मिलना, स्वामी को प्राप्त करना। दुःखेन लब्धुं योग्यः = कठिन आसीत्=था। मालविका अपना पक्ष स्थापित करती हुई कहती है कि मेरी दशा तो भर्ता से भी बुरी है। उन्हें नींद तो आ जाती है और स्वप्न में तो मेरे साथ मेल हो जाता है, पर मैं तो इतने भाग्य से भी वञ्चित हूँ। काम-व्यथा मुझे नींद ही नहीं आने देती है, स्वप्न-समागम तो दूर की बात है। राजा का मुँह बन्द कर देने वाला उत्तर है। इसी भाव के लिए देखिए विक्रमो० ॥२।१०॥ 'हृदयमिषुभिः कामस्यान्तःसशल्यमिदं सदा। कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्'॥ इस तरह के चित्र संस्कृत-साहित्य में बहुत भरे पड़े हैं।

हैं; आलिंगन करने के लिए मेरी भुजाओं के बीच आई हुई भी एकाएक खिसक जाती है, इस तरह मिलन में धोखा देने से प्रेम-रोग का दुखिया मेरा मन किस तरह इन पर विश्वास करे ? ॥११॥

१२६ बकुलावलिका—सखी ! सचमुच तुमने बहुत बार स्वामी से छल किया है, इसलिए तुमको अब इन्हें अपना विश्वास दिलाना होगा।

१२७ मालविका—सखी ! मुझ मन्द-भागिनी के लिए तो स्वप्न में भी भर्ता का मिलन दुर्लभ बना रहा।

१२८ वकुलावलिका—भट्टा देउ सेउत्तरं । [भर्ता ददात्वस्या उत्तरम् ।]

१२९ राजा—

उत्तरेण किमात्मैव पञ्चबाणाग्निसाक्षिकम् ।
तव सख्यै मया दत्तो न सेव्यः सेविता रहः ॥१२॥

---

१२९ उत्तरेण—अन्वयः—उत्तरेण किम् ? मया तव सख्यै पञ्चबाणाग्नि-साक्षिकम् आत्मा एव दत्तः, अहं रहः सेविता, सेव्यः न ।

(पथ्यावक्त्रम्)

उत्तरेण किम् = किम् योग में तृतीया । **मया तव सख्यै** = मैंने तुम्हारी सखी के लिए । पञ्चबाण एव **अग्निः साक्षी यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा** = प्रेम की आग ही जिस बात में गवाह है । काम के पाँच बाण कौन-कौन से हैं—इसके लिए देखिए अंक ३ टिप्पण १७ । **आत्मा एव दत्तः**=अपने आप को ही दे दिया है; उत्तर क्या दूँ । **रहः सेविता**=एकान्त में, अकेले में सेवा करने वाला हूँ, **सेव्यः न**=सेवा किया जाने वाला नहीं अर्थात् मैं इसका सेवक हूँ, सेव्य मालिक, ठाकुर नहीं, यही मेरी ठकुरानी है । मालविका को उत्तर देने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं, काम-रूपी अग्नि को साक्षी बना कर मैंने इसे पहले से ही स्वयं को दे रखा है । भारतीय प्रथानुसार वर-वधू का पाणिग्रहण अग्नि को साक्षी बना कर होता है । देखिए महादेव-पार्वती का विवाह—'वधू' द्विजः प्राह तवैष वत्से ! वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी ।' कुमार० ७-८३ । यहाँ राजा और मालविका के बीच लौकिक अग्नि क्या, स्वयं प्रेम की अग्नि ही साक्षी बन कर दोनों को पति-पत्नी रूप में बांध रही है । इस श्लोक के 'रहः सेविता, न सेव्यः' में यह व्यंग्य है कि अब वकुलावलिका और विदूषक दोनों चले जायँ, क्योंकि राजा

---

१२८ वकुलावलिका—महाराज ! अब इसे उत्तर दीजिए ।

१२९ राजा—

उत्तर क्या दूँ ? मैंने तो प्रेम की आग को साक्षी बना कर अपने-आप

१३० बकुलावलिका—अणुगहिदम्हि। [अनुगृहीतास्मि।]

१३१ विदूषकः—(परिक्रम्य ससंभ्रमम्) बउलावलिए एसो बालासोअरुक्खस्स पल्लवाइ हरिणो लङ्घिदुं आअच्छदि। एहि णिवारेम णं। [बकुलावलिके एष बालाशोकवृक्षस्य पल्लवानि हरिणो लङ्घितुमागच्छति। एहि निवारयाव एनम्।]

अब सेव्य नहीं, जो विदूषक को वहाँ उसकी सेवा में रहना पड़े और बकुलावलिका को अपनी सखी के साथ रह कर उसकी सेवा की आवश्यकता भी जाती ही रही, क्योंकि राजा स्वयं अकेले में उसका सेविता—सेवक—उपस्थित है ही।

१३० अनुगृहीता + अस्मि=मैं बहुत-बहुत आभारी हूँ, आपका बहुत-बहुत धन्यवाद।

१३१ सम्भ्रमेण सहितं यथा स्यात् तथा=हड़बड़ी में। बालश्चासौ अशोकवृक्षः (कर्मधा०) तस्य=अशोक के पौधे के पल्लवानि=कोंपलों को, हरिणः + लङ्घितुम् + आगच्छति=खाने, चरने के लिए आ रहा है। एहि= आओ। निवारयावः + एनम्=इसे रोकें, हटा दें। विदूषक को पता चल गया कि राजा मालविका के साथ एकान्त चाह रहा है, इसलिए बकुलावलिका को साथ लेकर वह वहाँ से किसी बहाने खिसकना चाहता है। पति-पत्नी के लिए एकान्त बनाने के इस तरीके के लिए शकुन्तला-नाटक भी देखिए—"अनुसूये ! यथैष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति। एहि संयोजयाव एनम्" III।

को ही तुम्हारी सखी के हाथ सौंप दिया है; मैं इनका स्वामी नहीं, बल्कि अकेले में सेवा करने वाला दास हूँ॥ १२॥

१३० बकुलावलिका—इसके लिए आपकी आभारी हूँ।

१३१ विदूषक—(हड़बड़ी से घूम कर) बकुलावलिका ! देखो यह मृग अशोकवृक्ष के पौधे की कोंपलों को चरने आ रहा है, इसलिए आओ इसे हटा दें।

१३२ वकुलावलिका—तह। [तथा] (इति प्रस्थिता)

१३३ राजा—एवमस्मद्रक्षणे वयस्येनावहितेन भवितव्यम्।

१३४ विदूषकः—एव्व वि गोदमो णं सन्दिस्सीअदि। [एतदपि गौतमो ननु संदिश्यते।]

१३५ वकुलावलिका (परिक्रम्य)—अज्ज गोदम अहं अप्पआसे चिट्ठामि। तुमं दुवाररक्खओ होहि। [आर्य गौतम ! अहमप्रकाशे तिष्ठामि। त्वं द्वाररक्षको भव।]

---

१३३ एवम् + अस्माकं रक्षणे (ष० तत्पु०)=हमारी देख-भाल के लिए। वयस्येन + अवहितेन भवितव्यम् = मित्र को सावधान रहना होगा। राजा का भाव यह है कि उन्हें चला नहीं जाना चाहिए, परन्तु इधर-उधर घूमते रहना चाहिए जिससे कि यदि इरावती अथवा अन्य कोई आगन्तुक आ जाए, तो वे उसे सूचित कर सकें।

१३४ एतत्+अपि=यह भी, ननु संदिश्यते=सम्+√दिश (तु०) लट् कर्मवा०=क्या गौतम को समझाना पड़ता है ? अर्थात् उसे अपने कर्त्तव्य का भली भाँति ज्ञान है, इस सम्बन्ध में समझाने की आवश्यकता नहीं।

१३५ अहम्+अप्रकाशे=अँधेरे में, छाया में छिपकर। वकुलावलिका यदि द्वार पर रहती, तो शंका हो सकती है कि भीतर मालविका है, दूसरे यदि कोई आ भी जाय, तो विदूषक वकुलावलिका की अपेक्षा टरकाना और बात बनाना खूब जानता है, तीसरे, विदूषक के सो जाने से इरावती और निपुणिका के लिए रंगमंच भी खाली मिल जाता है।

---

१३२ वकुलावलिका —अच्छा ! (यह कह कर चल पड़ती है)

१३३ राजा—मित्र ! हमारी देख-भाल में सावधान रहना।

१३४ विदूषक —गौतम को यह भी कोई समझाने की बात है क्या ?

१३५ वकुलावलिका —(घूम कर) आर्य गौतम ! मैं तो छिपी हुई बैठी रहती हूँ। तुम ड्योढ़ी की चौकसी करो।

१३६ विदूषकः—जुज्जइ। [युज्यते।] (निष्क्रान्ता बकुलावलिका) [परिक्रम्यावलोक्य च]—इदं दाव फलिअत्थलं। आसीणो होमि। [तथा कृत्वा] अहो सुहप्फरिसदा सिलाविसेसस्स। [इदं तावत्स्फटिकस्थलम्। आसीनो भवामि। (तथा कृत्वा) अहो सुखस्पर्शता शिलाविशेषस्य।]

(निद्रायते)

(मालविका समाध्वसा तिष्ठति)

१३७ राजा—विसृज सुन्दरि! सङ्गमसाध्वसं
तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।

---

१३६ स्फटिकस्य स्थलम् (ष० तत्पु०) = बिलौर का फर्श। सुखः स्पर्शो यस्य सः (ब० व्री०) = जिसका स्पर्श सुखप्रद, चिकना है। शिलासु विशेषः तस्य (स० तत्पु०)=सुन्दर शिला। अनिद्रावान् निद्रावान् भवतीति निद्रा + क्यङ् (नामधातु) देखिए किस तरह कर्त्तव्य पालन करता है कमबख्त।

१३७ विसृज—अन्वयः—(हे) सुन्दरि! सङ्गम-साध्वसं विसृज; चिरात् प्रभृति तव प्रणयोन्मुखे सहकारतां गते मयि त्वम् अतिमुक्त-लता-चरितं परिगृहाण। (द्रुतविलम्बित)

सङ्गमस्य साध्वसम् (ष० त०)=मिलने, आलिंगन करने का डर, घबराहट। विसृज=छोड़ दो। लड़कियाँ अपने प्रियतमों के साथ प्रथम मिलन में एक विशेष

---

१३६ विदूषक—ठीक है। (बकुलावलिका खिसक गई) (घूम कर और इधर-उधर देख कर) यह स्फटिक का फर्श है। बैठ जाता हूँ। (वैसा करके) अहा! इस सुन्दर शिला का स्पर्श कितना सुखदायक है।

(सो जाता है)

(मालविका डरी-सी खड़ी रहती है)

१३७ राजा—हे सुन्दरी! तुम मिलन के भय को त्याग दो। कभी से तुम्हारे प्रेम के लिए तड़पते हुए मुझ पर तुम यों लिपट जाओ जैसे माधवी लता आम के वृक्ष पर लिपट जाया करती है॥१३॥

परिगृहाण गते सहकारतां
त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥ १३ ॥

१३८ मालविका—देवीए भएण अत्तणो वि पिअं कादुं ण पारेमि। [देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि।]

१३९ राजा—अयि न भेतव्यम् न भेतव्यम्।

घबराहट अनुभव करती है। देखिए–'कन्या तु प्रथमसमागमे स्विन्नांगुलिः स्विन्न-मुखी च भवति' चिरात् प्रभृति=कभी से। तव प्रणये उन्मुखे (प०तत्पु०)=तुम्हारे प्रेम पर टक लगाये, अर्थात् तुम्हारे प्रेम के लिए अधीर। सहकारस्य भावः ताम् गते = आम का वृक्ष बने, मयि = मुझ पर, अतिमुक्त-लतायाः चरितम् (प० तत्पु० = कुन्दलता का काम। परिगृहाण - अपनाओ, करो। रोमान्स-भरा राजा मधुर शब्दों में मालविका से अपनी घबराहट छोड़ने को कहता है। वह उसे विश्वास दिलाता है कि वह उसके प्रेम के लिए तड़प रहा है और चाहता है कि वह उस पर यों लिपट जाय कि माधवी लता आम के पेड़ से लिपट जाया करती है।

१३८ भयेन + आत्मनः + अपि = महारानी के भय से अपनी प्रिय बात भी कर्तुं न पार० = √पार् (चु० प० सकना) + लट् = कर नहीं सकती हूँ। मालविका का अभिप्राय है कि मैं स्वयं आलिंगन करने को उत्सुक हूँ, पर महारानी धारिणी का डर मुझे खा रहा है।

१३९ भेत० = √ भी (जु० प० डरना) + तव्य (भावे)=नहीं डरना चाहिए।

---

१३८ मालविका—महारानी के डर के कारण मैं अपने मन की चाह पूरी नहीं कर सकती हूँ।

१३९ राजा—नहीं, नहीं, डरने की क्या बात है?

१४० मालविका—(सोपहासम्)—जो ण भाएदि सो मए भट्टिणी-दंसणे दिट्ठसमत्थो भट्टा णं। [यो न बिभेति स मया भट्टिनीदर्शने दृष्ट-सामर्थ्यो भर्ता ननु।]

१४१ राजा—

---

१४० उपहासेन सहितं यथा स्यात् तथा, हँसी, ताने के साथ। भट्टिन्याः दर्शने (प० तत्पु०)=रानी इरावती के दिखाई देने पर। दृष्ट० = दृष्टं सामर्थ्यं यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) भर्ता = आपका सामर्थ्य, शक्ति, साहस देख रखा है। मालविका अपनी लज्जा पर अधिकार रखती हुई राजा को ताना मारने लगती है—आप मेरी कठिनाइयों का अनुभव नहीं कर सकते और मुझे महारानी से न डरने की सलाह दे रहे हैं। महाराज! अपने दिल को भी तो टटोलिये और कहिए क्या स्वयं आप भी महारानी से नहीं डरते? आपकी निडरता की पोल तो तभी मेरे आगे खुल गई थी जबकि अशोक-वृक्ष के तले हमारे मिलन के अवसर पर सहसा रानी इरावतीजी आ गई थीं, (देखिए—'सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा सम्भ्रान्ताः' ३)। जब आप इरावतीजी से ही इतने काँप गये थे, तब तो धारिणीजी से कितना डरते होंगे—आप ही जानें। यदि आप महारानी की परवाह न करके मेरे साथ विवाह करने का साहस करें, तो मैं भी कर सकती हूँ। पहले स्वयं निडर बनो, तब मुझे निडर बनने की सलाह दो।

१४१ दाक्षि० अन्वयः—(हे) बिम्बोष्ठि! दाक्षिण्यं नाम बैम्बिकानां कुल-व्रतम्, तत् (हे) दीर्घाक्षि! ये मे प्राणाः ते त्वदाशा-निबन्धनाः। (पथ्या-वक्त्रम्)।

---

१४० मालविका—(ताने के साथ) जो (अब) नहीं डर रहे हैं, उनका साहस तो मैं तब देख चुकी हूँ जब कि उस दिन रानी इरावती दिखलाई पड़ी थी।

१४१ राजा—हे बिम्ब की तरह ओंठों वाली! प्रेम दिखाने की शिष्टता

दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि ! बैम्बिकानां कुलव्रतम् ।
तन्मे दीर्घाक्षि ! ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥ १४ ॥

तदयमनुगृह्यतां चिरानुरक्तो जनः । (इति संश्लेषमभिनयति)
(मालविका नाट्येन परिहरति)

बिम्बम् इव आष्ठौ यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ=हे बिम्ब फल की तरह (लाल-लाल) ओंठों वाली । दक्षिणस्य भावः दाक्षिण्यम्=एक-जैसा प्रेम दिखाने को शिष्टता, इस शब्द के लिए देखिए इसी अंक की टिप्पणी—१११ । बिम्बस्य गोत्रापत्यानि पुमांसः बैम्बिकाः तेषाम्+बिम्ब के वंश में उत्पन्न हुए राजाओं का । प्रो० पण्डित के अनुसार बिम्ब अग्निमित्र के वंशधरों में से कोई था, लेकिन इस बात का प्रमाण कोई नहीं है, साथ ही यह भी उचित नहीं कि बिम्ब नाम का कोई वंशधर यदि 'दक्षिण' नायक रहा, तो उसके कुल में सभी 'दक्षिण' ही रहेंगे । कुछ टीका-कार बिम्ब का अर्थ मुख लेते हैं और उससे 'बिम्बम् अनुवर्तते' इति 'बैम्बिक' शब्द बनाते हैं, जिसका अर्थ हुआ वह नायक, जो नायिका के मुख को देख कर उसके हृदय के भाव को जान लेता है । ऐसे नायकों के खून में स्त्री-भक्ति भरी रहती है, इस तरह बैम्बिक हुए स्त्री-भक्त । कहीं, 'नायकानां' पाठ भी है, जो स्पष्ट ही है । कुलस्य व्रतम् (ष० तत्पु०) =कुल का नियम है, खानदानी विशेषता है । दीर्घा०=दीर्घे अक्षिणी यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ=विशाल आँखों वाली ये मे प्राणाः ते तव आशा एव निबन्धनं येषां तथाभूताः (ब० ब्री०) = मेरे प्राण तुम्हारी आशा पर टिके हुए हैं । राजा मालविका के ताने का उत्तर दे रहा है कि मेरा इरावती को मनाना डरके कारण था यह बात नहीं मुझे, उसका डर काहे का । यह तो मेरी एक शिष्टता-

---

तो प्रेमी लोगों में कुल का नियम है, किन्तु हे विशाल नयनों वाली ! मेरे प्राण तो तुम्हारी आशा पर ही टिके हुए हैं ॥१४॥

मैं कभी से तुम पर आसक्त हुआ पड़ा हूँ, इसलिए मुझ पर कृपा करो । (यह कह कर गले लगाने का अभिनय करता है)

(मालविका बच कर निकलने का अभिनय करती है)

(आत्मगतम्) रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः । एषा हि

हस्तं कम्पवती रुणद्धि रशनाव्यापारलोलांगुलि
हस्तौ स्वौ नयति स्तनावरणतामालिंग्यमाना बलात् ।

मात्र थी, जो स्त्री-भक्तों में हुआ ही करती है। इसलिए प्रियतमे ! हृदय से मैं तुम्हें छोड़ कर और किसी को प्रेम नहीं करता हूँ। तुम मुझे गलत समझ बैठी हो।

तत्+अयम्+अनुगृह्यताम् चिरं यथा स्यात् तथा अनुरक्तः = कभी से तुम्हारे प्रेम में बँधा हुआ। **संश्लेषम्+अभिनयति** = गले लगाने का अभिनय करता है। **नाट्येन परिहरति** = छुड़ाने का, बचने का अभिनय करती है। देखिए किस तरह कालिदास रंगमंच पर आलिंगन आदि न बता कर औचित्य की रक्षा करता है, ऐसी ही ध्यान के लिए शकुन्तलानाटक भी देखिए—"राजा मुखमस्याः समुन्नमयितुमिच्छति, शकुन्तला नाट्येन परिहरति" III। **नवाश्च ता अङ्गनाः तासाम्** = नव-वधुओं का। प्रियतमों के प्रथम सहवास में आई हुई नवेलियों का **मदनस्य विषये अवतारः** = कामोपभोग। प्रवेश, कामोपभोग की चेष्टाएँ, नखरे।

हस्तम्० अन्वयः—(एषा) कम्पवती रशना-व्यापार-लोलाङ्गुलि (मम) हस्तं रुणद्धि, बलात् आलिङ्ग्यमाना स्वौ हस्तौ स्तनावरणतां नयति, पक्ष्मलचक्षुः आननं पातुम् उन्नमयतः (मे) आननं माचीकरोति, व्याजेन अपि मे अभिलाष-पूरणसुखं निर्वर्तयति एव। (शार्दूलविक्रीडितम्)

कम्पः अस्या अस्तीति **कम्पवती** = काँपती २। **रशनायां यः व्यापारः तस्मिन् लोलाः अङ्गुलयः यस्य तथाभूतम्** (ब० ब्रो०) जिसकी अंगुलियाँ तागड़ी

(मन ही मन) नवेलियों के प्रेम-भरे नखरे कितने सुन्दर लगते हैं। यह काँपती-काँपती अंगुलियों से तागडी खोलने में लगे मेरे हाथ को रोक देती हैं, जब मैं बलपूर्वक आलिंगन करता हूँ, तो अपने दोनों हाथों से स्तनों को ढक

पातुं पक्ष्मलचक्षुरुन्नमयतः साचीकरोत्याननं
व्याजेनाप्यभिलाषपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे ॥ १५ ॥

(ततः प्रविशति इरावती निपुणिका च)

१४२ इरावती—हञ्जे निउणिए सच्चं तुए संदिट्ठं चन्दिआए समुद्द-

खोलने में लगी हुई हैं-ऐसे (मेरे) हस्तं रुणद्धि=हाथ को रोक देती है। देखिए कुमारसंभव —'नाभि-देश-निहितः सकम्पया शङ्करस्य रुरुधे तया करः।' VIII-४। बलात्=हठ-पूर्वक आलिंग्य०=आ+√लिग्+शानच् (कर्मवा०) गले लगाई जाती हुई, स्वौ हस्तौ = अपने हाथों को स्तनयोः आवरणं तस्य भावः ताम् नयति = स्तनों का आवरण बना देती है अर्थात् अपने दोनों हाथों से अपने स्तन ढक देती है। प्रशस्तानि पक्ष्माणि सन्ति अत्र इति पक्ष्मले चक्षुषी यस्मिन् तथाभूतम् (ब०व्री०) सुन्दर पलकों की आंखों वाले (मुख को) पातुम्=पान करने, चूमने के लिए मेरे उन्नमयतः = उठाते हुए आननं साचीकरोति = मुँह टेढ़ा कर लेती है, फेर लेती है, बचा लेती है। देखिए शकुन्तला० 'मुखमंस-विवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु' III—२५। व्याजेन = (नहीं-नहीं करने के) बहाने से, अभिलाषस्य पूरणं तेन यत् सुखं तत् निर्व०=नि+√वृत् +णिच्+लट् निर्वर्तयति=इच्छा पूरी करने का सुख पैदा कर रही है। प्रेमियों को उतना आनन्द इच्छा-पूर्ति में नहीं होता जितना कि उनको प्रियतमाओं द्वारा नहीं-नहीं करने में। भारतीय नाटयशास्त्र के सिद्धान्तानुसार काम-क्रीड़ा दिखाने में औचित्य भंग होता है। इसलिए उसका संकेतमात्र कर देना होता है और द्रष्टागण समझ ही लेते हैं।

१४२ ततः प्रवि० ''च—जब राजा और मालविका पहले से ही रंगमंच

देती हैं, जब मैं सुन्दर पलकों की आँखों वाले इनके मुख को चूमने के लिए ऊपर उठाता हूँ, तो ये उसे फेर लेती हैं; इस तरह (नहीं-नहीं का) बहाना करने से ये मेरी इच्छा-पूर्ति का ही आनन्द मुझे दे रही हैं ॥१५॥

(इरावती और निपुणिका का प्रवेश)

१४२ इरावती—क्या तेरी यह खबर सही है कि चन्द्रिका ने आर्य गौतम

घरअलिन्दए अज्जगोदमो एआई दिट्ठोत्ति। [हञ्जे निपुणिके! सत्यं त्वया संदिष्टं चन्द्रिकया समुद्रगृहालिन्दे आर्यगौतम एकाकी दृष्ट इति।]

१४३ निपुणिका—अण्णहा कहं भट्टिणीए विण्णएमि। [अन्यथा कथं भट्टिन्यै विज्ञापयामि।]

१४४ इरावती—तेण हि तहिं एव्व गच्छम्ह। संसआदो मुत्तं भट्टिणो पिअवस्सं पेक्खिदुं अ। [तेन हि तत्रैव गच्छावः। संशयान्मुक्तं भर्तुः प्रियवयस्यं प्रेक्षितुं च।]

पर हैं, फिर वहीं इरावती और निपुणिका का प्रवेश करवा कर कवि ने मञ्च-निर्देश—स्टेज डाइरैक्शन—की त्रुटि हमारे सामने रख दी। भला अब जब तक इरावती और निपुणिका बातें करती रहेंगी, तब तक राजा और मालविका गूंगे बन कर खड़े रहें—यह कितनी अस्वाभाविक बात है। वास्तव में यह कवि का दोष नहीं बल्कि नाट्यशास्त्र का विधान ही ऐसा है, जिसके अनुसार एक अंक में एक ही दृश्य चलता है। वास्तव में देखा जाय, तो इरावती और निपुणिका वाला दृश्य ही पृथक् होना चाहिए था। समुद्रगृहस्य अलिन्दे (ष० तत्पु०)=समुद्रगृह के बराण्डे में। एकाकी = अकेला। चन्द्रिका फूल तोड़ कर जा रही थी कि उसने बराण्डे की स्फटिक-फर्श पर सोते हुए विदूषक को देख लिया था और जाकर उसने यह बात निपुणिका को कह दी और निपुणिका ने रानी इरावती को। विदूषक का अकेले समुद्र-गृह के बाहर होना सन्देह का कारण बन गया।

१४४ तत्र + एव = वहीं, संशयात् + मुक्तम् = खतरे से बचे हुए। विदूषक मौत के मुंह से बच गया। अन्यथा साँप से काटा मुश्किल से ही बचता है। प्रियश्चासौ वयस्यः तम् (कर्मधा०)=प्रिय मित्र अर्थात् गौतम को, प्रेक्षि-

---

को समुद्र-गृह के बरामदे में अकेले देखा है।

१४३ निपुणिका—नहीं तो मैं क्या यों ही स्वामिनी को कहती?

१४४ इरावती—तब तो चलो, वहीं चलें, स्वामी के प्रिय मित्र, मौत के मुंह से बचे गौतम की कुशल पूछ लें और—

१४५ निपुणिका—सावसेसं विअ भट्टिणीए वअणं। [सावशेषमिव भट्टिन्या वचनम्।]

१४६ इरावती—आम्। चित्तगदं भट्टारं पसादेदुं। [आम्। चित्रगतं भर्तारं प्रसादयितुम्।]

१४७ निपुणिका—अह दाणिं भट्टा एव्व किं ण पच्चणुणीअदि। [अथेदानीं भर्तैव किं न प्रत्यनुनीयते।]

१४८ इरावती—मुद्धे जारिसो चित्तगदो भट्टा ण तारिसो एव्व।

तुम् देखने और…। रानी कुछ और भी कहना चाहती थी, परन्तु निपुणिका के आगे उसे कह डालने में संकोच हो गया।

१४५ अवशेषेण सहितं सावशेषम् + इव = जिसमें कुछ बोलना शेष रहा है।

१४६ अन्ततः रानी बोल ही देती है। चित्रे गतम् (स० तत्पु०)=चित्र में बने हुए, चित्र-स्थितं भर्तारम् प्रसादयितुम् = स्वामी को मनाने। ध्यान रहे कि यह वही चित्र है, जिसे समुद्रगृह में वकुलावलिका ने मालविका को दिखाया है और जिसमें राजा प्रेम-भरी दृष्टि से इरावती को निहार रहे हैं। विदूषक को समुद्रगृह में पाकर रानी को शंका हो गई कि जरूर दाल में कुछ काला है, पर उसे निश्चय कुछ नहीं हो पाया।

१४७ अथ + इदानीम् भर्ता + एव किं न प्रत्य० = प्रति + अनु + √नी+लट् (कर्मवा०)=निपुणिका को आश्चर्य हो रहा है कि रानी प्रत्यक्ष महाराज को न मनाकर उनके चित्र को मनाने को कहती हैं।

१४८ यादृशः + चित्रगतः + भर्ता = स्वामी चित्र में इरावती पर प्रेमा-

---

१४५ निपुणिका—आप कुछ और भी बोलना चाहती हैं।

१४६ इरावती—हाँ, चित्र में बनाये हुए स्वामी को मना लें।

१४७ निपुणिका—किन्तु स्वयं स्वामी को ही अब क्यों न मना लिया जाय?

१४८ इरावती—अरी पगली! स्वयं स्वामी अब वैसे कहाँ रहे जैसे चित्र

अण्णसङ्कन्दहिअओ अज्जउत्तो। केवलं उवआरादिक्कमं पमज्जिदुं अम्हाणं अअं आरम्भो। [मुग्धे ! यादृशश्चित्रगतो भर्ता न तादृश एव। अन्यसंक्रान्तहृदय आर्यपुत्रः। केवलमुपचारातिक्रमं प्रमार्ष्टुमस्माकमयमारम्भः।]

१४६ निपुणिका—इदो इदो भट्टिणी। [इत इतो भट्टिनी।] (उभे परिक्रामतः)

१५० चेटी—(प्रविश्य) जेदु भट्टिणी। देवी भणादि। ण मे एसो मच्छरस्स कालो। केवलं तुह खु बहुमाणं वड्ढेदुं वअस्सिआए सह

सक्त बने हुए हैं, किन्तु प्रत्यक्ष में वे अब मालविका पर प्रेमासक्त हैं। **अन्यस्यां संक्रान्तं हृदयं** यस्य तथाभूतः (ब० व्री०)=दूसरी पर जिनका दिल लगा हुआ है **केवलम् + उपचारस्य + अतिक्रमं प्रमार्ष्टुम् + अस्माकम् + अयम् आरम्भः** = शिष्टाचार का उल्लंघन जो मैं मद के नशे में कर बैठी हूँ, उसे धोने के लिए यह मेरा प्रयत्न है। असली महाराज को मैं क्या मनाऊँ जो मुझे अब प्रेम ही नही करते हैं। पैरों पर पड़ने पर भी जो वह नहीं मानी उस गलती का अब उसे अनुभव हो रहा है और वह उसका प्रायश्चित्त करना चाहती है। वह उसके लिए चित्र में बने महाराज से क्षमा माँगना चाहती है जो उस पर इतने अनुरक्त हैं।

१५० **मत्सरस्य** = ईर्ष्या का। बहुश्चासौ मानः (कर्मधारय) तम्=तुम्हारे बहुत मान को। **वर्ध०** = √वृध् + णिच् + तुम् = बढ़ाने के लिए। **वयस्यया सह**=सखी सहित। **यदि+अनुमन्यसे** = यदि तुम्हारी स्वीकृति हो। **आर्यपुत्रम्+अपि तव कृते**=तुम्हारे लिए **विज्ञापयिष्यामि** वि+√ज्ञा+णिच्+

में हैं। उनका हृदय तो अब किसी और ही जगह लग गया है। उनके प्रति जो मैंने शिष्टता का उल्लंघन किया है, उसी को धोने के लिए यह मेरा प्रयत्न है।

१४६ निपुणिका—इधर, इधर स्वामिनी। (दोनों घूमती हैं)

१५० चेटी—(प्रवेश करके) स्वामिनी की जय हो ! महारानी कह रही हैं कि ईर्ष्या करने का मेरा यह समय तो रहा नहीं। केवल तुम्हारा बड़ा आदर-

णिअलबन्धणे किदा मालविआ। जइ अणुमण्णेसि अज्जउत्तं कि तुह किदे विण्णविस्सं। जं तुह इच्छिदं तं भणाहित्ति। [जयतु भट्टिनी। देवी भणति—न मे एष मत्सरस्य कालः। केवल तव खलु बहुमानं वर्धयितुं वयस्यया सह निगडबन्धने कृता मालविका। यद्यनुमन्यसे आर्यपुत्रमपि तव कृते विज्ञापयिष्यामि। यत्तवेष्टं तद्भण इति।]

१५१ इरावती—णअरिए विण्णवेहि देविं। का वअं भट्टिणिं-

लूट् = निवेदन कर दूंगी। यत् + तव + इष्टम् तत् + भण = मुझे बता दो कि तुम क्या चाहती हो? धारिणी के सन्देश का भाव यह है कि "तुम्हारा मन रखने के लिए ही मैंने मालविका को कैद कर रखा है। मुझे मालविका के प्रति महाराजा के प्रेम का विरोध नहीं करना है। मैं अब प्रौढ़ हो चली हूँ। मेरा पुत्र आज राज्य का सेनापतित्व सँभाले हुए है। मेरे यौवन का रोमांस समाप्त ही समझो। एक हिन्दू-नारी को तरह मुझे अपने पति को सुख पहुँचाना है, दुःख का कारण नहीं बनना है। इसलिए वे मालविका से प्रेम करते हैं तो करें मैं संघर्ष में नहीं पड़ूँगी। हाँ, तुम युवावस्था में हो, अतः मालविका अवश्य तुम्हारे मार्ग में कण्टक है और उसी के कारण तुम्हारे और स्वामी के मध्य मन-मुटाव हो गया है। मैं समझौता कराने के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करती हूँ। तुम अपनी स्वीकृति दो"। यहाँ धारिणी के चरित्र की उदारता, सहिष्णुता और पति के लिए त्याग की भावना व्यक्त हो रही है।

१५१ नियोजयितुम्=नि + √युज् + णिच् + तुम्, का वयम् = हम आप

सम्मान बढ़ाने के लिए ही मैंने सखी सहित मालविका को बेड़ियाँ डालकर बन्द कर रखा है। यदि तुम स्वीकार करो, तो मैं तुम्हारे लिए आर्यपुत्र से निवेदन कर दूँगी। जो कुछ तुम चाहती हो, कहो।

१५१ इरावती—नागरिका! महारानी को कहना कि आपको काम में

णिओएदुं। पैरिअणणिग्गहेण मइ दंसिदो सिणेहो। कस्स वा अण्णस्स पसादेण अअं जणो वड्ढदित्ति। [नागरिके ! विज्ञापय देवीम्। का वयं भट्टिनीं नियोजयितुम्। परिजननिग्रहेण मयि दर्शितः स्नेहः। कस्य वान्यस्य प्रसादेनायं जनो वर्धत इति।]

१५२ चेटी—तह [तथा।] (इति निष्क्रान्ता)

१५३ निपुणिका—(परिक्रम्यावलोक्य च) भट्टिणी एसो दुवारुच्छङ्गे समुद्दघरस्स विवणिगदो विअ वुसहो अज्जगोदमो आसीणो एव्व णिद्दाअदि [भट्टिनि ! एष द्वारोत्सङ्गे समुद्रगृहस्य विपणिगत इव वृषभ आर्यगौतम आसीन एव निद्रायते।]

से काम कराने वाली कौन होती हैं। देखिए इरावती के हृदय में अब भी क्रोध भरा हुआ है। फिर भी उसे विवश होकर धारिणी को स्वीकृति देनी पड़ रही है। परिजनस्य निग्रहेण (ष० तत्पु०) = दासी (मालविका) को कारागार में वन्द कर देने से। मयि दर्शितः स्नेहः = मेरे प्रति आपने अपना स्नेह दिखाया है। वा+अन्यस्य प्रसादेन अयं जनः = और दूसरा कौन है. जिसके अनुग्रह से मैं बढ़-चढ़ रही हूँ अर्थात् आपकी कृपा से ही मुझे आदर-मान मिल रहा है, आप ही मेरी बढती के कारण हैं।

१५३ परिक्रम्य + अवलोक्य च = घूम कर और देख कर। द्वारस्य उत्सङ्गः (ष० तत्पु०) = ड्योढ़ी के बीच। विपण्यां गतः (स० तत्पु०) वृषभ

लगाने वाली हम होती ही कौन हैं ? आपने दासियों को कारागार में वन्द करके मुझ पर अपना स्नेह दिखाया है अथवा और दूसरा कौन है जिसकी कृपा से हमें आदर-मान मिल रहा है ?

१५२ चेटी—अच्छा। (चली जाती है)

१५३ निपुणिका—स्वामिनी ! समुद्र-गृह के वराण्डे के मध्य में आर्य गौतम बाजार के साँड की तरह बैठे-बैठे ही सो रहे हैं।

१५४ इरावती—अच्चाहिदं। ण क्खु सावसेसविसविआरो भवे। [अत्याहितम्। न खलु सावशेषविषविकारो भवेत्।]

१५५ निपुणिका—पसण्णमुहो दीसइ। अवि अ धुवसिद्धिणा चिइ-च्छिदो। ता से असङ्कणिज्जं पावं। [प्रसन्नमुखो दृश्यते। अपि च ध्रुवसिद्धिना चिकित्सितः। तदस्य अशङ्कनीयं पापम्।]

इव = बाजार में घूमने-फिरने वाले साँड, बाजार के साँड की तरह। **आसीनः**= आ + √सद् + शानच् = बैठा हुआ। **निद्रायते**=देखिए इसी अङ्क का टिप्पण १३६। देखिए कैसी परिहास-पूर्ण तुलना है। विदूषक और साँड दोनों दान पर पलने वाले हैं।

१५४ **अत्याहितम्** = किसी बड़े भय, संकट को कहते हैं। **अवशेषेण सहितः इति सावशेषः** (ब० व्री०) **सावशेषश्चासौ विषस्य विकारः** = विष का विकार कुछ बाकी तो नहीं रह गया है? 'खलु' शब्द प्रश्नवाचक है। इरावती को असमय और अस्थान में पड़े विदूषक को देख कर डर पैदा हो रहा है कि बेचारा कहीं विष के प्रभाव में ही न पड़ा हुआ हो।

१५५ **प्रसन्नं मुखं यस्य तादृशः** (ब० व्री०) = प्रसन्न चेहरे वाला। निपुण निपुणिका तत्काल रानी का सन्देह दूर कर देती है कि विष होता, तो इसका चेहरा प्रसन्न न होकर काला पड़ा रहता। **न शङ्कनीयम्** (नञ् तत्पु०) **पापम्** = बुरी बात, खतरा, सङ्कट।

---

१५४ इरावती—यह तो बड़ी बुरी बात हुई। कहीं विष का बचा-खुचा विकार तो न हो?

१५५ निपुणिका—चेहरा तो प्रसन्न दीख रहा है, साथ ही इनका

१५६ विदूषकः—(उत्स्वप्नायते)—होदि मालविए ! [भवति मालविके !]

१५७ निपुणिका—सुदं भट्टिणीए ? कस्स वि एसो अत्तणीणो हदासो किदवो । सव्वकालं इदो एव्व सोत्थिवाअणमोदएहिं कुक्खिं पूरिअ संपदं मालविअं उस्सिविणावेदि । [श्रुतं भट्टिन्या ? कस्याप्येष आत्मनीनो हताशः कितवः । सर्वकालमित एव स्वस्तिवाचनमोदकैः कुक्षिं पूरयित्वा साम्प्रतं मालविकामुत्स्वप्नायते ।]

१५६–१५७ उत्स्वप्नायते = उद्गतः स्वप्नः यम् उत्स्वप्नः, उत्स्वप्न इव आचरतीति अथवा अनुत्स्वप्न उत्स्वप्नो भवतीति उत्स्वप्न+क्यङ् +लट् (नामधा०) =स्वप्न में बड़बड़ाता है। व्याकरण की दृष्टि से कालिदास का 'उत्स्वप्नायते' मालविकाम् वाला दूसरा प्रयोग चिन्त्य है। 'भवति' अर्थ या आचार–अर्थ में क्यङ् होने से धातु अकर्मक होता है, परन्तु यहाँ 'उत्स्वप्नायते' का कर्म 'मालविकाम्' बना रखा है। वस्तुतः यहाँ 'प्रातिपादिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्टवच्च' इस वार्तिक-द्वारा स्वप्ने (मालविकाम्) उच्चारयीति इस अर्थ में णिच् ही हो सकता है जिसमें 'उत्स्वप्नयति' या 'उत्स्वप्नयते' यही रूप बन सकता है 'उत्स्वप्नायते' नहीं। अस्तु। क्या विदूषक सचमुच सो ही रहा था या सोने का बहाना बना रहा था ? क्या हम इसका यह मतलब नहीं लगा सकते कि वह निद्रा के बहाने में था और

इलाज स्वयं ध्रुवसिद्धि ने किया है, इसलिए किसी बुरी बात की शंका नहीं करनी चाहिये।

१५६ विदूषक—(स्वप्न में बड़बड़ाता है) मालविकाजी !

१५७ निपुणिका—सुना है स्वामिनी ने ? यह अभागा धूर्त क्या किसी का भी अपना बना ? सदा आपके यहाँ से तो आशिष् देने के लड्डू लेकर पेट भरता है और अब स्वप्न ले रहा है मालविका का।

१५८ विदूषकः—इरावदिं अदिक्कामन्दी होहि। [इरावतीमतिक्रामन्ती भव।]

१५९ निपुणिका—सुदं एवं अच्चाहिदम्। इमं भुअङ्गभीरुअं बम्हबन्धुं इमिणा भुअङ्गकुडिलेण दण्डकट्ठेण थम्भन्दरिदा भविअ भीसअम्हि। [श्रुतमेतदत्याहितम्। इमं भुजङ्गभीरु ब्रह्मबन्धुमनेन भुजङ्गकुटिलेन दण्डकाष्ठेन स्तम्भान्तरिता भूत्वा भीषयिष्ये।]

मालविका को सचेत कर रहा है कि उनके मार्ग में विघ्न आ गया है, खिसक कर कहीं छिप जाओ। आत्मने हितः आत्मन् + ख (इन्) = अपना भला करने वाला यह किसका भी अपना है ? कितवः=धूर्त अर्थात् यह अभागा (हताश) क्या किसी का भी भला करने वाला है ? सर्वश्चासौ कालः तम् (काल-सातत्य में द्वितीया) नित्य, सदा। स्वस्तिवाचने दत्ता मोदका (मध्यमपदलोपी स०) स्वस्ति-वाचन, पुण्याहवाचन नामक मांगलिक क्रिया के अवसर पर ब्राह्मण यजमान को 'स्वस्ति' (कल्याण) कहते हैं और ब्राह्मणों को मिष्टान्न और दक्षिणा दी जाती है। कुक्षि पूर०=पेट भर कर। मालविकाम् स्वप्न० = मालविका का स्वप्न ले रहा है अर्थात् यह पेटू स्वस्तिवाचन के लड्डू तो आप से लेता है और उधर मालविका का भला चाह रहा है—कितना कृतघ्न है ?

१५८ इरावतीम् + अति + √क्रम् + शतृ + ङीप् (स्त्री) अति० भव =इरावती को मात करने वाली बनो अर्थात् उससे आगे बढ़ जाओ। इसका यह भी अर्थ हो सकता है—इरावती से बच निकलो।

१५९ श्रुतम् + एतत् + अत्याहितम् + सुनी है यह बुरी बात ? यह मुसीबत आप पर आ पड़ी है। भुजङ्गान् + भीरुः तम् (प० तत्पु०) = साँप से

---

१५८ विदूषक—'इरावती से आगे बढ़ने वाली बन जाओ'।

१५९ निपुणिका—सुना ? कितनी बुरी बात है। सांप से डरने वाले इस भट्टे को सांप-जैसे टेढ़े-मेढ़े इस लकड़ी के डण्डे से खम्भे के पीछे छिप कर डराऊँगी।

१६० इरावती–एसो अरुहदि किदवा सप्पदंसस्स । [एषोऽर्हति कितवः सर्पदंशस्य ।] (निपुणिका विदूषकस्योपरि दण्डकाष्ठं पातयति ।)

१६१ विदूषकः (सहसा प्रतिबुध्य)—अविहा अविहा । भो दव्वीअरो मे उअरि पडिदो [अविहा अविहा । भो दर्वीकरो मे उपरि पतितः ।]

१६२ राजा (सहसोपसृत्य)—सखे न भेतव्यम्, न भेतव्यम् ।

डरने वाले ब्रह्मबन्धुम् = भट्टुड़े को। भुजङ्गवत् कुटिलेन (कर्मधारय)=सांप की तरह टेढ़े-मेढ़े, दण्डकाष्ठेन=डंडे की लकड़ी से, स्तम्भेन अन्तरिता (तृ० तत्पु०) खम्भे की आड़ में छिपी । भीष०=√भी + णिच् + लट् = डराऊँगी । निपुणिका विदूषक के लिए प्रयुक्त इरावती के 'अत्याहितम्' शब्द का परिहास उड़ा रही है अर्थात् 'अत्याहित' विदूषक को नहीं आपको है, जिनकी स्थिति पर मालविका पानी फेर रही है ।

१६० एषः + अर्हति, सर्पस्य दंशः तस्य (सम्बन्ध-विवक्षा में षष्ठी) = यह धूर्त सांप द्वारा डसने योग्य ही है । इरावती को विदूषक पर क्रोध आ जाता है और झट उसमें बदला लेने की भावना उत्पन्न हो जाती है कि मुआ डसा ही जाने योग्य है ।

१६१ प्रति० = प्रति+बुध् + ल्यप्=जाग कर । अविहा ! = दुःख-बोधक अव्यय । दर्वीकरः = सांप ।

१६२ सहसा उपसृत्य = एकाएक पास आकर ।

---

१६० इरावती—यह धूर्त सांप द्वारा डसे जाने योग्य ही है ।

(निपुणिका विदूषक के ऊपर लकड़ी का डण्डा गिरा देती है)

१६१ विदूषक—(एकाएक जाग कर) हाय, हाय ! अरे ! मेरे ऊपर सांप पड़ गया है ।

१६२ राजा—(एकाएक पास आकर) मित्र ! मत डरो, मत डरो ।

१६३ मालविका (अनुसृत्य)—भट्टा मा दाव सहसा णिक्कम। सप्पोत्ति भणादि। [भर्तः मा तावत्सहसा निष्काम। सर्प इति भणति।]

१६४ इरावती—हद्धि हद्धि भट्टा इदो एव्व धावइ। [हा धिक् हा धिक् भर्ता इत इव धावति।]

१६५ विदूषकः (सप्रहासम्)—कहं दण्डकठ्ठं एदं। अहं उण जाणे जं मए केदईकण्टएहिं दंसं करिअ सप्पस्स विअ दंसो किदो तं फलिदंति। [कथं दण्डकाष्ठमेतत्। अहं पुनर्जाने यन्मया केतकीकण्टकैः दशं कृत्वा सर्पस्येव दशः कृतः तत्फलितमिति।]

(प्रविश्य पटीक्षेपेण)

---

१६३ निष्काम=निस् + √क्रम्+लोट्=निकलो, बाहर आओ। मालविका अपने भर्ता के लिए प्रेम-भरी चिन्ता प्रकट कर रही है। यहाँ व्यंग्य से सर्पिणी-जैसी इरावती की ओर भी संकेत हो जाता है।

१६४ हा धिक् = घृणा, निन्दा, खेद-वाचक अव्यय। इरावती स्वामी के पीछे-पीछे मालविका को आती देख कर आग-बगूला हो जाती है। उसकी शंका सही निकली।

१६५ प्रहासेन सहितं यथा स्यात् तथा=हँस कर। केतक्याः कण्टकानि तैः (ष० तत्पु०)=केवड़े के काँटों से। सर्पस्य + इव = साँप का जैसा दंशः= घाव। तत् फलितम्=उसका फल मिला है। हम पीछे बता आये हैं कि विदूषक

---

१६३ मालविका—(पीछे-पीछे आकर) स्वामी! एकाएक बाहर मत निकलिये। वह साँप बतला रहा है।

१६४ इरावती—हाय, हाय! स्वामी इधर ही दौड़े आ रहे हैं।

१६५ विदूषक—(हँस कर) अरे! क्या यह लकड़ी का डंडा है? मैं तो समझा था कि केवड़े के काँटों से घाव करके साँप का-सा काटा हुआ जो मैंने दिखाया था, उसी (करनी) का यह फल मिला है।

(परदे को हटा कर प्रवेश करके)

१६६ बकुलावलिका—**मा दाव भट्टा पविसदु। इह कुडिलगः सप्पो विअ दीसइ।** [मा तावत् भर्ता प्रविशतु। इह कुटिलगतिः सर्प इव दृश्यते।]

१६७ इरावती (राजानं सहसोपसृत्य)—**अवि णिव्विग्घमणोरहो दिवासङ्केदो मिहुणस्स।** [अपि निर्विघ्नमनोरथो दिवासङ्केतो मिथुनस्य।]

(सर्वे इरावतीं दृष्ट्वा संभ्रान्ताः)

ने अपने हाथ के अँगूठे पर केवड़े के काँटों से स्वयं घाव कर के यह हल्ला मचाया कि मुझे साँप डस गया है। इस धोखा देने वाले को अपने पाप का फल मिलना ही है। सिर पर लकड़ी के पड़ते ही उसने समझा कि सचमुच मेरे ऊपर साँप ही पड़ गया है और मेरी करनी का फल मुझे दे दिया गया है।

१६६ "पटी-क्षेप" पर्दे को हटा कर आने का मञ्चीय निर्देश है। उत्तेजना के क्षण में पात्र पर्दे के बगलों में से न आकर पीछे से पर्दा हटा कर ही आता है। **कुटिला गतिः यस्य सः** (ब० व्री०)=टेढ़ी-मेढ़ी चाल वाला, सर्प इव—सर्प-जैसा। सर्पिणी-जैसी इरावती की ओर संकेत है।

१६७ **निर्गतः विघ्नो यस्मात्** तथाभूतः (ब० व्री०) **निर्विघ्नो मनोरथो यस्मिन्** तथाभूतः (ब० व्री०) **दिवा-संकेतः**—मध्याह्न में मिलन का संकेत। ईर्ष्या से जली-भुनी इरावती का ताना-भरा यह कैसा अनोखा शिष्टाचार—आदर मान है! उसने अनुमान लगाया कि दोनों प्रेमियों का यह मिलन पहले से ही निश्चित हो रखा होगा। दो प्रेमियों के विशेष-स्थान और समय पर परस्पर मिलने के निश्चय को 'संकेत' कहते हैं।

---

१६६ **बकुलावलिका**—महाराज! उधर मत जाइये, मत जाइये। वहाँ टेढ़ा-मेढ़ा चलता हुआ साँप-जैसा दिखाई दे रहा है।

१६७ **इरावती**—(एकाएक राजा के पास आकर) 'दिन में मिलने का संकेत करने वाली जोड़ी का मनोरथ निर्विघ्न पूरा हो गया है न?

(इरावती को देख कर सब घबरा गये)

१६८ राजा—प्रिये अपूर्वोऽयमुपचारः

१६९ इरावती—बउलावलिए दिट्ठआ दोचहि आरविसआ संपुण्णा दे पडिण्णा। [बकुलावलिके ! दिष्ट्या दूत्यधिकारविषया संपूर्णा ते प्रतिज्ञा।]

१७० बकुलावलिका—पसीदृदु भट्टिणी ! किं णु खु दद्दुरा वाहरन्दित्ति देव्वो पुढवि विसुमरेदि किं मए किदंति देव्वो पुच्छिदव्वो। [प्रसीदतु भट्टिनी। किं नु खलु दर्दुरा व्याहरन्तीति देवः पृथिवीं विस्मरति। किं मया कृतमिति देवः प्रष्टव्यः।]

---

१६८ अपूर्वः + अयम् + उपचारः—उपचार, शिष्टाचार मिलते समय 'नमस्ते' आदि कह कर आदर-मान करने को कहते हैं। राजा इरावती के आदर-मान करने के प्रकार को देखकर अचम्भित हो जाता है और उसे टरकाना ही चाहता है।

१६९ दिष्ट्या=सौभाग्य की बात है कि—इस अर्थ में अव्यय। दूत्या अधिकार विषयः यस्मिन् तथाभूता (ब० व्री०) दूती–कुट्टनी के काम के विषय की प्रतिज्ञा। इरावती के कथन में विष भरा हुआ है, वह बड़ा ताना कस रही है और बकुलावलिका को ही युगल के मिलन का अपराधी समझती है।

१७० दर्दुराः—मेंढक, व्याहरन्ति (वि + आ √हृ (भ्वा०) + लट् = बोलते हैं, टरटराते हैं—इस कारण देवः=इन्द्र—जो वर्षा किया करता है, विस्मरति = (पृथ्वी को) भूल जाता है क्या ? इरावती का सबसे प्रबल प्रहार

---

१६८ राजा—प्रियतमा ! आदर-मान करने का तुम्हारा यह अनोखा ही प्रकार है।

१६९ इरावती—बकुलावलिका ! सौभाग्य की बात है कि दूती के कार्य के विषय में तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी है न ?

१७० बकुलावलिका—स्वामिनी ! अप्रसन्न न होइए। "मेंढक टरटरा रहे हैं" इस कारण क्या इन्द्रदेव पृथ्वी को भूल जाते हैं ? मेरा इसमें क्या हाथ है—यह स्वयं महाराज से ही पूछ लीजिए।

१७१ **विदूषकः—मा दाव । होदीए दंसणमत्तेण अत्तभवं पणिवाद-लङ्घणं विसुमरिदो । होदी उण अज्जवि पसादं ण गेण्हादि ।** [मा तावत् । भवत्या दर्शनमात्रेणात्रभवान् प्रणिपातलङ्घनं विस्मृतः । भवती पुनरद्यापि प्रसादं न गृह्णाति ।]

वकुलावलिका पर ही है । वह बेचारी बड़ी चतुराई और ठकुरसुहाती से रानी को शान्त करना चाहती है । वह अपने अपराध का प्रतिवाद करती है और रजा तथा मालविका को प्रेम-कहानी तक को भी निराधार सिद्ध कर देती है । वह अन्योक्ति द्वारा कहती है वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में पानी के लिए मेंढकों के टरटराते रहते हुए भी इन्द्र पृथ्वी को नहीं भूल जाता है । एक-दो बौछारें वह वेशक मेंढकों को दे देता है, पर असली वृष्टि वह पृथ्वी को रस-सिक्त करने के लिए ही किया करता है । इन्द्र बना राजा, पृथिवी बनी इरावती और मेंढक बने मालविका और वकुलावलिका । भाव यह निकला कि मालविका पर थोड़ी-सी कृपा कर देने पर भी इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह राजा के हृदय से इरावती का प्रेम हटा दे । आख़िरकार मालविका दासी ही ठहरी, रानी नहीं । किं... **प्रष्टव्यः** वकुलावलिका अपने को निरपराध सिद्ध करने के लिए स्वयं राजा को ही अपना गवाह बनाती है ।

१७१ **दर्शनम् + एव दर्शनमात्रं तेन**=आपके दर्शनों से ही, **प्रणिपातस्य लङ्घनम्** (ष० तत्पु०)=पैरों पर पड़ जाने पर भी ठुकरा देना । **देवः विस्मृतः**=महाराजा भूल जाते हैं । **भवती**=आप **पुनः + अद्य + अपि**=तो अब तक भी । **प्रसादं न गृह्णाति**=प्रसन्न नहीं हो रही है । विदूषक की चतुराई देखिए कि किस तरह महाराजा के हृदय में इरावती के लिए अखण्ड प्रेम बताकर उसे शान्त और प्रसन्न करना चाहता है । उसका भाव यह है कि महाराज तो आपके दर्शन-मात्र से आपके उनके प्रति किए अपराध को भूल गए हैं और आप

---

१७१ विदूषक—ऐसा न कहिए । आप के दर्शनों से ही महाराज आपके उस अपराध को भूल गए हैं, जो आपने उनकी चरण-वन्दना को ठुकरा कर किया था । फिर भी आप अब तक प्रसन्न नहीं हो रही हैं ।

१७२ इरावती – कुविदा वि दाणिं किं करिस्सं। [कुपितापीदानीं किं करिष्यामि।]

१७३ राजा – अस्थाने कोप इत्येतदनुपपन्नं त्वयि। तथा हि

कदा मुखं वरतनु ! कारणादृते
तवागतं क्षणमपि कोपपात्रताम्।
अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमण्डला
विभावरी कथय कथं भविष्यति ॥ १६ ॥

देखो तो इतनी कठोर हैं कि महाराजा पर अब भी रूठी हुई ही हैं। अपने इस हठीले रुख से आप अपने को राजा के प्रेम से वञ्चित करके उन्हें और ही तरफ दिल लगाने को विवश कर रही हैं। कितना मक्कार है भट्टुड़ा !

१७२ कुपिता+अपि+इदानीं=यदि रूठी हुई भी रहूँ, तो मैं स्वामी का कर ही क्या सकती हूँ ? निराश हुई बेचारी इरावती अपनी विवशता का अनुभव करती है और मालविका के चक्कर में फँसे स्वामी को अपने प्रभाव में लाने में निराश हो बैठती हैं।

१७३ अस्थाने = बे-जगह, बेमौके, बिना बात के—अर्थ में अव्यय है ! इति + एतत् + अनुपपन्नम् = इस तरह यह ठीक नहीं है। राजा अपनी निर्दोषता का राग अलाप रहा है और इरावती के कोप को निराधार ही बता रहा है।

कदा०—अन्वयः—(हे) वरतनु ! तव मुखं कारणात् ऋते कदा क्षणम् अपि कोप-पात्रताम् आगतम् ? विभावरी अपर्वणि ग्रह-कलुषेन्दु-मण्डला कथं भविष्यति ? कथय। (रुचिरा)

वरा तनुः यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ = हे सुन्दर देह वाली। तव मुखम् = तुम्हारा मुख, कारणात् ऋते = कारण के बिना। ऋते के योग में पञ्चमी

---

१७२ इरावती—अप्रसन्न हुई भी मैं इनका अब कर ही क्या सकती हूँ ?

१७३ राजा—बिना बात के अप्रसन्न हुई हो-यह तुम में ठीक नहीं। देखोः—

सुन्दरी ! बिना कारण के तुम्हारा मुख क्षण भर के लिए भी कब क्रोध

१७४ इरावती-अट्ठाणेत्ति सुट्ठु वाहरिदं अज्जउत्तेण ' अण्णसङ्कन्देसु अम्हाणं भाअहेएसु जइ उण कुप्पेअं तदो अहं हस्सा भवेअ । [अस्थान इति सुष्ठु व्याहृतमार्यपुत्रेण । अन्यसङ्क्रान्तेष्वस्माकं भागधेयेषु यदि पुनः कुप्येयम् ततोऽहं हास्या भवेयम् ।]

होती है । कोपस्य पात्रं तस्य भावः तत्ता ताम् आगतम् = कब कोप का पात्र बना ? अर्थात् तुम बिना कारण के कभी नाराज नहीं हुई । विभावरी = रात न पर्व इति अपर्व तस्मिन् (नञ् तत्पु०)=अब पूर्णमासी का पर्व न हो, ग्रहण कलुषम् इन्दोः मण्डलम् यस्यां तथाभूता (ब० ब्री०)=ग्रहण से काले बने चंद्रमा के मण्डल वाली । कथं भविष्यति=कैसे होगी ? राजा रानी की ठकुरसुहाती करने लगता है कि तुमने इससे पहले कभी बिना बात के क्रोध नहीं किया है ? चन्द्रमा ग्रहण से काला तभी होता है जबकि पूर्णमासी का दिन हो । बिना पूर्णिमा के ग्रहण होता ही नहीं । परन्तु अब तुम बिना कारण के ही क्यों रूठने लगी हो ? इस तरह के भाव के लिए देखिए मालविकाग्नि० I १८ "प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारण-कोपाः कुटुम्बिन्य." ।

१७४ व्याहृतम् + आर्यपुत्रेण = आपने कहा । अन्यस्यां संक्रान्तेषु + अस्माकं भागधेयेषु = जब हमारा सौभाग्य दूसरी के पास चला जाय अर्थात् हमारा भाग्य जब दूसरी छीन ले । कुप्येयम् = रूठूँ । ततः + अहम् हसितुं योग्या हस् + य = उपहास की पात्र । इरावती इस तरह की चिकनी-चुपड़ी बातों में नहीं आ सकती, उसे प्रसन्न करना कठिन है । वह राजा के 'अस्थाने कोप' का उलटा अर्थ करती है अर्थात् 'बिना बात का क्रोध' यह आपका कहना सही है । मैं अनुभव करती हूँ कि मेरा क्रोध बेकार है, आपका जब मुझ पर प्रेम ही नहीं, तो आप मेरे क्रोध की परवाह ही क्या करेंगे ? रूठ कर मेरी ही हँसी होगी । काश ! यह मुझे पहले पता होता ।

का पात्र बना ? बिना पूर्णमासी आए रात ग्रहण से काले बने चन्द्रमण्डल वाली कैसे हो सकती है—कहो ।।१६।।

१७४ इरावती—'बिना बात के अप्रसन्न हुई हो'—यह आपने ठीक

१७५ **राजा**—त्वमन्यथा कल्पयसि। अहं पुनः सत्यमेवात्र कोपस्थानं न पश्यामि। कुतः—

नार्हति कृतापराधोऽप्युत्सवदिवसेषु परिजनो बन्धम्।
इति मोचिते मयैते प्रणिपतितुं मामुपगते च ॥१७॥

---

१७५ **त्वम् अन्यथा कल्पयसि**=तुम शब्दों का और ही अर्थ कर रही हो। राजा उसके 'अन्य संक्रा त-हृदय' शब्द से यह जान गया है कि यह समझ रही है कि मेरा प्रेम-भाग्य अब मालविका को मिल गया है। इसलिए राजा उसे विश्वास दिलाता है कि यह उसकी निरी भ्रान्ति है, क्योंकि मालविका की उपस्थिति का कारण प्रेम-व्यापार नहीं, बल्कि और ही है। **सत्यम्+एव+अत्र कोपस्य स्थानम्**=सचमुच कोप की बात **न पश्यामि**=नहीं देख रहा हूँ।

नार्ह०—**अन्वयः**—कृतापराधः अपि परिजनः उत्सवदिवसेषु बन्धं न अर्हति—इति मया एते मोचिते; मां प्रणिपतितुम् उपगते च। (आर्या)

कृतः अपराधो येन सः (ब० व्री०) **अपराधी परिजन**=नौकर-चाकर **उत्सवस्य दिवसाः** तेषु (ष० तत्पु०)=उत्सव के दिनों में **बन्धं न अर्हति**= बन्धन के योग्य नहीं होते, उन्हें छोड़ दिया जाता है। **इति**=इस कारण। **एते मोचिते**=√मुच्+णिच्+त (कर्मणि)=इन दोनों दासियों को मैंने छुड़ा दिया है। राजा भी पक्का धूर्त है। वह विदूषक द्वारा बताई ज्योतिषियों की भविष्य वाणी को आधार बना कर मालविका और बकुलावलिका को छोड़ देने का कारण बता देता है। कुमार-जन्म, ग्रह-शान्ति, विवाह आदि उत्सवों

ही कहा है। हमारा सौभाग्य दूसरी को मिल जाने पर यदि मैं रूठूँ, तो यह मेरी हँसी ही होगी।

१७५ **राजा**—तुम तो और ही अर्थ लगा रही हो। सच तो यह है कि इस विषय में तुम्हारे रूठने का मुझे कोई कारण नहीं दीखता, क्योंकि—

अपराध किए हुए भी दास-दासियाँ उत्सव के दिनों में बन्धन के योग्य

१७६ इरावती—णिउणिए, गच्छ देविं विण्णवेहि। दिट्ठं देवीए पक्खवादित्तणं अज्ज त्ति। [निपुणिके! गच्छ देवीं विज्ञापय। दृष्टं देव्याः पक्षपातित्वमद्येति।]

१७७ निपुणिका—तह। [तथा] (इति निष्क्रान्ता)

१७८ विदूषकः (आत्मगतम्)—अम्हो अणत्थो संवुत्तो। बन्धणब्भट्ठो

पर बन्दी-गण को छोड़ देने की प्रथा राजाओं में कभी से चली आ रही है। परन्तु राजा इरावती को बेवकूफ ही बना रहा है। यदि वास्तव में उत्सव का ही दिन था, तो न्यायालय आदि भी तो छुट्टी के कारण बन्द होने चाहिए थे, नगर में धूम-धाम दिखलाई पड़नी थी। चलो छोड़ने का कारण तो बना, पर यहाँ उनका आना क्यों हुआ? इसपर राजा का उत्तर है—**मां प्रणिपतितुम् आगते**=मुझे प्रणाम करने के लिए, छोड़ दिए जाने पर मेरे प्रति कृतज्ञता प्रकट करने, मुझे धन्यवाद देने आई हैं और आने का कोई कारण नहीं है। पर क्या इरावती इतनी बुद्धू है जो यों झांसे मे आ जाय?

१७६ पक्षं पततीति पक्षपाती तस्य भावः **पक्षपातित्वम्**=पक्षपात, तरफदारी अद्य+इति इरावती को निश्चय हो गया है कि धारिणी की स्वीकृति पर ही मालविका को छोड़ा गया है। धारिणी बाहर-बाहर ही मेरा आदर-मान करती है, परन्तु सौत होने के कारण वह भी इस षड्यन्त्र में सम्मिलित है।

१७८ **बन्धनात् भ्रष्टः** (पं० तत्पु०)=बन्धन से, पिंजरे से छूटा हुआ।

नहीं हुआ करने हैं—इस कारण मैंने इन दोनों को छुड़ा दिया है और ये प्रणाम करने (और धन्यवाद देने) आई हैं ॥१७॥

१७६ इरावती —निपुणिका! जाओ और महारानी को कह दो कि आपका पक्षपात आज मैंने देख लिया है।

१७७ निपुणिका—अच्छा। (यह कह कर चली जाती है)

१७८ विदूषक—अरे! यह तो बड़ा अनर्थ हो गया है। पिंजरे से छूटा

घरकवोदओ बिडालिआलोए पडिदो। [अहो अनर्थः संवृत्तः। बन्धनभ्रष्टो गृहकपोतको बिडालिकालोके पतितः।]

१७९ निपुणिका (प्रविश्य)—भट्टिणि जदिच्छादिट्ठाए माहविआए आचक्खिदं। एव्वं खु एदं णिव्वुत्तंति। [भट्टिनि ! यदृच्छादृष्टया माधविकयाख्यातम्—एवं खल्वेतन्निवृत्तमिति।] (कर्णे कथयति)

१८० इरावती—(आत्मगतम्)—उववण्णं सव्वं। बम्हबन्धुणा

गृहे पालितः कपोतः (मध्य० लो० स०)=पालतू कबूतर बिडालिकायाः आलोकः तस्मिन् (ष० तत्पु०)=बिल्ली की दृष्टि में, पतितः=पड़ गया है। विदूषक बिगड़ती हुई स्थिति का इस तरह अध्ययन कर रहा है कि बेचारी कबूतरी बन्धन से छूट ही सकी थी कि बिल्ली की निगाह में पड़ गई। कबूतरी बनी मालविका और बिल्ली बनी इरावती। जेल से छूटते ही मालविका इरावती की कोपभाजन बनी।

१७९ यदृच्छया दृष्टा तया=अकस्मात्, एकाएक दिखाई पड़ी। मालविकया आख्यातम् = कह दिया। एवं खलु + एतत् + निवृत्तम्=वास्तव में यह सब यों हुआ है।

१८० उपपन्नं सर्वम् = यह सब ठीक है। निपुणिका के कथन से इरावती का धारिणी के सम्बन्ध में बना हुआ सन्देह दूर हो जाता है और इरावती जान जाती है कि इसमें धारिणी का हाथ नहीं, बल्कि भट्टड़े बाँभन को ही यह सारी करामात है। ब्रह्म-बन्धुना + उद्भिन्नः = भट्टड़े का रचा हुआ

हुआ पालतू कबूतर बिल्ली की निगाह में पड़ गया है।

१७९ निपुणिका—(प्रवेश करके) स्वामिनी ! एकाएक मुझे माधविका मिल गई, उसने कह दिया कि यह सब इस तरह हुआ।

(कान में कहती है)

१८० इरावती—(मन ही मन) अब समझ में आई सारी बात कि यह

उज्झिण्णो दुप्पओओ। (विदूषकं विलोक्य प्रकाशम्) इअं इमस्स कामतन्तसइवस्स णीदी। [उपपन्नं सर्वं ब्रह्मबन्धुनोद्भिन्नो दुष्प्रयोगः। (विदूषकं विलोक्य प्रकाशम्) इयमस्य कामतन्त्रसचिवस्य नीतिः]

१८१ विदूषकः— होदि जइ णीदीए एक्कं वि अक्खरं पठेअं तदो णं गाअत्तिं वि विसुमरेअं। [भवति ! यदि नीत्याम् एकमप्यक्षरं पठेयं ततो ननु गायत्रीमपि विस्मरेयम्।]

१८२ राजा—(स्वगतम्)—कथं नु खलु सङ्कटादस्मादात्मानं मोचयिष्यामि।

१८३ जयसेना (प्रविश्य सावेगम्)—देव कुमारी वसुलच्छी कन्दुअं

दुष्प्रयोगः = षड्यन्त्र है, जाल है। इयम् + अस्य कामस्य तन्त्रम् तस्य सचिवस्य=काम-शास्त्र के मन्त्री की नीति है। यदि विदूषक राजा के इस प्रेम-व्यापार में सहायता न देता, तो राजा को त्रिकाल में भी सफलता नहीं मिल सकती थी।

१८१ एकम् + अपि + अक्षरम् = एक भी अक्षर। विदूषक अपनी गायत्री-मन्त्र की सौगन्ध खा कर कहता है कि मैं नीति का अक्षर तक नहीं जानता। यदि मैं जानूँ, तो परमात्मा मुझे गायत्री-मन्त्र भुला दे अर्थात् मुझे गायत्री-मन्त्र भूल जाने का पाप लगे यदि मैं कामनीति का एक भी शब्द जानूँ।

१८२ संकटात् + अस्मात् +आत्मानं मोचयिष्यामि।

१८३ आवेगेन सह = (घबराई हुई) कन्दुकम् + अनुधावन्ती=गेंद के पीछे-पीछे दौड़ती हुई; पिङ्गलश्चासौ वानरः तेन (कर्मधा०) = पीले वानर

भट्टुड़े का रचा हुआ षड्यन्त्र है। (विदूषक की ओर देख कर प्रकट) यह इस काम-शास्त्र के मन्त्री की नीति है।

१८१ विदूषक—देवी ! यदि मैंने नीति का एक अक्षर भी पढ़ा हो, तो मैं गायत्री मन्त्र को भी भूल जाऊँ।

१८२ राजा—(मन ही मन) किस तरह अपने को संकट से छुड़ाऊँ ?

१८३ जयसेना (प्रवेश करके घबराई हुई सी) देव ! कुमारी बसुलक्ष्मी गेंद

अणुधावन्दी पिङ्गलवाणरेण बलिअं उत्तासिदा अङ्कणिसण्णा देवीए पावद-किसलय विअ वेवमाणा दाणिं वि पकिदिं ण पडिवज्जइ [देव ! कुमारी वसुलक्ष्मीः कन्दुकमनुधावन्ती पिङ्गलवानरेण बलवदुत्त्रासिताङ्कनिषण्णा देव्याः प्रवातकिसलयमिव इव वेपमाना इदानीमपि प्रकृतिं न प्रतिपद्यते ।]

१८४ राजा – कष्टम् ! कातरो बालभावः ।

से बलवन् + उत्त्रासिता=बहुत डराई हुई देव्या अङ्के निषण्णा=महारानी की गोद में बैठी, प्रकृष्टः वातः यस्मिन् तथाभूते (ब० व्री०)=जोर की हवा वाले स्थान में, वर्तमानं किसलयम् (मध्यम० लो०)=स्थित पत्ते की तरह वेपमान=काँपती हुई इदानीम् + अपि=अबतक भी प्रकृतिं न प्रतिपद्यते=स्वस्थ नहीं हो रही है, होश में नहीं आ रही है, ठीक नही हुई । चतुर जयसेना (प्रतिहारी) सम्भवतः यह सब कुछ दृश्य छिपे-छिपे देख रही होगी । उसने राजा को इस प्रतिकूल परिस्थिति में बचाने के लिए कुमारी वसुलक्ष्मी को वानर द्वारा डराए जाने वाली खबर मन से गढ़कर स्थिति सँभाल ली अथवा हो सकता है कि नाटककार ने स्वयं यह बात गढ़ी हो । जो भी हो, यह ऊँचे दिमाग की उपज है और इसमें सारी स्थिति ठीक हो गई । नाट्यशास्त्र का सिद्धान्त भी यही है कि जब कोप-शमन के सभी उपाय निष्फल हो जायें, तो 'रसान्तरम्' से काम लेना चाहिए, देखिए सा० द०—"रभस-त्रास. हर्षादेः" ।

१८४ बालस्य बालाया वा भावः = बचपन, कातरः = डर से भरा हुआ रहता है अर्थात् बच्चों के स्वभाव में भय हुआ ही करता है—यह एक सार्वभौम तथ्य है ।

के पीछे-पीछे दौड़ रही थी कि एक पीले बन्दर ने उन्हें बहुत डरा दिया है । वे महारानी की गोद में बैठी यों काँप रही है जैसे कि हवादार स्थान में स्थित पत्ते और अब भी होश में नहीं आ रही है ।

१८४ राजा—यह बड़ा बुरा हुआ । बच्चों का स्वभाव डरने का होता ही है ।

१८५ इरावती (सावेगम्)—तुवरदु अज्जउत्तो णं समासासइदुं। मा दाव से सन्तासजणिओ विआरो वड्ढदु। [त्वरतां त्वरतामार्यपुत्र एनां समाश्वासयितुम्। मा तावदस्याः संत्रासजनितो विकारो वर्धताम्।]

१८६ राजा—अहमेनां संज्ञापयामि। (सत्वरं परिक्रामति)

१८७ विदूषकः (आत्मगतम्)—साहु रे पिङ्गलवाणर साहु! सुट्ठु परित्तादो तुए सपक्खो। [साधु रे पिङ्गलवानर! साधु। सुष्ठु परित्रातस्त्वया स्वपक्षः।]

---

१८५ त्वरताम् + आर्यपुत्रः=शीघ्रता कीजिए आर्यपुत्र! एनां समाश्वासयितुम्=इसे सँभालने के लिए, ढाढ़स देने के लिए, धीरज बँधाने के लिए, तावत् + अस्याः संत्रासेन जनितः=भय से पैदा हुआ विकार। मा वर्धताम्=बढ़ने न पावे। इरावती डर जाती है और उसका सारा क्रोध ठंडा हो जाता है। वह तत्काल भयभीत राजकुमारी की चिन्ता करने लगती है। यह एक ऐसी बात है जो उसके व्यक्तित्व को उठा देती है और स्त्री-सुलभ कोमलता को अभिव्यक्त कर देती है।

१८६ अहम् + एनां संज्ञापयामि = सम् + ज्ञा + णिच् + लट् = होश में, चेत में लाता हूँ।

१८७ परित्रातः=बचा लिया है, त्वया स्वपक्षः=अपना पक्ष, मित्र। विदूषक अपने को वानर का भाई-बन्धु कहता है, क्योंकि वह भी वानर की तरह रंग-बिरंगा कपड़ा पहनता है, वैसे ही चेहरे वाला भी होता है और वैसे ही चञ्चलता भी रखता है, देखिए विक्रमोर्वशीय V 'किमिति मंत्र्यते, आश्रम-वास-

---

१८५ इरावती—(घबराहट में) आर्यपुत्र! जल्दी चलिए जल्दी चलिए और कुमारी को धीरज दीजिए। कहीं डर से पैदा हुई उनकी तकलीफ बढ़ न जाय।

१८६ राजा—मैं उसे चेत में लाता हूँ। (शीघ्र घूमने लगता है)

१८७ विदूषक—(मन ही मन) वाह रे पीले वानर, वाह! तुमने अपने पक्ष को ठीक ही उबारा है।

(निष्क्रान्तः सवयस्यो राजा इरावती निपुणिका चेटी च)

१८८ मालविका—हला देविं चिन्तिअ वेवदि मे हिअअं। ण जाणे अदो वरं किं अणुहोदव्वं हविस्सदित्ति। [हला देवीं चिन्तयित्वा वेपते मे हृदयम्। न जाने अतः परं किमनुभवितव्यं भविष्यतीति।]

(नेपथ्ये)

अच्चरिअं अच्चरिअं। अपुण्णे एव्व पञ्चरत्ते दोहलस्स मुउलेहिं सण्णद्धो तवणीआसोओ। जाव देवीए णिवेदेमि। [आश्चर्यमाश्चर्यम्। अपूर्ण एव पञ्चरात्रे दोहदस्य मुकुलैः संनद्धस्तपनीयाशोकः। यावद्देव्यै निवेदयामि।]

(उभे श्रुत्वा प्रहृष्टे भवतः)

परिचित एव शाखामृगः।' विदूषक वसुलक्ष्मी के साथ हुई वानर वाली घटना को ईश्वर-द्वारा प्रेषित सहायता समझ रहा है जिससे स्वयं वह और राजा—दोनों ही संकट से बच जाते हैं। आखिरकार बन्दर को बन्दर ने ही उबारा।

१८८ वेपते=काँप जाता है। अनुभवितव्यम्=भुगतने योग्य। बेचारी मालविका को अब भी महारानी धारिणी का भय बना हुआ है कि जब सुनेगी, 'नेपथ्ये'=तो राम जाने क्या आफत ढा देगी। जब नाटककार किसी घटना अथवा वृत्त को परदे के पीछे से ही सूचित कर देता है और पात्रों को मंचपर नहीं लाता—तो इसे नाटक की भाषा में 'चूलिका' कहते हैं। देखिए सा० दर्पण—'अन्तर्जवनिका-संस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका' ६।५८।

अपूर्ण + एव पञ्चानां रात्रीणां समाहारः पञ्चरात्रम् (द्विगु स०) तस्मिन्=पाँच रातें भी पूरी नहीं होने पाई थीं कि तपनीयाशोकः = पीला अशोक, मुकुलैः = कलियों से, सन्नद्धः = तैयार हो गया है, भर गया है।

(मित्र समेत राजा, इरावती, निपुणिका और चेटी चल पड़ती हैं)

१८८ मालविका—सखी ! जब महारानी का ध्यान आता है तो मेरा हृदय काँपने लगता है कि न जाने इसके बाद क्या भुगतना पड़ेगा ?

(परदे के पीछे से)

आश्चर्य है ! आश्चर्य है ! पीले अशोक की साध पूरी किए पाँच रातें भी

१८९ बकुलावलिका—समस्ससदु पिअसही। सच्चपडिण्णा देवी। [समाश्वसितु प्रियसखी। सत्यप्रतिज्ञा देवी।]

१९० मालविका—तेण हि पमदवणपालिआए पिट्ठदो होम्म। [तेन हि प्रमदवनपालिकायाः पृष्ठतो भवावः।]

१९१ बकुलावलिका—तहा। [तथा] (इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति चतुर्थोऽङ्कः ॥

---

१८९ यह सूचना ठीक ही समय पर हुई है कि बकुलावलिका भयभीत मालविका को धीरज बँधाए और विश्वास दिलाए कि अब धारिणी से डरने की कोई बात नहीं है। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ही रखी है (देखिए अंक III टिप्पण ३१) कि यदि अशोक पाँच दिन में फूल दे देगा, तो मैं तुझे मुँह-माँगा पुरस्कार दे दूँगी। वे अब अवश्य अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगी और तुम्हारे मनोरथ भी पूरा कर देंगी। सत्या + प्रतिज्ञा + यस्याः सा (ब० व्री०) = रानी जो कहती हैं वह करके ही दिखाती है। मालविका की कठिनाइयों का समय बीत गया, अब उसका भाग्योदय समझिए।

२९० प्रमदवनस्य पालिका तस्याः (ष० तत्पु०) पृष्ठतः = मालिन के पीछे। वास्तव में परदे के पीछे से सूचना देने वाली मालिन ही थी, इसलिए मालविका और बकुलावलिका भी उसके पीछे-पीछे रानी के पास चल पड़ती हैं।

॥ चतुर्थ अङ्क समाप्त ॥

नहीं बीतने पाई कि वह कलियों से भर गया है। चलो, महारानी को सूचित कर दें।

(दोनों सुनकर प्रसन्न हो जाती हैं)

१८९ बकुलावलिका—प्यारी सखी! धीरज धरो। महारानी अपनी प्रतिज्ञा में पक्की रहती हैं।

१९० मालविका—तो चलो, हम प्रमदवन की मालिन के पीछे-पीछे हो लेती हैं।

१९१ बकुलावलिका—अच्छा। (सभी चल पड़े)

॥ चतुर्थ अङ्क समाप्त ॥

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्युद्यानपालिका)

१ उद्यानपालिका—उवक्खित्तो मए किदसक्कारविहिणो तवणीआसोअस्स वेदिआबन्धो। जाव अणुट्ठिदणिओअं अत्ताणं देवीए णिवेदेमि। (परिक्रम्य) अहो, दे०वस्स अणुकम्पणिज्जा मालविआ। जं तस्सिं तह चण्डी किदा देवी इमिणा असोअकुसुमवुत्तंत्तेण पसादसुमुही भविस्सदि। कहिं णु खु देवी भवे। (विलोक्य) अम्मो एसो देवीए परिजणब्भंदरो कि वि जदुमुद्दालंछिदं ञ्जूअसिअं करे गेण्हिअ चउस्सालादो कुब्जो सारसओ णिक्वामदि। पुच्छिस्सं दाव णं। [उपक्षिप्तो मया कृतसत्कारविधेस्तपनीयाशोकस्य वेदिकाबन्धः। यावदनुष्ठितनियोगमात्मानं देव्यै निवेदयामि। (परिक्रम्य)

---

१ अशोक पर फूल लग जाने के समाचार से महारानी बड़ी प्रसन्न होती हैं और इसका उत्सव मनाने के लिए उद्यान-पालिका को आज्ञा देती है कि उचित तैयारियाँ की जायँ। तदनुसार तैयारी करके मालिन महारानी को सूचना देने जा रही है।

उप + क्षिप् + त (कर्मणि) उपक्षिप्त = दे दिया है, बना लिया है। कृतः+सत्कारस्य विधिः यस्य तथाभूतस्य (ब० व्री०)=जिसका मान-सत्कार कर दिया है ऐसे पीले अशोक का। वेदी एव वेदिका तस्याः बन्धः (प० तत्पु०) =वेदी निर्माण अर्थात् अशोक का मान-सत्कार करके फूल-मालाओं से सजा-धजा कर उसके इर्द-गिर्द वेदी-चबूतरा बना दिया है। यावत्+अनुष्ठितः नियोगः येन

पाँचवाँ अङ्क

(मालिन का प्रवेश)

१ मालिन —मैंने (सजावट द्वारा) सुनहले अशोक का मान-सत्कार

अहो दैवस्यानुकम्पनीया मालविका। यत् तस्यां तथा चण्डीकृता देवी अनेनाशोककुसुमवृत्तान्तेन प्रसादसुमुखी भविष्यति। कुत्र नु खलु देवी भवेत्। (विलोक्य) अहो एष देव्याः परिजनाभ्यन्तरः किमपि जतुमुद्रालाञ्छितां मञ्जूषिकां करे गृहीत्वा चतुःशालात् कुब्जः सारसको निष्क्रामति। प्रक्ष्यामि तावदेनम्।]

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः कुब्जः)

तादृशम् (ब० व्री०) आत्मानम्=अपने को, देव्यै=महारानी के आगे, निवेदयामि = पेश करती हूँ अर्थात् महारानी की आज्ञा का पालन करके अब उन्हें सूचित कर देती हूँ। दैवस्य = भाग्य की, अनुकम्पितुं योग्या = अनुकम्पा – कृपा की पात्र। अचण्डा चण्डा सम्पद्यमाना कृता चण्डा + च्वि + कृ + त (कर्मणि) नाराज कराई। इरावती ने धारिणी के कान भर कर इतना नाराज कर दिया था कि बेचारी मालविका को धारिणी ने काल-कोठड़ी में धकेल दिया था। देवी = धारिणी, अनेन + अशोके कुसुमानि (ष० तत्पु०)=तस्य वृत्तान्तेन = इस अशोक पर फूल लग जाने के समाचार से प्रसादेन सुष्ठु मुखं यस्याः तथाभूता (ब० व्री०)=प्रसन्नता से खिले हुए चेहरे वाली। परिजनेषु आभ्यन्तरः अभ्यन्तरे भवः (अण्) = नौकर-चाकरों में से एक, नौकर-चाकरों के ही बीच का, जतुनः मुद्रा तया लाञ्छिताम् = लाख की मोहर से चिह्नित अर्थात् जिस पर लाख की मोहर लगी हुई थी—ऐसी मञ्जूषिकाम् = पिटारी, पेटी को हाथ में लेकर, चतसृणां शालानां समाहारः चतुःशालम् (द्विगु) अथवा चतस्रः शाला यस्य तथाभूतात् (ब० व्री०) प्रासादात् अर्थात् वह महल, जिसकी चारों दिशाओं में घर हों और बीच में चौड़ा आँगन छूटा हुआ हो, इसे कोठा भी कहते हैं, वहाँ से, रनिवास के कोठों में कुब्जः = कुबड़ा। निष्क्रामति=

करके उसके चारों ओर वेदी बना दी है। तो अब महारानी से निवेदन करती हूँ कि मैंने आपकी आज्ञा का पालन कर लिया है। (घूम कर) हर्ष की बात है कि मालविका पर भाग्य की कृपा होने लगी है। जो महारानी उसपर इतनी नाराज करवा दी गई थी, अब उनका चेहरा अशोक के फूल का वृत्तान्त

२ उद्यानपालिका (उपसृत्य)—सारसअ कहिं पत्थिदोसि। [सारसक! कुत्र प्रस्थितोऽसि ?]

३ सारसकः—महुअरिए वेअपारआणं वम्हणाणं णिच्चदक्खिणा दादव्वा। ता अज्जपुरोहिदस्स हत्थं पावइस्सं। [मधुकरिके! वेदपारगाणां ब्राह्मणानां नित्यदक्षिणा दातव्या। तदार्यपुरोहितस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।]

४ मधुकरिका—किंणिमित्तं। [किंनिमित्तम्।]

निकल रहा है। प्रक्ष्यामि = पूछूँगी। तावत् + एनम्। यथानिर्दिष्टः = जैसा कि ऊपर बताया गया है अर्थात् हाथ में पेटी पकड़े हुए।

२ प्रस्थितः + असि = कहाँ चले।

३ पारं गच्छन्तीति पारगाः वेदस्य पा० (ष० त०) = वेद के पार पहुँचे हुए, विद्वान्, वेद-निष्णान्त ब्राह्मणों के लिए नित्या दक्षिणा = नित्य प्रति दी जाने वाली दक्षिणा, दातव्या = देनी होती है। तत् आर्यश्चासौ पुरोहितः तस्य = पुरोहित महोदय के हस्तम् = हाथ में प्र + √आप् = णिच् + लट् = पहुँचा दूँगा, सौंप दूँगा।

४ किं निमित्तं यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा (क्रिया वि०)

सुन कर प्रसन्नता से खिल उठेगा। महारानी कहाँ होगी ? (देखकर) अरे ! महाराज के नौकर-चाकरों में से ही यह एक कुबड़ा सारसक हाथ में लाख-मोहर लगी पेटी को पकड़े रनिवास के कोठे से इधर ही आ रहा है। तो इसी को पूछ लूँगी।

(हाथ में पेटी पकड़े हुए कुबड़े का प्रवेश)

२ मालिन—(पास जाकर) भैया सारसक ! किधर चले ?

३ सारसक—मधुकरिका ! वेद-निपुण ब्राह्मणों को जो नित्य दक्षिणा देनी होती है; उसी को पुरोहित महोदय के हाथ सौंपने जा रहा हूँ।

४ मधुकरिका—यह दक्षिणा क्यों दी जाती है ?

५ सारसकः—जदा पहुदि सुदं सेणावइणा जण्णतुरअरक्खणे णिउत्तो भट्टिदारओ वसुमित्तोत्ति तदा पहुदि तस्स आउसो णिमित्तं अट्ठादससुवण्णप्पमाणं दक्खिणं देवी दक्खिणीएहिं पडिग्गाहेदि। [यदा प्रभृति श्रुतं सेनापतिना यज्ञतुरगरक्षणे नियुक्तो भर्तृदारको वसुमित्र इति तदा प्रभृति तस्यायुषो निमित्तमष्टादशसुवर्णप्रमाणां दक्षिणां देवी दक्षिणीयैः प्रतिग्राहयति।]

---

५. **सेनापतिना** = पुष्यमित्र। अग्निमित्र के पिता का नाम है। वे मौर्यवंशीय राजाओं के सेनापति थे। जब वे अन्तिम मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ को मार कर स्वयं शासक बन गए, तब भी वे 'सेनापति' ही कहलाते थे, ठीक उसी तरह जिस तरह कि 'पेशवा' भी मन्त्री के बाद शासक बनने पर 'पेशवा' ही कहलाते थे। इन्होंने अपने राज्य को दृढ़ता देने के लिए अश्वमेध यज्ञ किया और अश्वरक्षार्थ अपने पौत्र वसुमित्र को रक्षक-सेना का सेनापति बनाया। **यज्ञस्य तुरगः तस्य रक्षणे** (ष० तत्पु०)=अश्वमेध के घोड़े की रक्षा में। **भर्तुः दारकः**=स्वामी का पुत्र, राजकुमार वसुमित्र। **तस्य + आयुषः + निमित्तम्**=उसकी दीर्घायु के लिए **अष्टादश सुवर्णानि प्रमाणं यस्याः सा** (ब० व्री०)=अठारह स्वर्ण-मुद्रा परिमाण की **दक्षिणाम्**=ब्राह्मणों को दिया जाने वाला धन। **दक्षिणाम् अर्हन्तीति दक्षिणा + ईय** (छ तद्धि०)=दक्षिणा दिया जाने योग्य अर्थात् सत्पात्रों से प्रति + √ग्रह् + णिच् + लट्=ग्रहण करवाती हैं, उन्हे देती हैं। अश्वमेध के घोड़े की रक्षा बड़ा कठिन और उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है। जिस दिशा के जिस देश में घोड़ा चला जाय, वह सब अश्वमेध करने वाले राजा के अधिकार में समझा जाता था। यदि कोई विरोध करता तो, अश्व-रक्षकों को उससे लड़ना पड़ता था। इसीलिए रानी धारिणी अपने पुत्र की मंगल-कामना में

---

५. **सारसकं**—जब से महारानी ने सुना है कि सेनापतिजी (पुष्य-मित्र) ने अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिए राजकुमार वसुमित्र को नियुक्त कर रखा है, तभी से वे उसकी दीर्घायु के लिए अठारह सुवर्ण-मुद्रा दक्षिणा सत्पात्रों को दे रही हैं।

६ मधुकरिका—जुज्जइ। अह कहिं देवी। किं वा अणुचिट्ठदि। [युज्यते। अथ कुत्र देवी। किं वानुतिष्ठति।]

७ सारसकः—मङ्गलघरए आसणत्था विअब्भविसआदो भादुणा वीरसेणेण पेसिदं लिपिअरेहिं वाचिअमाणं लेहं सुणादि। [मङ्गलगृहे आसनस्था विदर्भविषयाद् भ्रात्रा वीरसेनेन प्रेषितं लिपिकरैर्वाच्यमानं लेखं शृणोति।]

८ मधुकरिका—को उण विअब्भराअवुत्तन्दो। [कः पुनर्विदर्भराजवृत्तान्तः।]

ब्राह्मणों से जप-पाठ आदि अनुष्ठान करवाती थी और ब्राह्मणों को नित्य दक्षिणा बाँटा करती थीं। 'सुवर्ण' से यहाँ एक विशेष सुवर्ण-मुद्रा विवक्षित है, जो १६ मासे की हुआ करती थी।

७ मङ्गलस्य गृहं तस्मिन् (ष० तत्पु० =जिस भवन में माङ्गलिक क्रियाएँ—पाठ-पूजा हवन-आदि किया जाता है, पूजा-गृह में, पूजा के कमरे में। आसने तिष्ठतीति=आसन में बैठी हुई विदर्भविषयात्=विदर्भ देश से। विषय देश को भी कहते हैं, देखिए अमर०—"नीवृज्जनपदो देशविषयौ"। प्रेषितम्=भेजा हुआ। लिपिकरैः=लिपिं कुर्वन्तीति (उपप० तत्पु०) लेखकों, मुन्शियों, क्लर्कों द्वारा वाच्यमानम्=वाँचा, पढ़ा जाता हुआ लेखम्=पत्र शृणोति=सुन रही हैं।

८ विदर्भाणां राजा तस्य वृत्तान्तः (ष० तत्पु०)=विदर्भ नरेश का वृत्तान्त।

---

६ मधुकरिका—ठीक है; हाँ, यह तो कहो कि महारानी कहाँ हैं और क्या कर रही हैं?

७ सारसक—महारानी पूजा के कमरे में आसन पर बैठी हुई हैं। विदर्भ-देश से अपने भाई वीरसेन द्वारा भेजे हुए पत्र को लेखकों से पढ़वा रही हैं और सुन रही हैं।

८ मधुकरिका—विदर्भ-नरेश का क्या हाल-समाचार है?

६ सारसकः—वसीकिदो किल वीरसेणप्पमुहेहिं भट्टिणो विअअ-दण्डेहिं विअब्भणाहो । मोइदो अ से दाआदो माहवसेणो । तेण महासाराइं रअणवाहणाइं सिप्पआरिआभूइट्ठं परिअणं अ उवाअणीकरिअ भट्टिणो सआसं पेसिदो दूदो सुवो किल भट्टारं देक्खिस्सदि । [वशीकृतः किल वीरसेनप्रमुखैर्भर्तुर्विजयदण्डैर्विदर्भनाथः । मोचितश्चास्य दायादो माधवसेनः । तेन महासाराणि रत्नवाहनानि शिल्पकारिकाभूयिष्ठं परिजनं चोपायनीकृत्य भर्तुः सकाशं प्रेषितो दूतः श्वः किल भर्तारं द्रक्ष्यति ।]

---

६ वशीकृतः = अधीन बना दिया, जीत लिया गया है। वीरसेनः प्रमुखः येषु ते (ब० व्री)=जिनमें प्रधान वीरसेन था ऐसे भर्तुः विजयन्ते (शत्रून्) इति वि + √जी + अच् (कर्तरि) विजयाः विजयाश्च ते दण्डाः (सैन्यानि) तैः (कर्मधा०)=विजयी सेनाओं द्वारा । मोचितः + च +अस्य दायम् + आदत्ते इति दाय + आ√दा + अ (कर्तरि)=जायदाद लेने वाला, हकदार, दायाधिकारी छुड़ा दिया है । महान्ति च तानि साराणि (श्रेष्ठ) रत्नानि च वाहनानि च शिल्पकारिका भूयिष्ठा यस्मिन् (ब० व्री०) = जिनमें शिल्पकारिकाओं, गाना-बजाना, सिंगार करना आदि कलाओं की जानकार लड़कियों की संख्या अधिक है—ऐसे परिजनम् = नौकर-चाकरों, दास-दासियों को उपायनीकृत्य = भेंट करके । विदर्भराज और माधवसेन से विस्तृत विवरण के लिए देखिए अङ्क १ टिप्पण ॥४४॥

---

६ सारसक—वीरसेन के नेतृत्व में स्वामी की विजयी सेना ने विदर्भ नरेश को अधीन बना लिया है और उसके सगोती माधवसेन को छुड़ा लिया है। माधवसेन ने बड़े-बड़े कीमती रत्न, हाथी, घोड़े, रथ, बहुत सी कलाकार दासियाँ और नौकर-चाकर भेंट में भेजे हैं, जिन्हें साथ लेकर उनका दूत कल महाराजा के पास पहुँच जाएगा ।

१० मधुकरिका—गच्छ अणुचिट्ठ अत्तणो णिओअं। अहं वि देविं देक्खिस्सं। [गच्छ अनुतिष्ठ आत्मनो नियोगम्। अहमपि देवीं द्रक्ष्यामि।]

(इति निष्क्रान्तौ)

इति प्रवेशकः।

(ततः प्रविशति प्रतीहारी)

११ प्रतीहारी—आणत्तम्हि देवीए असोअसक्कारव्वावुदाए–विण्णवेहि अज्जउत्तं। इच्छम्मि अज्जउत्तेण सह असोअरुक्खस्स पसूणलच्छिं पच्चक्खीकादुंति। ता जाव धम्मासणगदं देवं पडिवालेमि। [आज्ञतास्मि देव्या अशोकसत्कारव्यापृतया विज्ञापयार्यपुत्रम्। इच्छाम्यार्यपुत्रेण सहाशोकवृक्षस्य प्रसूनलक्ष्मीं प्रत्यक्षीकर्तुम्, इति। तद्यावद्धर्मासनगतं देवं प्रतिपालयामि।]

---

१० नियोगम् = कार्य को, अहम् + अपि द्रक्ष्यामि = देखूँगी। प्रवेशक= यह एक रंगमञ्चीय निर्देश है, इसके लिए प्रथम अङ्क टिप्पण ४० देखें। विष्कम्भक और प्रवेशक में इतना ही अन्तर है कि जहाँ पहले में उच्च-जाति के पात्र संस्कृत में सूचना देते हैं, वहाँ प्रवेशक में निम्न जाति के पात्र प्राकृत में, देखिए अङ्क III टिप्पण १२। यहाँ अतीत की जो बातें रंगमञ्च पर नहीं दिखाई गई हैं, वे हैं विदर्भराज से युद्ध अश्वमेध यज्ञ आदि और भविष्य में आने वाली जो बातें कही गई हैं वे हैं अशोक के फूलने पर धारिणी द्वारा मालविका को दिया जाने वाला पुरस्कार आदि।

११ आज्ञप्ता + अस्मि = मुझे आज्ञा मिली है कि अशोकस्य सत्कारः

---

१० मधुकरिका—अच्छा, जाओ तुम अपना काम करो। मैं भी रानी को मिलने जाती हूँ। (दोनों चले जाते हैं)

प्रवेशक

(प्रतीहारी का प्रवेश)

११ प्रतीहारी—अशोक के मान-सत्कार में लगी हुई महारानी ने मुझे आज्ञा दी है कि आर्यपुत्र को सूचना दे दो कि मैं आपके साथ अशोक-

(इति परिक्रामति)

(नेपथ्ये)

१२ वैतालिकौ—दिष्ट्या दण्डेनैवारिशिरःसु वर्तते देवः।

तस्मिन् व्यापृतया = अशोक को मान-सत्कार देने में लगी हुई हूँ। विज्ञापय + आर्यपुत्रम् = आर्यपुत्र को सूचित कर दो कि इच्छामि + आर्यपुत्रेण सह + अशोकवृक्षस्य प्रसूनानां लक्ष्मीम् = फूलों की शोभा को प्रत्यक्षीकर्तुम् = देखना चाहती हूँ। तत् + यावत् धर्मासने गतम् = धर्मासन न्यायासन को कहते हैं, जिस पर बैठ कर राजा धर्म—न्याय, इन्साफ—किया करता है और मुकदमों पर निर्णय दिया करता है। प्रजा के न्याय-सम्बन्धी कार्य दिन के दूसरे प्रहर में होते थे। पाँचवाँ अंक अशोक के दोहद के चौथे दिन के प्रातःकाल का है। प्रतिपा० = प्रतीक्षा करती हूँ।

१२ दण्डेन + एव = दण्ड-नीति के द्वारा ही। राजनीति-शास्त्र में चार नीतियाँ बताई गई हैं—साम, दान, दण्ड, भेद। शत्रुओं, आततायियों और चोर-बदमाशों को दण्ड-नीति से ही ठीक किया जा सकता है। अरीणां शिरांसि तेषु = शत्रुओं के सिरों पर।

वृक्ष के फूलों की शोभा देखना चाहती हूँ। तो जब तक महाराजा न्यायालय का काम कर रहे हैं, तब तक मैं उनकी प्रतीक्षा करती हूँ।

(घूमने लगती है)

(परदे के पीछे से)

१२ दो वैतालिक—बधाई महाराज! दण्डनीति द्वारा ही आप शत्रुओं के शिरों को कुचले हुए हैं।

१३ प्रथमः—परभृतकलव्याहारेषु त्वमात्तरतिर्मधुं
नयसि विदिशातीरोद्यानेष्वनङ्ग इवाङ्गवान् ।

---

१३ पर०—अन्वयः–आत्तरतिः त्वम् परभृत-कल-व्याहारेषु विदिशा-तीरोद्यानेषु अङ्गवान् अनङ्ग इव मधुं नयसि: (हे) वरद ! प्रबलस्य ते रिपुः विजय-करिणाम् आलानत्वं गतैः वरदारोघोरक्षैः सह अवनतः । (हरिणी)

इस श्लोक के पूर्वार्ध में राजा को सशरीर कामदेव से उपमा दी गयी है, अतः इसके दो-दो अर्थ निकलते हैं–(१) राजा की तरफ और (२) कामदेव की तरफ। (१)आत्ता०=आत्ता रतिः येन तथाभूतः (ब० व्री०) खूब आनन्द लूटते हुए अथवा रति का अर्थ आनन्द न लेकर कामदेव की पत्नी रति की तरह परम सुन्दरी मालविका लिया जा सकता है, जिसे साथ लिए (२) अपनी पत्नी रति को साथ लिए हुए। परभृत०=परैः भृताः तेषां=दूसरों के आश्रय में पेट भरने वाले–हम जैसे सेवकों के कलाः ये व्याहाराः ते सन्ति येषु तथोक्तेषु (उद्यान का विशेषण) कल–मधुर-वचनों, स्तुति-प्रशंसाओं से गुञ्जने वाले। (२) परभृतो—कोयलों की मधुर कूकों से गूञ्जित। विदिशायाः तीरेषु वर्तमानानि यानि उद्यानानि (मध्यमपद लो०) नेषु=विदिशा नदी के किनारे के उपवनों में। विदिशा एक नदी है, जिसके किनारे पर बस जाने के कारण नगरी का नाम भी विदिशा पड़ गया। विदिशा प्राचीनकाल में एक बड़ी प्रसिद्ध नगरी थी, जो अग्निमित्र की राजधानी भी थी। बहुत से लोग विदिशा नदी से आजकल की वेतवा नदी (वेत्रवती) कोलेते हैं और विदिशा नगरी से आजकल के भिलसा को। उस किनारे के बागों में

---

१३ प्रथम—(इधर) रति (आनन्द) लिए हुए आम परभृतों (सेवकों, भाटों) की मधुर स्तुतियों से गूंजने वाले विदिशा के तीर के उपवनों में यों मधु (माधुर्य) ला रहे हैं जिस तरह कि रति (पत्नी) को साथ लिए हुए शरीर-धारी कामदेव परभृतों (कोयलों) की मीठी कूकों से गुञ्जित विदिशा के तीर

विजयकरिणामालानत्वं गतैः प्रबलस्य ते
वरद ! वरदारोधोवृक्षैः सहावनतो रिपुः॥१॥

द्वितीयः—विरचितपदं वीरप्रीत्या सुरोपम ! सूरिभि-

आप (१) मधुं नयसि=वसन्त ऋतु विता रहे हो अथवा मधु का अर्थ माधुर्य भी लिया जा सकता है अर्थात् माधुर्य ले जा रहे है, विखेर रहे हैं अङ्गवान्= सशरीर अनङ्ग इव कामदेव की तरह। यह बात महादेव द्वारा कामदेव को भस्म किये जाने से पहले की बात हो सकती है लेकिन ऐसी स्थिति में कवि का कामदेव के लिए अनङ्ग शब्द देना ठीक नहीं। (२) अपने मित्र वसन्त को अपने साथ लाता था। तात्पर्य यह निकला कि जिस तरह सशरीर कामदेव अपनी पत्नी रति को साथ लेकर कोयलों की मीठी बोली कूकों से गूँजने वाले विदिशा के तीर के उपवनों में अपने मित्र वसन्त को लाता था, उसी तरह आप भी रति-जैसी मालविका को साथ लिए भाटों की स्तुति-उक्तियों से गूँजते हुए उपवनों में माधुर्य बिखेर रहे हैं। माधुर्य और मधु प्रेम की रंगीनियों, रंग-रेलियों और रोमान्स को कहते हैं, देखिए व्याडि--"मधुश्चैत्रे वसन्ते च माधुर्ये द्रुमदैत्ययोः"। प्रबलस्य= विपुल शक्ति वाले आपका। रिपुः=शत्रु विदर्भ का राजा। विजय इव ते करिणः तेषाम्=विजयी हाथियों के आलानत्वं गतैः=आलान--बाँधने के स्तम्भ –बने। वरदायाः रोधः तत्र वर्तमानैः वृक्षैः (मध्यमपद लो०)=वरदा नदी के किनारे के वृक्षों के साथ ही अवनतः=झुक गया है अर्थात् आपकी विपुल शक्ति के आगे एक तरफ शत्रु झुका, तो दूसरी तरफ आपके हाथियों की प्रवल शक्ति के आगे तीर के वृक्ष भी झुके। पहला वैतालिक—भाट–वियोग मे खिन्न राजा अग्निमित्र को स्तुति द्वारा प्रसन्न कर रहा है। इन राय-भाटों का काम ही ठकुर-सुहाती सुनाना होता है।

१४ विरचित०—अन्वयः— (हे) सुरोपम ! दण्डानीकैः विदर्भपतेः श्रियं

के इन्हीं उपवनों में मधु (मित्र वसन्त) लाया करता था, उधर हे वरदाता ! विजयी हाथियों को बाँधने के लिए खम्भे बने हुए वरदा नदी के किनारे के वृक्षों के साथ ही परम बलशाली आप का शत्रु भी झुका दिया गया है ॥१॥

इचरितमुभयोर्मध्येकृत्य स्थितं क्रथकैशिकान् ।
तव हृतवतो दण्डानीकैर्विदर्भपतेः श्रियं
परिघगुरुभिर्दोर्भिः शौरेः प्रसह्य च रुक्मिणीम् ॥२॥

हृतवतः तव, परिघ-गुरुभिः दोर्भिः प्रसह्य रुक्मिणीं (हृतवतः) शौरेः च – उभयोः चरितं वीर-प्रीत्या सूरिभिः विरचित-पदं सत् क्रथकैशिकान् मध्येकृत्य स्थितम् । (हरिणी)

सुरा०=सुरैः उपमा यस्य स तत्सम्बुद्धौ (ब० व्री०)=हे देवतुल्य ! दण्डा०= दण्डे अधिकृतानि अनीकानि इति दण्डानीकानि तैः (मध्यमपद लो०)= दमन करने के लिए नियुक्त सेनाओं द्वारा, विदर्भाणां पतिः तस्य = विदर्भ देश के राजा यज्ञसेन की श्रियं हृतवतः = राज्यलक्ष्मी का हरण करने वाले तव=आप का और परिघवत् गुरुभिः=मुद्गर-जैसे भारी दोर्भिः=भुजाओं द्वारा प्रसह्य=बलात्, बलपूर्वक, जबरन रुक्मिणीं (हृतवतः)=रुक्मिणी को हरण करने वाले शौरेः च कृष्ण भगवान् का – उभयोः=दोनों का चरितम्=वीरता के कर्म । वीरेषु प्रीतिः तया–वीरों के प्रति प्रेम, आदर-मान होने के कारण सूरिभिः= विद्वानों के द्वारा विरचितानि पदानि यस्य विषये तथोक्तम् (ब० व्री०) सत् पद्य-बद्ध कविता-रूप में परिणत क्रथकैशिकान्=विदर्भ देश को । देश-वाचक शब्द नित्य बहुवचनान्त हुआ करते हैं । मध्येकृत्य=बीच में करके अर्थात् व्याप्त करके । स्थितम्=स्थित है । दूसरा चारण अग्निमित्र की तुलना कृष्ण भगवान् से करके दोनों के वीरोचित कर्मों को सारे विदर्भ-देश में व्याप्त हुआ बतला रहा है । अग्निमित्र ने अपनी विशाल सेना द्वारा विदर्भ देश की राज्य-लक्ष्मी को हथिया

---

१ दूसरा—हे देवतुल्य ! वीरों के प्रति प्रेम होने के कारण विद्वानों ने दो व्यक्तियों का वीर-चरित कविता-बद्ध कर रखा है, जो सारे विदर्भ देश में व्याप्त है–एक तो आपका, जिन्होंने शत्रुओं का दमन कर देने वाली सेनाओं द्वारा विदर्भ-राज की राज्यलक्ष्मी का हरण किया और दूसरे श्रीकृष्ण का, जिन्होंने अपने मुद्गर-जैसे मज़बूत हाथों द्वारा (विदर्भ-राजकुमारी) रुक्मिणी का हरण किया ॥२॥

१५ प्रतीहारी—एसो जअसद्दसूइदप्पत्थाणो भट्टा इदो एव्व आअच्छदि। अहं वि दाव इमस्स पमुहादो किंवि ओसरिअ एदं मुहालिन्दतोरणं समस्सिदा होमि। [एष जयशब्दसूचितप्रस्थानो भर्ता इत एवागच्छति। अहमपि तावदस्य प्रमुखात्किमप्यपसृत्य एतन्मुखालिन्दतोरणं समाश्रिता भवामि।]

(एकान्ते स्थिता)

लिया है। भगवान् कृष्ण ने भी विदर्भ-देश की लक्ष्मी-जैसी राजकुमारी को अपनी विशाल भुजाओं द्वारा हर लिया था। रुक्मिणी विदर्भ-राज भीष्मक की लड़की थी; पिता ने शिशुपाल के साथ उसकी मँगनी कर दी थी, किन्तु वह उसे नहीं चाहती थी; उसका असली प्रेम भगवान् कृष्ण के साथ था। उसने कृष्ण को गुप्त संदेश पहुँचाया और वे उसे बलात् हर ले गये—यह कथा-पुराणों में प्रसिद्ध ही है। वैतालिक अग्निमित्र को देवोपम कह कर कृष्ण की बराबरी का ही बना रहा है, किसी तरह प्रभु को प्रसन्न जो करना है। इससे यह सिद्ध हो जाता है, कि कृष्ण को मिली विदर्भ-राजकुमारी रुक्मिणी की तरह अग्निमित्र को भी विदर्भ-राजकुमारी मालविका पत्नीरूप में मिल जायेगी।

१५. जयशब्दैः सूचितं प्रस्थानं यस्य तथाभूतः (ब व्री०)=जय-जयकारों से जिनका चल पड़ना सूचित हो रहा है—ऐसे भर्ता इतः+एव+आगच्छति=इधर ही आ रहे हैं। अहम्+अपि तावत्+अस्य प्रमुखात्=इनके सामने से किम्+अपि अपसृत्य=कुछ हटकर एतत्+मुखस्य (सम्मुखस्य) यः अलिन्दः तस्य तोरणे—इस सामने के बराण्डे की ड्योढ़ी के बाहर फाटक पर समाश्रिता=आश्रय लिए।

---

१५ प्रतीहारी—यह जय-जयकार हो रहा है, मालूम होता है स्वामी न्यायालय से चल पड़े हैं और इधर ही आ रहे हैं। तो मैं भी इनके सामने से कुछ हट कर सामने के इस बराण्डे के फाटक पर खड़ी हो जाती हूँ।

(एक तरफ खड़ी हो जाती है)

(ततः प्रविशति सवयस्यो राजा)

१६ राजा—कान्तां विचिन्त्य सुलभेतरसंप्रयोगां
श्रुत्वा विदर्भपतिमानमितं बलैश्च ।
धाराभिरातप इवाभिहतं सरोजं
दुःखायते च हृदयं सुखमश्नुते च ॥३॥

कान्ताम्० अन्वयः—कन्तां सुलभेतर-संप्रयोगां विचिन्त्य विदर्भपतिं बलैः आनमितं श्रुत्वा च आतपे धाराभिः अभिहतं सरोजम् इव हृदयं दुःखायते च सुखम् अश्नुते । (वसन्ततिलकम्)

कान्तम्=प्रियतमा को, मालविका को सुलभात् इतरः संप्रयोगः यस्याः तथाभूताम् (व०व्री०)=सुलभ से भिन्न अर्थात् दुर्लभ संप्रयाग=प्राप्ति का उपाय जिसका, अर्थात् सुगमता से न मिल सकने वाली । विचिन्त्य=सोचकर, जान कर, विदर्भपतिम्=विदर्भ के राजा यज्ञसेन को । बलैः=सेनाओं द्वारा आ—समन्तात् नमितम् √नम् + णिच्+त (कर्मणि)सभी तरह से झुका दिया गया हुआ अर्थात् परास्त, पराजित श्रुत्वा=सुन कर । आतपे=धूप में । धाराभिः= वर्षा की धाराओं से अभिहतम् = ताडित अर्थात् चोट के साथ सींचे गए सरोजम् इव=कमल की तरह, हृदयम् = मेरा दिल । दुःखायते=दुःखी भवतीति दुःख + क्यप् + लट् नामधातु (दुःखादयो वृत्तिविषये तद्वति वर्तन्ते अर्थात् दुःखादि शब्दों से दुःखादिमान् अर्थ ग्रहण किया जाता है) दुःखी हो रहा है, आकुल हो रहा है, साथ ही सुखं च अश्नुते—सुख का भी अनुभव कर रहा है । जब राजा मालविका को प्राप्त करने में कठिनाइयाँ और बाधाएँ देख

(मित्र के साथ राजा का प्रवेश)

१६ राजा—यह सोच कर कि प्रियतमा का मिलना कठिन है, हृदय बैठ जाता है और यह सुन कर कि मेरी सेनाओं ने विदर्भराज को झुका दिया है, वह खिल उठता है । इस तरह हृदय की हालत तो उस कमल की सी है जिस पर धूप में तड़ातड़ बौछारें पड़ रही हों ॥ ३ ॥

१७ विदूषकः—जह अहं पेक्खामि तह एक्कन्दसुहिदो भवं भविस्सदि। [यथाहं पश्यामि तथैकान्तसुखितो भवान् भविष्यति।]

१८ राजा—कथमिव।

१९ विदूषकः—अज्ज किल देवीए धारिणीए पण्डिदकोसिई भणिदा भअवदि जइ तुमं पसाहणगव्वं वहसि ता दंसेहि मालविआए सरीरे वैदब्भं विवाहणेवच्छंति। ताए वि सविसेसालंकिदा मालविआ। तत्त·

रहा है, तब तो उसका दिल बैठ जाता है, पर जब विदर्भ-विजय का वृत्तान्त सुनता है, तब उसका हृदय खिलता है। यही हाल कमल का भी है, एक तरफ धूप भी है, जिसमें वह खिला हुआ रहता है तो दूसरी तरफ तड़-तड़ वर्षा पड़ती है, जिससे कुछ कुम्हला भी जाता है।

१७ यथा + अहम्, तथा + एकान्तम् यथा स्यात् तथा (क्रिया-वि०)। सुखितः 'दुःखायते' की तरह सुखायते नामधातु बनाकर उससे त प्रत्यय (कर्तरि) अथवा सुखं सञ्जातम् अस्य = इस तरह सुख + इतच् (तद्धित)=पूरा सुखी। विदूषक को राजा के भविष्य का सही-सही दर्शन हो जाता है।

१९ प्रसाधनस्य गर्वम्=सजाने का अभिमान, साज-सिंगार करने की कला का गर्व। वहसि=रखती हो तो दर्शय=दिखाओ विदर्भाणां सम्बन्धि=विदर्भ + अण् (तद्धि०) विदर्भदेश-सम्बन्धी अर्थात् जिस तरह विदर्भ देश के लोग किया करते हैं ऐसे विवाहस्य नेपथ्यम्=विवाह सम्बन्धी सिंगार, सजावट। तया + अपि विशेषेण सहितं यथा स्यात् तथा (क्रिया-वि०) अलंकृता=खूब अच्छी तरह सजा दी है। मालविका का विवाह-योग्य पूरा सिंगार कर दिया है। प्रत्येक

---

१७ विदूषक—जैसा कि मैं देख रहा हूँ—आप पूरी तरह मौज करेंगे।

१८ राजा—वह किस तरह?

१९ विदूषक—आज महारानी धारिणीजी ने पण्डित कौशिकी (परि· व्राजिका) से कहा कि भगवती! यदि आपको अपनी सिंगार-कला का अभिमान है, तो आप मालविका का ऐसा विवाह-सिंगार कर दें जैसे कि विदर्भ देश में

होदी कदाचि पूरेइ भवदो मणोरहं। [अद्य खलु देव्या धारिण्या पण्डित-कौशिकी भणिता। भगवति! यदि त्वं प्रसाधनगर्वं वहसि तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे वैदर्भं विवाहनेपथ्यमिति। तयापि सविशेषालंकृता मालविका। तत्रभवती कदाचित् पूरयति भवतो मनोरथम्।]

२० राजा—सखे! मदपेक्षानुवृत्त्या निवृत्तेर्ष्याया धारिण्याः पूर्वचरितैः संभाव्यमेतत्।

२१ प्रतीहारी—(उपगम्य)—जेदु भट्टा। देवी विण्णवेदि—तवणी-

देश में अपने अपने ढंग का सिंगार हुआ करता है, इसलिए रानी ने मालविका का विदर्भी ढंग का सिंगार करवाया। इससे सिद्ध होता है कि महारानी अनुकूल पड़ गई है और राजा के साथ मालविका का विवाह रचाना चाहती है।

२० मम अपेक्षा तस्या अनुवृत्तिः तया—मेरी इच्छाओं के पीछे चलने के कारण अर्थात् रानी कुछ समय से वैसे ही करने लग पड़ी है जैसा कि मैं चाहता हूँ—इसलिए उसके पूर्वचरितैः=आज से पहले के कामों से, निवृत्ता-ईर्ष्या—यस्याः तयाभूतायाः (ब० व्री०), ईर्ष्या-रहित हुई धारिण्याः=धारिणी के सम्बन्ध में, संभावयितुं योग्यम् सम् + √भू + य —यह संभव है। विदूषक को पता चल गया है महारानी अब मालविका के प्रति राजा का प्रेम होने पर भी ईर्ष्या नहीं करती हैं और शान्त हो गई हैं।

२१ कुसुमानां शोभा तस्या दर्शनेन=फूलों की शोभा के दर्शन से, अर्थात् शोभा को देखकर मम + आरम्भः—मेरा यह उत्सव सफलीक्रियताम् असफलः

होता है।-(तदनुसार) उन्होंने भी मालविका को खूब—अच्छी तरह सजा दिया है। कदाचित् महारानी आपकी मनोकामना पूरी कर दें।

२० राजा—मित्र! ईर्ष्या छोड़कर अब मेरी इच्छानुसार किए जा रहे धारिणी के पहले के कामों को देखकर मुझे यह सम्भावना हो रही है कि तुम्हारी कही बात सच हो जाय।

२१ प्रतीहारी—(पास आकर) जय जय महाराज! महारानी कह रही

आसोअस्स कुसुमसोहादंसणेण मह आरम्भो सफलीकरीअदुत्ति । [जयतु भर्ता । देवी विज्ञापयति-तपनीयाशोकस्य कुसुमशोभादर्शनेन ममारम्भः सफली-क्रियतामिति ।]

२२ राजा—ननु तत्रैव देवी ।

२३ प्रतीहारी—अइ इं । जहारुहसम्माणसुहिदं अन्देउरं विसज्जिअ मालविआपुरोएण अत्तणो परिअणेण सह देवं पडिवालेदि । [अथ किम् ? यथार्हसंमानसुखितमन्तःपुरं विसृज्य मालविकापुरोगेणात्मनः परिजनेन सह देवं प्रतिपालयति ।]

सफलः सम्पद्यमानः क्रियताम् इति सफल + च्वि + कृ=लोट् (कर्मवा०) सफल बनाएँ । रानी अशोक के खिलने का उत्सव मना रही है ।

२३ यथार्ह०—अर्हाम् अनतिक्रम्य इति यथार्हम्, संमानेन सुखितम् अन्तःपुरम्=यथोचित आदर-सम्मान द्वारा प्रसन्न किए हुए अन्तःपुर को अर्थात् अन्तःपुर की रानियों आदि को विसृज्य=विदा करके । इस उत्सव के अवसर पर महारानी ने प्रसन्न होकर सभी अन्तःपुर-वासिनियों को उनके पदों के अनुसार खूब भेंट-पुरस्कार बाँटे । मालविका पुरो गच्छतीति पुरोगा यत्र तथाभूतेन (ब० व्री०) परिजनेन सह=दासदासियों सहित प्रतिपालयति=बाट जोह रही है ।

२४ सहर्षम्=प्रसन्नता के साथ । राजा ने जब सुना कि मालविका भी साथ-साथ आ रही है, तब उनका चेहरा खिल उठता है और विदूषक की तरफ इसलिए देखने लगते हैं कि उसकी सम्भावना तथ्य बनने जा रही है ।

है कि 'सुनहरे अशोक के फूलों की शोभा देखकर आप मेरे (उत्सव–) कार्य को सफल बनाइएगा' ।

२२ राजा—क्या महारानी वहीं हैं ?

२३ प्रतीहारी—जी हाँ । अपने-अपने पदानुसार (किये गए) आदर-सम्मान से प्रसन्न हुई अन्तःपुर-वासिनियों को विदा करके महारानी मालविका को आगे किये हुए दास-दासियों सहित आप की बाट जोह रही हैं ।

२४ राजा (सहर्षम् विदूषकं विलोक्य)—जयसेने ! गच्छाग्रतः ।

२५ प्रतीहारी—इदो इदो देवो । [इत इतो देवः ।]

(सर्वे परिक्रामन्ति)

२६ विदूषकः (विलोक्य)—भो वअस्स किंचि परिवुत्तजोव्वणो विअ वसन्दो पदमवणे लक्खीअदि । [भो वयस्य ! किंचित्परिवृत्तयौवन इव वसन्तः प्रमदवने लक्ष्यते ।]

२७ राजा—यथाह भवान् ।

अग्रे विकीर्णकुरवकफलजालविभुज्यमानसहकारम् ।
परिणामाभिमुखमृतोरुत्सुकयति यौवनं चेतः ॥ ४ ॥

---

२६ किञ्चित् यथा स्यात् तथा परिवृत्तं यौवनं यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) इव वसन्तः = वसन्त ऐसा लग रहा जैसे कि उसका यौवन कुछ ढल गया हो कुछ टीकाकार 'परिवृत्तम्' का अर्थ 'लौट आया' करते हैं । वास्तव में आगे के श्लोक के अनुसार 'परिवृत्तम्', का अर्थ यहाँ 'प्रौढतायां परिणतम्' है अर्थात् वसन्त का यौवन जैसे कुछ प्रौढावस्था में परिणत हो गया हो ।

२ अग्रे०—अन्वयः—अग्रे विकीर्ण-कुरवक-फल-जाल-विभुज्यमानसहकारं परिणामाभिमुखम् ऋतोः यौवनं चेतः उत्सुकयति । (आर्या)

अग्रे=अग्रभाग में अर्थात् सामने । विकीर्ण०=विकीर्णाः कुरवकाः यस्मिन् तत् (ब०व्री०)=अथ च फलानां जालैः विभज्यमानाः सहकाराः यस्मिन् (ब० व्री०)=ये यौवन के पृथक्-पृथक् विशेषण हैं और फिर उनका कर्मधारय कर लें

---

२४ राजा—(प्रसन्नता में विदूषक की ओर देखकर) जयसेना आगे-आगे चलो ।

२५ प्रतीहारी—इधर-इधर महाराज ! (सब चल पड़ते हैं)

२६ विदूषक—(देख कर) मित्र ! प्रमदवन में वसन्त ऐसा दिखाई दे रहा है कि जैसे इसकी जवानी कुछ-कुछ ढल गई हो ।

२७ राजा—आप ठीक ही कहते हो ।

२८ विदूषकः (परिक्रम्य)—अहो अअं सो दिण्णणेवच्छो विअ कुसुमत्थवएहिं तवणीआसोओ। ओलोएदु भवं। [अहो अयं स दत्तनेपथ्य इव कुसुमस्तवकैस्तपनीयाशोकः। अवलोकयतु भवान्।]

२९ राजा—स्थाने खल्वयं प्रसवमन्थरोऽभूत्। यदयमिदानीमनन्य-साधारणां शोभामुद्वहति। पश्य,

---

अर्थात् ऐसा यौवन जबकि लाल कुरण्टे के फूल सामने (झड़कर) बिखरे पड़े हैं और आमों के पेड़ फलों के समूहों से झुके पड़े हुए हैं। परिणामस्य अभिमुखम्= समाप्ति, की ओर। चेतः उत्सुकं करोति।।त उत्सुक+णिच्+लट् (नामधातु) =हृदय को उत्कण्ठित बना रहा है। राजा प्रौढ़ावस्था में पहुँचे वसन्त का प्रभाव दिखा रहा है। कुरण्टे के फूल झड़कर सामने बिखरे पड़े हैं और आम के पेड़ फलों से लद झुक गए हैं। इस तरह वसन्त के यौवन के ढलने से चित्त में उत्कंठा सी हो रही है, चित्त अधीर-सा बन रहा है कि वसन्त जा रहा है।

२८ दत्तं नेपथ्यं यस्मै तथाभूतः (ब० व्री०)=जिसे नेपथ्य, सजावट दी गई है, सजाया हुआ-सा। कुसुमानां स्तवकानि तैः=फूलों के गुच्छों से।

२९ स्थाने (अव्यय), ठीक ही हुआ कि। प्रसवे मन्थरः=फूल देने में ढीला, देरी करने वाला। राजा फूलों की असाधारण छटा से मुग्ध हो रहा है और देर में फूलने का समर्थन ही कर रहा है। दोहद से पूर्व फूल जाता, तो सम्भवतः इतनी रमणीय छटा फूलों की न होती।

ये लाल कुरण्टे के फूल झड़कर सामने बिखरे पड़े हैं और आम के पेड़ फलों के समूहों से झुक गए हैं। वसन्त-ऋतु का ढलता हुआ ऐसा यौवन-हृदय को बेचैन बना रहा है ॥४॥

२८ विदूषक—ओहो! फूलों के गुच्छों से यह पीला अशोक ऐसा लग रहा है जैसे कि इसका सिंगार किया गया हो। देखें आप।

२९ राजा— यह ठीक ही हुआ कि इसने फूलने में देर की। इसीलिए तो यह और पेड़ों से अनोखी शोभा दे रहा है। देखो—

सर्वाशोकतरूणां प्रथमं सूचितवसन्तविभवानाम् ।
निर्वृत्तदोहदेऽस्मिन्संक्रान्तानीव कुसुमानि ॥ ५ ॥

३० विदूषकः—भो विस्सद्धो होहि । अम्हेसु सण्णिहिदेसु वि धारिणी परस्सपरिवट्टिणिं मालविअं अणुमण्णेदि । [भोः विस्रब्धो भव । अस्मासु संनिहितेष्वपि धारिणी पार्श्वपरिवर्तिनीं मालविकामनुमन्यते ।]

सर्वा०—अन्वयः—प्रथमं सूचित-वसन्त-विभवानां सर्वाशोक-तरूणां कुसुमानि निर्वृत्त-दोहदे अस्मिन् संक्रान्तानि इव । (आर्या)

प्रथमम् = आरम्भ में अर्थात् जब वसन्त शुरु हुआ । सूचित=सूचितः वसन्तस्य विभवः यैः तथाभूतानाम् (ब० व्री०)=वसन्त की कुसुम-समृद्धि को सूचित करने वाले । सर्वे च ते अशोक-तरवः तेषाम् (कर्मधा०)=सभी अशोक-वृक्षों के कुसुमानि=फूल । निर्वृत्त०=निर्वृत्तं दोहदं यस्य तादृशे (ब० व्री०) जिसकी साध पूरी कर दी गई—ऐसे अस्मिन् = इस अशोक में संक्रान्तानि इव = आ लगे हों जैसे । भाव यह है कि और वृक्ष तो वसन्त के आरम्भ में ही फूल गए थे और वसन्त को पुष्प-समृद्धि सूचित कर रहे थे । यही एक अशोक फूल देने में विलम्ब कर रहा था और अपना दोहद, साध पूरी की जाने की बाट देख रहा था । साध पूरी होने पर अब यह फूल दे रहा है जब कि और फूलों से खाली हो रहे हैं—ऐसा लगता है मानो अन्य अशोकों ने अपने फूल भी इसे ही दे दिए हों, उनके फूल भी इसी में आ लगे हों, स्थानान्तरित हो गए हों । इसीलिए वे खाली हो गए हैं और यह भर गया है ।

३० विस्रब्धः = निश्शङ्क हो जाओ, विश्वास करो । संनिहितेषु + अपि = हमारे समीप-समीप आते हुए भी पार्श्वे वर्तते इति ताम् = पास में खड़ी हुई मालविका को अनुमन्यते = वहीं खड़ी रहने की अनुमति दे रही है ।

अन्य सभी अशोक वृक्ष तो पहले ही वसन्त की समृद्धि दिखा चुके हैं, पर जब इसकी साध पूरी की गई, तो ऐसा लगता है जैसे कि और अशोकों के फूल भी इसी में स्थानान्तरित हो गए हों ॥ ५ ॥

३० विदूषक—अजी, अब विश्वास रखिए । हम लोगों के समीप में होने पर भी धारिणी जी मालविका को अपने पास ही खड़ी रहने दे रही हैं ।

३१ राजा (सहर्षम्)—पश्य सखे !—

मामियमभ्युत्तिष्ठति देवी विनयादनूत्थिता प्रियया
विस्मृतहस्तकमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या वसुमतीव ॥६॥

विदूषक धारिणी की बदली हुई मनोवृत्ति को देख रहा है। पहले तो धारिणी मालविका को राजा की दृष्टि तक के आगे नहीं आने देती थीं, पर इस समय राजा भी आ रहा है और मालविका भी वहीं खड़ी है। इससे मालूम होता है कि रानी को अब राजा का मालविका से प्रेम करना स्वीकार है, इसीलिए विदूषक राजा को विश्वास दिलाता है कि अब काम बन गया है, शंका की कोई बात नहीं।

३१ मामिय०—अन्वयः—प्रियया अनूत्थिता इयं देवी विनयात् विस्मृत-हस्त-कमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या (अनूत्थिता) वसुमती इव माम् अभ्युत्तिष्ठति। (आर्या)

प्रियया अनूत्थता = जिनके पीछे प्रियतमा (मालविका) भी खड़ी उठी हुई है, ऐसी इयं देवी = ये महारानी विनयात् = नम्रता से, विस्मृतं हस्ते कमलं यया तथाभूतया (ब० व्री०)=जो अपने हाथ में कमल भूल गई है, ऐसा नरेन्द्रलक्ष्म्या = राजलक्ष्मी से 'अनूत्थिता' वसुमती इव = पृथ्वी की तरह। माम अभ्यु०=मेरा आदर-सत्कार करने खड़ी हो गई है। राजा दोनों नारियों—धारिणी और मालविका—का मार्मिक चित्रण कर रहा है। धारिणी प्रौढ़ा शान्त और क्षमाशील है, इसलिए उसकी तुलना पृथ्वी से कर रहा है जबकि मालविका यौवन में भरपूर विलास-शील है, इसलिए उसकी तुलना लक्ष्मी से। पृथ्वी और लक्ष्मी दोनों का पति राजा हुआ करता है। मालविका के लक्ष्मी बनने में थोड़ी-सी कसर रह गई है और वह यह कि उसके हाथ में कमल नहीं है, इसलिए उसे ऐसी लक्ष्मी कह लें, जो अपने हाथ में कमल पकड़ना भूल गई।

---

३१ राजा—(हर्ष के साथ) मित्र, देखो—

मेरा स्वागत करने के लिए देवी नम्रता के साथ खड़ी हो गई हैं और उनके पीछे प्रियतमा भी खड़ी हो उठी हैं; दोनों ऐसी लग रही हैं जैसे आगे-आगे पृथिवी हो और उसके पीछे हाथ में कमल रखना भूले हुए राजलक्ष्मी ॥ ६ ॥

(ततः प्रविशति देवी मालविका परिव्राजिका विभवतश्च परिवारः)

३२ मालविका (आत्मगतम्)—जाणामि णिमित्तं कोदुआलङ्कारस्स। तह वि बिसिणीपत्तगदं सलिलं विअ वेवइ मे हिअअं। दक्खिणेदरं वि णअणं बहुसो फुरइ। [जानामि निमित्तं कौतुकालङ्कारस्य। तथापि बिसिनीपत्रगतं सलिलमिव वेपते मे हृदयम्। दक्षिणेतरदपि नयन बहुशः स्फुरति।]

३३ विदूषकः—भो वअस्स किं वि वैवाहिअणेवच्छेण सविसेसं खु सोहइ तत्तहोदि मालविआ। [भो वयस्य! किमपि वैवाहिकनेपथ्येन सविशेषं खलु शोभते तत्रभवती मालविका।]

राजा की आव-भगत करने धारिणी उठी और उसके पीछे-पीछे मालविका भी उठ खड़ी हुई, जैसे आगे पृथ्वी और पीछे राजलक्ष्मी हो, देखिए—"छाया-मण्डल-लक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्। पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्य-दीक्षितम्।(रघु० ४)

३२ कौतुकस्य अलङ्कारः तस्य=विवाहोत्सव के शृंगार का। विसिन्याः पत्रे गतम्=कमलिनी के पत्ते पर पड़े हुए सलिलम् इव=पानी की तरह वेपते=काँप रहा है। दक्षिणात् इतरत्=दायें से भिन्न अर्थात् बाँया नयन बहुशः=बहुत बार, बार-बार स्फुरति=फुरफुरा रहा है। बेचारी मालविका के हृदय में आशा और निराशा का संघर्ष छिड़ा हुआ है। अपनी विवाहोचित वेश-भूषा आशा का अंकुर उपजा रही है, आँख का फड़कना भी आशाजनक ही है, पर रानी उसे खुशी-खुशी अपनी सौत कैसे बनने देगी—यह विचार निराशा पैदा कर देता है।

३३ किमपि=जिसका वर्णन नहीं किया जा सके। विवाहस्य+इदं

(महारानी, मालविका परिव्राजिका और पदानुसार दास-दासियों का प्रवेश)

३२ मालविका—(मन ही मन) अपने विवाहोत्सव के सिंगार का कारण मैं जानती हूँ। फिर भी कमलिनी के पत्ते पर पड़े पानी की बूँद को तरह मेरा हृदय काँप रहा है। इधर बायीं आँख भी बार-बार फड़क रही है।

३३ विदूषक—देखो मित्र, विवाह की वेश-भूषा में मालविकाजी ऐसी अच्छी खिल रही हैं कि क्या कहूँ।

३४ राजा—पश्याम्याभरणालंकृतामेनाम् । यैषा

अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी
लघुभिराभरणैः प्रतिभाति मे ।
उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका
गतहिमैरिव चैत्रविभावरी ॥ ७ ॥

वैवाहिकम् च तत् नेपथ्यं तेन=विवाहोचित वेश-भूषा से । सविशेषम्=बहुत अच्छी तरह ।

३४ अनति०—**अन्वयः**—अनतिलम्बि-दुकूल-निवासिनी लघुभिः आभरणैः (उपलक्षिता) उदयोन्मुख-चन्द्रिका गत-हिमैः उडु-गणैः (उपलक्षिता) चैत्र-विभावरी इव मे प्रतिभाति । (द्रुतविलम्बित)

न अति लम्बते इति अनतिलम्बि दुकूलं निवस्ते इति निवासिनी=हल्के-से (बहुत लंबे नहीं) रेशमी वस्त्र पहने । **लघुभिः आभरणैः** (उपलक्षिता) यहां तृतीया 'उपलक्षण' अर्थ में है—थोड़े से आभूषणों से उपलक्षित अर्थात् युक्त । **उदयस्य उन्मुखी चन्द्रिका यत्र तथाभूता** (ब० व्री०)=जब कि चाँदनी निकलने को ही हो, एसी, **गतं हिमं येभ्यः तथाभूतैः** (ब० व्री०)=जिन पर से ओस, धुँध हट गई है, ऐसे **उडूनां गणाः तैः**=तारों के समूहों से युक्त **चैत्रस्य विभावरी इव**=चैत्र के महीने की रात की तरह, **मे प्रतिभाति**=मुझे लग रही है । हल्कीसी सफेद रेशमी साड़ी और ब्लाउज तथा थोड़े-से आभूषण पहने मालविका की तुलना उस चैत की रात से की गई है जिसमें तारे बिना धुँध के चमक रहे हों और सफेद चाँदनी निकलने वाली ही हो । चमकते आभूषण तारे बन गए और हल्के सफेद वस्त्र चाँदनी ।

---

३४ राजा—हाँ, इन्हें गहने से सजी मैं देख रहा हूँ, जो ये—

हल्के-से रेशमी कपड़े और थोड़े से आभूषण पहने हुए इस तरह लग रही हैं जैसे कि चैत की वह रात हो, जिसमें धुँध के हट जाने से तारे चमकते रहते हैं और चाँदनी निकलने को ही रहती है ॥ ७ ॥

३५ देवी (उपेत्य)—जेदु अज्जउत्तो [जयत्वार्यपुत्रः]

३६ विदूषकः—वड्ढदु होदी । [वर्धतां भवती ।]

३७ परिव्राजिका—विजयतां देवः ।

३८ राजा—भगवति ! अभिवादये ।

३९ परिव्राजिका—अभिमतसिद्धिरस्तु ।

४० देवी (सस्मितम्)—अज्जउत्त एसो दे अम्हेहिं तरुणी अणसहाअस्स असोओ सङ्केदघरअं सङ्कप्पिदो । [आर्यपुत्र ! एष तेऽस्माभिस्तरुणीजन-सहायस्याशोकः संकेतगृहं संकल्पितः]

---

३८ अभिवादये=अभि+√वद् (भ्वा० प० कहना)+णिच्=प्रणाम करता हूँ ।

३९ अभिमतस्य सिद्धिः+अस्तु=जो चाहते हो, वह सिद्ध हो । परिव्राजिका अप्रत्यक्षरूप में मालविका-प्राप्ति की ओर संकेत कर रही हैं । पता नहीं की रानी ने उन्हें बता दिया हो अथवा मालविका को विवाहोचित वेश-भूषा से ही उन्होंने अनुमान कर लिया हो ।

४० ते+अस्माभिः तरुणी-जनः सहायो यस्य तथा, तस्य (ब० व्री०)= युवतियों के साथ आपके लिए अशोकः संकेतस्य गृहं संकल्पितः=अशोक को प्रेम मिलन का घर, स्थान बनाया है । रानी का राजा की ओर यह हल्का-सा ताना है, क्योंकि रानी को खबर मिल गयी थी कि राजा का और मालविका का मिलन पहले यहीं अशोक के नीचे हुआ था । यद्यपि रानी ने सामान्यतः 'तरुणी-जन' कहा है, पर उसका अभिप्राय मालविका ही से है ।

---

३५ देवी—(पास आकर) आर्यपुत्र की जय हो ।

३६ विदूषक—आप की वृद्धि हो ।

३७ परिव्राजिका—महाराज की जय हो ।

३८ राजा—भगवती ! प्रणाम ।

३९ परिव्राजिका—मनोरथ पूरा हो ।

४० देवी—(मुस्कराती हुई) आर्यपुत्र ! हमने अशोक को आपके लिए युवतियों के साथ मिलने का संकेत-गृह—मिलन-स्थान—चुना है ।

४१ विदूषकः—भो आराहिदोसि । [भोः आराधितोऽसि ।]

४२ राजा—(सव्रीडमशोकमभितः परिक्रामन्)

नायं देव्या भाजनत्वं न नेयः
सत्काराणामीदृशानामशोकः ।
यः सावज्ञो माधवश्रीनियोगे
पुष्पैः शंसत्यादरं त्वत्प्रयत्ने ॥८॥

---

४१ आराधितः+असि=प्रसन्न कर दिए गए हो, खूब आदर-मान हुआ। विदूषक रानी का ताना समझ लेता है और राजा को ताना मारता है 'लो हो गई पूजा'।

४२ व्रीडया सहितं यथा स्यात् तथा=लज्जापूर्वक, अशोकम् अभितः = अशोक के चारों ओर। 'अभि' के योग में द्वितीया होती है। परिक्रामन्= घूमता हुआ।

नायं०—अन्वयः—देव्या अयम् अशोकः ईदृशानां सत्काराणां भाजनत्वं न नेयः (इति) न, यः माधव-श्री-नियोगे सावज्ञः (सन्) त्वत्प्रयत्ने पुष्पैः आदरं शंसति। (शालिनी)

देव्या = आपके द्वारा (रानी को कह रहा है) यह अशोक ईदृशानां सत्का०=ऐसे आदर-मान का भाजनस्य भावः (त्व) भाजनत्वं न नेयः = पात्र न बनाया जाय—यह बात नहीं अर्थात् आपको इसका आदर-मान करना ही चाहिए, यः = जो अशोक, माधवस्य श्रीः तस्या नियोगे = वसन्त की लक्ष्मी की आज्ञा के विषय में, अवज्ञा सहितः = अवज्ञा—तिरस्कार—कर देने वाला बना हुआ, तव प्रयत्ने = तुम्हारे दोहद, फूलने के उपाय के प्रति, पुष्पैः = फूलों

---

४१ विदूषक—लो, हो गई पूजा।

४२ राजा—(लज्जापूर्वक अशोक के चारों तरफ घूमता हुआ)

तुम इस अशोक का आदर-मान न करो—यह बात नहीं—जो (अशोक) वसन्त-श्री की आज्ञा की उपेक्षा करता हुआ तुम्हारे (दोहद के) प्रयत्न के प्रति अपने फूलों से आदर-मान कर रहा है ॥८॥

४३ विदूषकः—भो विस्सद्धो भविअ इमं जोव्वणवदिं पेक्ख। [भोः विस्रब्धो भूत्वेमां यौवनवतीं पश्य।]

४४ देवी—कं। [काम्।]

४५ विदूषकः—तवणीआसोअस्स कुसुमसेहिं। [तपनीयाशोकस्य कुसुमशोभाम्।] (सर्वे उपविशन्ति)

४६ राजा (मालविकां विलोक्यात्मगतम्)—कष्टं खलु ममाद्य संनिधिविप्रयोगः।

द्वारा, आदरं शंसति = आदर प्रकट कर रहा है अर्थात् आपको इस अशोक का अवश्य आदर-मान करना चाहिए, क्योंकि यह वसन्त को आज्ञा पर लात मार के तुम्हारे प्रयत्न पर ही फूला। जो तुम्हारा इतना मान करता है, उसका तुम्हें भी मान करना चाहिए। देखिए राजा किस तरह बात-चीत का विषय बदल कर रानी की ठकुरसुहाती करने लगा है।

४३ विस्रब्धः = निःशङ्कः, पूरे विश्वास के साथ, रानी का कोई भी डर मन में न लाकर। युवत्या भावः यौवनं तत् अस्या अस्तीति = यौवनवाली को (देखो)। विदूषक का असली अभिप्राय मालविका से है, परन्तु जब रानी को सन्देह होता है और वह पूछती है—"कौन यौवनवाली ?" विदूषक झट बदल कर इस शब्द को 'फूलों की छटा' की ओर लगा देता है। दोनों तरफ लगने वाले शब्दों द्वारा प्रश्नोत्तर को संस्कृत में 'छेकापह्नुति' और हिन्दी में 'मुकरी' कहते हैं, जिसे हम पीछे अंक III टिप्पण ११८ में स्पष्ट कर चुके हैं।

४६ मम + अद्य संनिधौ (अपि) विप्रयोगः (स० तत्पु०) = पास में भी

---

४३ विदूषक—अजी, आप निःशंक होकर इस यौवनवाली को देखिए।

४४ देवी—किस यौवनवाली को ?

४५ विदूषक—पीले अशोक के (यौवनवाली) फूलों की छटा को।

(सब के सब बैठ जाते हैं)

४६ राजा—(मालविका को देखकर मन ही मन) पास में रहते हुए भी मेरा प्रियतमा से वियोग बड़ा खल रहा है।

अहं रथाङ्गनामेव प्रिया सहचरीव मे ।
अननुज्ञातसंपर्का धारिणी रजनीव नौ ॥ ९ ॥

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

४७. कञ्चुकी —जयतु देवः। अमात्यो विज्ञापयति तस्मिन्विदर्भराजोपायने द्वे शिल्पदारिके मार्गपरिश्रमादलसशरीरे इति न पूर्वं प्रवेशिते। संप्रति देवोपस्थानयोग्ये। तत्राज्ञां देवो दातुमर्हतीति।

वियोग। यद्यपि प्रियतमा पास में ही है, पर धारिणी के कारण परस्पर-संपर्क न होने से वियोग ही समझिए।

अहम् अन्वयः—अहं रथाङ्गनामा इव मे प्रिया सहचरी इव, नौ अननुज्ञात-सम्पर्का धारिणी रजनी इव। (पथ्यावक्त्रम् ।

रथाङ्गस्य नाम इव नाम यस्य सः (ब० व्री०) = रथ का अंग चक्र— पहिया होता है, जिस पक्षी का नाम भी चक्र जैसा हो वह हुआ चक्रवाक (चकवा)। प्रिया मालविका सहचरी=चक्रवाक की संगिनी अर्थात् चक्रवाकी (चकवी)। नौ=हम दोनों का, न अनुज्ञातः सम्पर्कः यया तथाभूता (ब० व्री०) =परस्पर मिलने की आज्ञा न देने वाली धारिणी, रजनी इव=रात-जैसी है। साहित्य में चकवा-चकवी प्रेम की आदर्श-जोड़ी कही जाती है, पर ब्रह्मा का विधान देखिए, रात पड़ते ही दोनों बिछुड़ जाते हैं-भले ही व्यवधान कमलिनी के एक पत्ते का ही क्यों नहो। चकवा अपने को दूर पड़ा हुआ समझता है और तमाम रात 'पिया-पिया' ही रटता रहता है; देखिए शकु० "चक्रवाकवधु ! आमन्त्रयस्व सहचरम्, उपस्थिता रजनी" ।।।।

४७ तस्मिन् विदर्भराजात् उपायने-विदर्भराज के पास से आई

मैं बना हुआ हूँ चकवा-जैसा, प्रियतमा उसकी सहचरी चकवी-जैसी और हम दोनों को न मिलने देने वाली धारिणी रात-जैसी बन रही है ॥९॥

(कञ्चुकी का प्रवेश)

४७ कञ्चुकी—जय जय महाराज ! मन्त्री भी सूचना भेजते हैं कि विदर्भ-

४८ राजा—प्रवेशय ते ।

४९ कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रम्य ताभ्यां सह पुनः प्रविश्य) इत इतो भवत्यौ ।

५० प्रथमा—(जनान्तिकम्) हला रअणिए अपुव्वं वि एदं राअउलं पविसन्तीए पसीदइ मे अब्भन्दरगदो अप्पा । [(जनान्तिकम्) हला रजनिके ! अपूर्वमप्येतद्राजकुलं प्रविशन्त्या प्रसीदति ममाभ्यन्तरगत आत्मा]

हुई भेंट में से। शिल्पि-दारिके - दो शिल्पी लौंडियाँ मार्गस्य परिश्रमः तस्मात् = मार्ग चलने की थकावट के कारण, अलसं शरीरं ययोः तथाभूते (ब० व्री०) = जिनका शरीर अलसाया हुआ है—इस कारण न प्रवेशि० = प्र + √विश् + णिच् + त (कर्मणि) = नहीं लाई जा सकी हैं । देवस्य उपस्थानं तस्य योग्ये = अब आपके सामने पेश किए जाने योग्य हैं । तत्र + आज्ञाम्, दातुम् + अर्हति = आप आज्ञा दें । भेंट रूप में आई हुई दो लौंडियों का पृथक् प्रवेश नाटक की कथा-वस्तु के विकास में बड़ा योग देता है ।

५० अपूर्वम् + अपि + एतत् + राजकुलम् = यद्यपि मेरे लिए यह राज-ह- दरबार—बिलकुल नया है, यहाँ मैं पहले नहीं आई हूँ, फिर भी प्रविशन्त्या = प्रवेश करते हुए, मम + अभ्यन्तरे गतः आत्मा = भीतर की, भीतरी आत्मा, प्रसीदति = प्रसन्न हो रही है ।

राज के पास से आई हुई भेंट में से दो शिल्पी लौंडियाँ भी हैं जो पहले पेश नहीं की जा सकीं, क्योंकि मार्ग की थकान के कारण उनका शरीर अलसा हुआ रहा । अब वे आपकी सेवा में उपस्थित होने के योग्य हैं, इसके लिए आप आज्ञा दें ।

४८ राजा—उन्हें पेश किया जाय ।

४९ कञ्चुकी—जैसी महाराजा की आज्ञा । (बाहर जाकर और उन दोनों लौंडियों के साथ प्रवेश करके) इधर-उधर लौंडियो !

५० पहली—(अलग) अरी रजनिका ! यद्यपि मैं इस राजकुल में पहले कभी नहीं आई हूँ, तथापि यहाँ आते हुए मेरी अन्तरात्मा प्रसन्न हो रही है ।

५१ द्वितीया—जोसिणिए मह वि एव्वं। अत्थि खु लोअवादो। आआमि सुहं वा दुक्खं वा हिअअसमवत्था कहेदित्ति। [ज्योत्स्निके! ममाप्येवम्। अस्ति खलु लोकवादः आगामि सुखं वा दुःखं वा हृदयसमवस्था कथयतीति।]

५२ प्रथमा—सो दाणिं सच्चो होदु। [स इदानीं सत्यो भवतु।]

५३ कञ्चुकी—एष देव्या सह देवस्तिष्ठति। उपसर्पतां भवत्यौ। (उभे उपसर्पतः। मालविका परिव्राजिका च चेट्यौ दृष्ट्वा परस्परमवलोकयतः)।

५४ उभे—(प्रणिपत्य) जेदु भट्टा। जेदु भट्टिणी। [जयतु भर्ता। जयतु भट्टिनी।]

---

५१ मम + अपि + एवम् = मेरी भी ऐसी ही। लोकवादः— लोकोक्ति; कहावत, हृदयस्य समवस्था = हृदय की दशा, हालत। यह आम कहावत है कि जीवन में आने वाले सुख-दुःख अपनी छाया पहले ही डालते हैं; हृदय पहले ही प्रसन्न अथवा दुःखी हो जाता है, देखिए—"Coming events cast their shadows before"। उनके प्रसन्न हृदय से पता चल रहा है कि राजकुल में अवश्य कोई अच्छी बात उनकी बाट जोह रही है। बात भी सही है, क्योंकि वहाँ, उन्हें अपनी राजकुमारी (मालविका) मिल जाती है।

५३ मालविका और परिव्राजिका परस्पर इसलिए देखने लगती हैं कि जिन्हें उन्होंने पहचाना है, वे सचमुच क्या वही हैं ?

---

५१ दूसरी—ज्योत्स्निका! मेरा भी यही हाल है। दुनिया की कहावत है कि आने वाले सुख अथवा दुःख को हृदय की अवस्था चट बता देती है।

५२ पहली—यह कहावत आज सच्ची हो जाय।

५३ कञ्चुकी—ये सामने महाराज महारानी के साथ बैठे हुए हैं। दोनों आगे बढ़ो। (दोनों आगे बढ़ती हैं। मालविका और परिव्राजिका लौंडियों को देखकर एक दूसरे का मुँह देखने लगतीं हैं।)

५४ दोनों —(प्रणाम करके) महाराज की जय हो, महारानी की जय हो।

५५ राजा—निषीदतम्। (उभे उपविष्टे) कस्यां कलायामभियोगो भवत्योः।

५६ उभे—(भट्टा सङ्गीदए अब्भन्दरम्ह। [भर्तः संगीते अभ्यन्तरे स्वः।]

५७ राजा देवि! गृह्यतामनयोरन्यतरा।

५८ देवी—मालविए इदो पेक्ख। कदरा दे संगीदसहाइणी रुच्चइ। [मालविके! इतः पश्य। कतरा ते संगीतसहायिनी रोचते।]

५९ उभे—(मालविकां विलोक्य)—अम्मो भट्टिदारिआ। (प्रणि-

---

५५ कलायाम् + अभियोगः = कला में लगाव, विशेष अध्ययन, निपुणता।

५६ अभ्यन्तरे = भीतर गई; अभिज्ञ, विशेषज्ञ, निपुण।

५७ एक लड़की तो राजा धारिणी को देना चाहते हैं, पर दूसरी का क्या करेंगे। उसे अपनी भावी रानी मालविका के लिए रखना चाहते होंगे।

५८ धारिणी एक लौंडी को भावी रानी के लिए चुनना चाहती है, पर 'भावी रानी' वह रहस्य अभी नहीं खोल रही है।

५९ धारिणी के मुँह से मालविका नाम सुनते ही दोनों पहचान जाती हैं कि ये तो हमारे स्वामी विदर्भराज की राजकुमारी हैं। मालविका-सम्बन्धी सारा

---

५५ राजा—बैठ जाओ (दोनों बैठ जाती हैं) तुम दोनों किस-किस कला की विशेषज्ञ हो?

५६ दोनों—स्वामी! हम दोनों संगीत की विशेषज्ञ हैं।

५७ राजा—देवी! इन दोनों में से एक को ले लो।

५८ देवी—मालविका! इधर तो देखो। इन दोनों में से किसे तुम्हें अपनी संगीत की साथिन बनाना पसन्द है।

५९ दोनों—(मालविका को देखकर) हैं! राजकुमारी? (प्रणाम करके) राजकुमारी की जय हो। (उसी के साथ आँसू बहाने लगती है।)

(सब आश्चर्य से देखने लगते हैं)

पत्य) जेदु भट्टिदारिआ । [अहो भर्तृदारिका । (प्रणिपत्य) जयतु भर्तृदारिका ।] (तया सह बाष्पं विसृजतः)

(सर्वे सविस्मयमालोकयन्ति)

६० राजा—के भवत्यौ ? का वेयम् !

६१ उभे—भट्टा इअं अह्माणं भट्टिदारिआ । [भर्त ! इयमस्माकं भर्तृदारिका ।]

६२ राजा—कथमिव ।

६३ उभे—सुणादु भट्टा । जो सो भट्टिणा विजअदण्डेहिं विअब्भणाहं वसीकरिअ वन्धणादो मोइदो कुमारो माहवसेणो णाम तस्स इअं कणीअसी भइणी मालविआ णाम । [शृणोतु भर्ता । यो.. । भ..] विजयदण्डैर्विदर्भनाथं वशीकृत्य बन्धनान्मोचितः कुमारो माधवसेनो नाम तस्येयं कनीयसी भगिनी मालविका नाम ।]

रहस्य खुल जाता है । अपनी राजकुमारी की हालत देखकर भावावेश में दोनों आँसू बहाती हैं ।

६३ यः+असौ विजयाः=विजयिनश्च ते दण्डाः (सेनाः) तैः । वशीकृत्य=अधीन करके, परास्त करके, हरा कर । बन्धनात्+√मुच्+णिच्+त (कर्मणि) तस्य+इयम् कनीयसी=छोटी ।

---

६० राजा—अरी तुम दोनों कौन हो ? और ये कौन हैं ?

६१ दोनों—स्वामी ! ये हमारी राजकुमारी हैं ।

६२ राजा—वह किस तरह ?

६३ दोनों—सुनिये स्वामी ! आप की विजयिनी सेना ने विदर्भ-राज को अधीन बना कर जिस माधवसेन राजकुमार को बन्धन से छुड़ाया है, उनकी छोटी बहिन ये मालविका हैं ।

६४ देवी—कहं राअदारिआ इअं। चन्दणं खु मए पादुआपरिहोएण दूसिदं। [कथं राजदारिकेयम्। चन्दनं खलु मया पादुकोपयोगेन दूषितम्।]

६५ राजा—अथात्रभवती कथमित्थंभूता ?

६६ मालविका (निःश्वस्यात्मगतम्)—विहिणो णिओएण। [विधेर्नियोगेन]

६७ द्वितीया—सुणादु भट्टा। दाआदवसंगदे अम्हाणं भट्टिदारए माहवसेणे तस्स अमच्चेण अज्जसुमदिणा अम्हारिसं परिअणं उज्झिअ गूढं अवणीदा एसा [श्रृणोतु भर्ता। दायादवशं गतेऽस्माकं भर्तृदारके माधवसेने तस्यामात्येनार्यसुमतिना अस्मादृशं परिजनमुज्झित्वा गूढमपनीतैषा।]

---

६४ राजदारिका+इयम्। पादुकायाम्+उपयोगः तेन=खड़ाऊं पर लगा कर अर्थात् चन्दन की लकड़ी का खड़ाऊँ बना कर। मालविका की वास्तविकता के खुलते ही रानी को बड़ा दुःख होता है कि अपनी-जैसी राजकुमारी को मैंने दासी बना कर रखा। जिस चन्दन को रगड़ कर लोग देवताओं के सिर पर चढ़ाया करते हैं, उसका मैंने खड़ाऊँ बनाया।

६५ अथ+अत्रभवती कथम्+इत्थंभूता=यह दासी कैसे बन गयी ?

६६ निःश्वस्य + आत्मगतम्। विधेः=भाग्य के नियोगेन=आज्ञा से, प्रेरणा से, विधान से, भाग्य-वश।

६७ दायादस्य वशं गते=अपने सगोती के जायदाद के हकदार भाई के अधीन

---

६४ देवी—है ! ये राजकुमारी हैं ? मैं तो चन्दन को खड़ाऊँ बना कर बड़ा बुरा कर बैठी हूँ।

६५ राजा—इनकी ऐसी हालत क्यों हुई ?

६६ मालविका—(आह भर कर, मन ही मन) भाग्य की प्रेरणा से।

६७ दूसरी—स्वामी, सुनिए। हमारे राजकुमार माधवसेन को जब उनके सगोती ने बन्दी बना लिया, तब उनके मन्त्री आर्य वसुमति हम-जैसी दास-दासियों को छोड़ कर इन्हें छिपा कर ले गए।

६८ राजा—श्रुतपूर्वं मयैतावत्। ततस्ततः।

६९ उभे—अदो वरं ण आणीमो। [अतः परं न जानीवः।]

७० परिव्राजिका—अतः परमहं मन्दभागिनी कथयिष्यामि।

७१ उभे—भट्टिदारिए अज्जकोसिईए विअ सरसंजोओ पडिभाइ। [भर्तृदारिके ! आर्यकौशिक्या इव स्वरसंयोगः प्रतिभाति।]

७२ मालविका—णं सा एव्व। [ननु सैव]

७३ उभे—जदिवेसधारिणी अज्जकोसिई दुक्खेण विभाविअदि। भअवदि वन्दामो। [यतिवेषधारिणी आर्यकौशिकी दुःखेन विभाव्यते भगवति ! वन्दावहे।]

हो जाने पर, उसके द्वारा बन्दी बनायें जाने पर। तस्य + अमात्येन + आर्य-वसुमतिना अस्मादृशम्=हम-जैसे। परिजनम् + उज्झित्वा। गूढम् + अप-नीता+एषा।

६८ पूर्वं श्रुतम् इति श्रुतपूर्वम्। मया + एतत्=मेरा पहले का सुन रखा है।

७१ स्वराणां संयोगः=गले के स्वरों का मेल अर्थात् वाणी, बोली, आवाज।

७३ यतेः वेषं धारयतीति। दुःखेन=कठिनाई से, मुश्किल से। विभाव्यते=पहचानी जाती है। यति वेष के कारण लड़कियाँ उन्हे पहचान नहीं सकीं। मालूम होता है कि मालविका को उनका पता था, परन्तु यह नहीं बताया गया है कि उसे इस बात का कैसे पता लगा।

---

६८ राजा—यह तो मैंने पहले सुन रखा है। इसके बाद ?

६९ दोनों—इसके बाद का हमें पता नहीं।

७० परिव्राजिका—इसके बाद की बात मैं अभागिन कहूँगी।

७१ दोनों—राजकुमारीजी ! आर्य कौशिकी की-सी आवाज लग रही है।

७२ मालविका—सचमुच ये वही हैं।

७३ दोनों—संन्यासिनी का वेष बनाए आर्य कौशिकी मुश्किल से पहचान में आ रही हैं। भगवति ! प्रणाम।

७४ परिव्राजिका—स्वस्ति भगवतीभ्याम्।

७५ राजा—कथमाप्तवर्गोऽयं भवत्याः।

७६ परिव्राजिका—एवमेतत्।

७७ विदूषकः—तेण हि कहेदु दाणि भअवदी अत्तहोदीए उत्तन्तसेसं [तेन हि कथयत्विदानीं भगवती अत्रभवत्या वृत्तान्तशेषम्।]

७८ परिव्राजिका (सवैक्लव्यम्)—श्रूयतां तावत्। माधवसेनसचिवं सुमतिं ममाग्रजमवगच्छ।

७९ राजा—उपलब्धम्। ततस्ततः।

८० परिव्राजिका—स इमां तथागतभ्रातृकां मया सार्धमपवाह्य भवत्संबन्धाकाङ्क्षया पथिकसार्थं विदिशागामिनमनुप्रविष्टः।

---

७५ कथम्+आप्त-वर्गः+अयम्=आपका यह परिचित-मण्डल है, मित्र-वर्ग है।

७७ कथयतु+इदानीम्। वृत्तान्तस्य शेषः तम्=कहानी का शेष, बचा-खुचा हाल।

७८ मम+अग्रजम्+अवगच्छ = माधव सेन को मेरा ज्येष्ठ भाई समझें।

८० तथागतः भ्राता यस्याः सा (ब० व्री०)=जिसके भाई की उस तरह की

---

७४ परिव्राजिका—तुम दोनों का कल्याण हो।

७५ राजा—अरे! क्या ये भी आपकी जानी-पहचानी हैं?

७६ परिव्राजिका—हाँ, इसी तरह समझें।

७७ विदूषक—हाँ, तो आप अब इनका शेष वृत्तान्त कह दीजिए।

७८ परिव्राजिका—(विषाद के साथ) तो सुनिए। माधवसेन के मन्त्री सुमति को आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता समझें।

७९ राजा—हाँ, समझ गया। फिर?

८० परिव्राजिका—जब इनके भाई की ऐसी हालत हो गई, तब वे मेरे

८१ राजा—ततस्ततः ।

८२ परिव्राजिका—स घाटव्यन्तरे निविष्टो गताध्वा वणिग्जनः ।

८३ राजा—किं चान्यत् ।

८४ परिव्राजिका—ततस्ततः ।

दशा हो गयी थी अर्थात् जो अपने सगोती द्वारा कैद कर लिया गया था ऐसी इमाम्=मालविका को सार्धम्=अपने साथ अपवाह्य=कहीं ले जाकर भवता सम्बन्धः तस्य आकाङ्क्षया=आपके साथ इनका विवाह-सम्बन्ध करने की इच्छा से । विदिशां गच्छतीति=विदिशा नगरी को जा रहे पथिकानां सार्थम्=बटोहियों के दल में अनुप्रविष्टः=जा घुसा, जा मिला ।

८२ घ+अटव्याः अन्तरे = घोर जंगल के बीच । गतः अध्वा येन तथा-भूतः=जो कुछ रास्ता चल चुका था । वणिग्जनः = व्यापारी-दल । निविष्टः= प्रविष्ट हुआ ।

८४ तूणीर० अन्वयः—तूरीण-पट्ट-परिणद्ध-भुजान्तरालम् आपार्ष्णि-लम्बि-शिखि-बर्ह-कलाप-धारि कोदण्ड-पाणि निनदत् आपात-दुष्प्रसहं प्रतिरोधकानाम् अनीकम् आविरभूत् । (वसन्ततिलका)

साथ-साथ इन्हें कहीं ले जाकर आप से इनका सम्बन्ध करने की इच्छा से विदिशा नगरी को जा रहे यात्री-दल के साथ हो लिये ।

८१ राजा – हाँ, तब ?

८२ परिव्राजिका—वह व्यापारी-दल कुछ राह चल कर घने जंगल में प्रविष्ट हुआ ।

८३ राजा —और तब क्या हुआ ?

८४ परिव्राजिका—तब क्या हुआ कि—

तूणीरपट्टपरिणद्धभुजान्तराल-
मापार्ष्णिलम्बिशिखिबर्हकलापधारि।
कोदण्डपाणि निनदत्प्रतिरोधकाना-
मापातदुष्प्रसहमाविरभूदनीकम् ॥ १० ॥

(मालविका भयं रूपयति)

८५ विदूषकः—भोदि मा भआहि अदिक्कन्दं खु भअवदी कहेदि।

तूणीराणां पट्टे परिणद्धानि भुजानाम् अन्तरालानि यस्य तथाभूतम् = (ब० व्री०)=जिनका भुज-मध्य अर्थात् छाती तरकसों की पट्टी से कसी हुई थी। आपार्ष्णि(पार्ष्णि मर्यादीकृत्य) लम्बन्ते इति लम्बिनः तेषां पिच्छानां कलापं धारयतीति धारि(धारकम्)=एड़ी तक लटके हुए मोर-पंखों का समूह धारण किए हुए **कोदण्डानि पाणिषु यस्य तथाभूतम्** (ब० व्री०)=हाथों में धनुष रखे हुए, **निनदत्** = शब्द करते हुए, हल्ला मचाते हुए ललकारते हुए। **आपाते दुःखेन प्रसोढुं योग्यम्** = टूट पड़ते ही जिनका सामना करना बड़ा कठिन था, ऐसे **प्रतिरोधकानाम्** = लुटेरों, डाकुओं, दस्युओं का **अनीकम्** = दल, सेना **आविरभूत्** = प्रकट हुई, दिखलाई दी।

मालविका का भय स्वाभाविक ही है। ये सब बातें तो उसी पर गुजरी थीं। अब जब परिव्राजिका ने घटना का वर्णन किया, तो उसको स्मृति आते ही मालविका भय से कांप जाती है। स्त्रियों का हृदय कातर तो होता ही है।

८५ **अतिक्रान्तम्** = बीता हाल, अतीत की बात।

छाती पर तरकसों की पट्टी कसे, एड़ी तक मोर-पंखों का समूह धारण किये, हाथों में धनुष रखे और ललकारते हुए डाकुओं का दल टूट पड़ा जिसका सामना करना कठिन था ॥ १० ॥

(मालविका भय का अभिनय करती है)

८५ विदूषक—आप मत डरिए। भगवती तो अतीत की बात कह रही हैं।

[भवति मा बिभेहि । अतिक्रान्तं खलु भगवती कथयति ।]

८६ राजा—ततस्ततः ।

८७ परिव्राजिका—ततो मुहूर्तं बद्धयुद्धास्ते पराङ्मुखीकृताः सार्थवाहयोद्धारस्तस्करैः ।

८८ राजा—भगवति ! अतः परमिदानीं कष्टं श्रोतव्यम् ।

८९ परिव्राजिका—ततः स मत्सोदर्यः ।

इमां परीप्सुर्दुर्जाते पराभिभवकातराम् ।
भर्तृप्रियः प्रियैर्भर्तुरानृण्यमसुभिर्गतः ॥ ११ ॥

मुहूर्तम् = थोडी देर के लिए (काल के अत्यन्त संयोग में द्वितीया) बद्धं युद्धं यैः तथाभूतैः (ब० व्रो०)=जो डट कर लड़े । सार्थवाहानां योद्धारः= व्यापारियों के सिपाही, तस्करैः = डाकुओं ने । अपराङ्मुखाः पराङ्मुखाः सम्पद्यमानाः कृताः इति पराङ्मुख + च्वि + कृ + त (कर्मणि)=पछाड़ दिए, परास्त कर दिये, भगा दिए ।

८९ मम सोदर्यः=मेरा सगा भाई ।

इमाम्० अन्वयः—दुर्जाते पराभिभवकातराम् इमाम् परीप्सुः भर्तृप्रियः प्रियैः असुभिः भर्तुः आनृण्यं गतः । (पथ्यावक्त्रम्)

दुर्जाते = संकट में, विपत्ति में । परैः अभिभवः तेन कातराम्= शत्रुओं,

---

८६ राजा—तब फिर ?

८७ परिव्राजिका—तब थोड़ी देर तक तो व्यापारियों के सिपाही उनसे लड़े, किन्तु डाकुओं ने उन्हें परास्त कर दिया ।

८८ राजा—भगवती ! इससे आगे तो अब जो सुनने को मिलेगा वह दुःख-भरा ही होगा ।

८९ परिव्राजिका—इसके बाद वे मेरे भाई—

९० प्रथमा—हा हदो सुमदी। [हा हतः सुमतिः !]

९१ द्वितीया—अदो खु भट्टिदारिआए एआरिसी समवत्था संवुत्ता। [अतः खलु भर्तृदारिकाया एतादृशी समवस्था संवृत्ता]। (परिव्राजिका वाष्पं विकिरति)

९२ राजा—भगवति तनुभृतामीदृशी लोकयात्रा। न शोच्यस्तत्रभवान् सफलीकृतभर्तृपिण्डः। ततस्ततः ?

डाकुओं द्वारा किए गए आक्रमण से डरी हुई इन्हें, परीप्सुः परि + √आप् + सन् + उ (कर्तरि)=बचाना चाहता हुआ। भर्तुः प्रियः = स्वामी का प्यारा (सुमति) प्रियैः असुभिः = प्रिय प्राणों से, भर्तुः अनृणस्य भावः आनृण्यं गतः = उऋण हो गया। अर्थात् मेरे भाई ने अपने प्राणों की आहुति देकर इनकी रक्षा की, और स्वामी का ऋण चुका दिया।

९२ तनुं बिभ्रति—तनुभृतः तेषाम्=शरीरधारियों की, प्राणियों की, ईदृशी लोकयात्रा=ऐसी ही लोकस्थिति, ऐसी ही हालत-हुआ करती है अर्थात् मरण-धर्मा होने से मृत्यु प्राणिमात्र का स्वाभाविक धर्म है. देखिए रघु०= "मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्।" गीता भी यही कहती है—"जातस्य हि ध्रुवो

उस विपत्ति में डाकुओं के आक्रमण से घबराई हुई इस मालविका की रक्षा करने के प्रयत्न में—स्वामी के प्यारे मेरे भाई—अपने प्रिय प्राणों को देकर स्वामी से उऋण हो गए ॥ ११ ॥

९० पहली—हाय ! हाय ! सुमतिजी मारे गए ?

९१ दूसरी—इसीलिए तो राजकुमारी की ऐसी दशा हुई।

(परिव्राजिका आँसू गिराने लगती है)

९२ राजा—भगवती ! शरीर-धारियों की ऐसी ही गति है। ऐसे भाई पर शोक करना ठीक नहीं, जिसने अपने स्वामी का नमक सफल किया है। इसके बाद ?

९३ परिव्राजिका—ततो मोहं गताहं यावत्संज्ञामुपलभे तावादिय दुर्लभदर्शना संवृत्ता।

९४ राजा—महत् खलु कृच्छ्रमनुभूतं भगवत्या।

९५ परिव्राजिका—ततो भ्रातुः शरीरमग्निसात्कृत्या पुनर्नवीकृतवैधव्य-दुःखया मया त्वदीयं देशमवतीर्य इमे काषाये गृहीते।

मृत्युः" शोचितुं योग्यः शोच्यः=शोक करने योग्य नहीं है, क्योंकि उसने स्वामी की लाज बचाने में प्राण दिए हैं। असफलं सफलं सम्पद्यमानं कृतम् इति सफलीकृतं भर्तुः पिण्डं येन तथाभूतः (ब० व्री०)=जिसने स्वामी का नमक, अन्न सफल कर दिया है, अतः सुमति की ऐसी अच्छी मौत पर शोक करने का कोई काम नहीं है।

९३ मोहं गता + अहम्=मूच्छित हुई मैं, संज्ञाम् उपलभे=होश में आई, तावत्+इयम् दुर्लभं दर्शनं यस्याः सा (ब० व्री०) संवृत्ता=इनका दिखाई देना कठिन हो गया अर्थात् ये वहाँ दिखाई नहीं दीं।

९४ कृच्छ्रम्=विपत्ति, मुसीबत, अनुभूतम्=झेली है।

९५ शरीरम् अग्नेः अधीनं कृत्वा इति अग्नि + सात् + कृ + ल्यप्= शरीर जला कर, दाह-कर्म करके पुनः नवी०—नवीकृतं वैधव्यस्य दुःखं यस्याः सा (ब० व्री०)=जिसका वैधव्यदुःख नया हो गया है। पति के मरने के बाद

---

९३ परिव्राजिका—तब मैं तो मूच्छित हो गई थी। जब मुझे चेत आई, तो यह मुझे वहाँ नहीं दिखाई पड़ी।

९४ राजा—भगवति ! आपने सचमुच बड़ी विपत्ति झेली है।

९५ परिव्राजिका—तब भाई के शरीर का दाह-कर्म करके जब (मेरे हृदय में) अपने विधवापन का दुःख ताजा हो गया, तो मैं आपके देश में आ गई और ये दो गेरुए वस्त्र पहिन लिये।

९६ राजा—युक्तम् । सज्जनस्यैष पन्थाः । ततस्ततः ।

९७ परिव्राजिका—सेयमाट्टविकेभ्यो वीरसेनं वीरसेनाद्देवीं गता देवीगृहे लब्धप्रवेशया मया पुनर्दृष्टेत्येतदवसानं कथायाः ।

९८ मालविका (आत्मगतम्)—किं णु खु संपदं भट्टा भणादि । [किं नु खलु सांप्रतं भर्ता भणति ।]

९९ राजा—अहो परिभवोपहारिणो विनिपाताः । कुतः

कौशिकी का एक मात्र सहारा भाई ही था । जब वह भी चल बसा, तो बेचारी निराश्रय हो गई और परिव्राजिका—संन्यासिनी बन गई । बौद्धमतानुसार परिव्राजिका को गेरुआ वस्त्र ही पहिनने का विधान है ।

९६ सज्जनस्य + एषा पन्थाः । सज्जन लोगों के लिए संन्यास-मार्ग ही ठीक रहता है । विधवायें भी पवित्र और विरक्त जीवन बिताया करती थीं ।

९७ लब्ध०=लब्धः प्रवेशो यया (ब० व्री०) = प्रवेश प्राप्त किये हुए अर्थात् प्रविष्ट हुई । पुनः + दृष्टा + इति + एतद् + अवसानम् ।

९८ किं नु भणति=मालविका के दिल में यह जानने की उत्सुकता हो गई कि देखें अब स्वामी मेरी विपत्-कहानी सुन कर क्या कहते हैं । उसे चिन्ता होने लगी कि मैं कुछ समय डाकुओं और वीरसेन के अधिकार में रही, इसलिए शायद मेरे चरित्र पर सन्देह करके कहीं ना तो न कर दें ।

९९ परिभवम् उपहरन्ति इति (उपपद तत्पु०)=अनादर, अपमान लाने

---

९६ राजा—ठीक है ! सज्जनों का यही मार्ग है । हाँ, तब फिर ।

९७ परिव्राजिका—जंगलियों (डाकुओं) के पास से छीनकर वीरसेन ने मालविका को देवी के यहाँ भेज दिया और जब रनिवास में मेरा आना-जाना खुला, तब मैंने इसे फिर यहीं देखा । यही इस कथा का अन्त है ।

९८ मालविका—(मन ही मन) देखें अब महाराज क्या कहते हैं ।

९९ राजा—ओह ! विपत्तियाँ अनादर का घर हुआ करती हैं । क्योंकि—

प्रेष्यभावेन नामेयं देवीशब्दक्षमा सती।
स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्णं वोपयुज्यते ॥ १२ ॥

१०० देवी—भअवदि तुए अहिजणवदि मालविअं अआणन्तीए

जाती होती है। विनिपाताः=विनिपतन्ति इति अथवा विनिपात्यन्ते (अपकृष्यन्ते) एभिः इति विनिपाताः = जो पड़ने वाली अथवा जिनसे मनुष्य नीच होते हैं, अर्थात् विपत्तियाँ। जब मनुष्य पर विपत्ति पड़ती है, तब सारी तरह से अपमान ही अपमान होते रहते हैं, देखिए, 'विपद् विपदमनुबध्नाति' (मुसीबत पर मुसीबत)।

प्रेष्य०— अन्वयः—देवी-शब्द-क्षमा सती इयं प्रेष्यभावेन नाम स्नानीय-क्रियया पत्रोर्णं वा उपयुज्यते। (पथ्यावक्त्रम्)

'देवी'-शब्दस्य क्षमा = 'महारानी' पद प्राप्त करने योग्य। सती = साध्वी, सती, सज्जन। इयं = मालविका प्रेष्यते इति प्रेष्या तस्या भावेन = दासी, नौकरानी के रूप में। उपयुज्यते = काम में लाई जा रही है इति नाम = बुरी बात है। नाम अव्यय है और यहाँ निन्दा अर्थ में प्रयुक्त है, देखिए, अमरकोश—"नाम प्राकाश्य-संभाव्य-क्रोधोपगमकुत्सने"। स्नाति अनेन इति स्नानीयं यद् वस्त्रं— तस्य क्रियया = नहाने के वस्त्र के काम में अर्थात् शरीर पोंछने के लिए, परने या तौलिये के रूप में। पत्रोर्णम् = धुला हुआ रेशमी वस्त्र ("पत्रोर्णं धौत-कौशेयम्"— अमरकोश), वा = इव = तरह। यहाँ वा शब्द सादृश्यार्थ में है। ('उपमायां विकल्पे वा'—अमरकोश) जिस धुली रेशमी साड़ी को किसी उत्सव-पर्व में पहना करती हैं, उससे यदि कोई शरीर पोंछने का काम ले, तो जैसी ही बात यह भी हुई कि इसने मालविका से—जो रानी बनने योग्य है—दासी का काम लिया।

१०० त्वया + अभिजनः अस्या अस्तीति अभिजनवती नाम।

कितनी बुरी बात है कि महारानी पद प्राप्त करने योग्य इस सती साध्वी से इस तरह दासी का काम ले रहे हैं, जैसे कि कोई नहा कर रेशमी वस्त्र से शरीर पोंछने के लिए परने का काम लेता हो ॥ १२ ॥

१०० देवी—भगवति! आपने यह उचित नहीं किया जो इसे मालविका

असम्पदं किदं। [भगवति ! त्वयाभिजनवतीं मालविकामनाचक्षाणया असाम्प्रतं कृतम्।]

१०१ परिव्राजिका—शान्तं पापं शान्तं पापम्। कारणेनैव खलु मया नैभृत्यमवलम्बितम्।

१०२ देवी—किं विअ कालणं। [किमिव कारणम् !]

१०३ राजा—यदि वक्तव्यम् कथ्यताम्।

१०४ परिव्राजिका—श्रूयताम्। इयं पितरि जीवति केनापि देवयात्रा·

अभिजन कुल को कहते हैं। ('कुलेऽप्यभिजनः'—अमरकोश) उससे प्रशस्तार्थ में 'मतुप' है अर्थात् उच्चकुलोत्पन्न, उच्चजातीय मालविकाम् न आचक्षाणा आ + चक्ष् + शानच् + स्त्री = न कहते हुए, हमें न बताते हुए, असाम्प्रतम् = न साम्प्रतम्-अनुचितं कृतम् = किया है अर्थात् आपने यह ठीक नहीं किया कि इसको उच्चकुलीनता बहुते हमें नहीं बताई।

१०१ शान्तं पापम् = यह एक मुहाविरा है जो दूसरे की कही बात को न स्वीकार करने और अपने अनिष्ट निराकरण अथवा खेद प्रकट करने में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में 'राम राम राम !' अथवा 'शिव शिव शिव ! ऐसा न कहिए'—यों कहा जाता है। कारणेन + एव = कारण से ही। मया निभृतस्य निभृताया वा भाव नैभृत्यम् = चुप्पी, छिपाव। अवलम्बितम् = ग्रहण किया, अपनाया।

१०४ केन + अपि=किसी। देवयात्रायै आगतः तेन = देवयात्रा, देवोत्सव

को उच्चकुलीन नहीं बताया।

१०१ परिव्राजिका—राम, राम, राम ! ऐसा न कहिए। यह भी कोई कारण ही था जिससे मैंने यह बात छिपा रखी।

१०२ देवी—ऐसा कौन-सा कारण था ?

१०३ राजा—हाँ, यदि कहने योग्य हो, तो कह डालिए।

१०४ परिव्राजिका—क्योंकि इनके पिता जीवित थे, देवोत्सव पर एक

गतेन सिद्धादेशेन साधुना मत्समक्षमादिष्टा। संवत्सरमात्रमियं प्रेष्यभाव-मनुभूय ततः सदृशभर्तृगामिनी भविष्यति इति। तमेनमवश्यंभाविनमादेश-मस्यास्त्वत्पादशुश्रूषया परिणमन्तमवेक्ष्य कालप्रतीक्षया मया साधु कृत-मिति पश्यामि।

१०५ राजा—युक्तोपेक्षा।

१०६ कञ्चुकी—देव! कथान्तरेणान्तरितमिदममात्यो विज्ञापयति।

में आए हुए सिद्धम् आदिशति तेन=सिद्ध, सत्य बात को बताने वाले। मम + समक्षम् = मेरे सामने। आदिष्टा=(यह) कही गई अर्थात् इसे कहा। संव-त्सर एव संवत्सरमात्रम्=एक वर्ष तक (काल-संयोग में द्वितीया) प्रेष्यभावम् =दासीत्व, दासी का काम। अनुभूय = भोग कर। सदृशं भर्तारं गच्छतीति= अपने जैसे—कुलीन पति को प्राप्त करगी। तम् एवम् अवश्यं भवतीति अवश्यभाविनम् आदेशम् = अवश्य होनेवाली, साधु की वाणी को। अस्याः तव पादयाः शुश्रषा तथा परिणमन्तम् + अवेक्ष्य = आपकी चरण-सेवा के रूप में बदलती हुई देख कर। कालस्य प्रतीक्षा तया = काल की प्रतीक्षा करके। साधु कृतम् = उचित ही किया, अनुचित नहीं।

१०५—युक्ता + उपेक्षा = उपेक्षा, चुप्पी ठीक ही थी।

१०६—अन्या कथा इति कथान्तरम् तेन + अन्तरितम् (व्यवहितम्)=

सत्यवादी साधु आए थे। उन्होंने मेरे सामने इसके लिए कहा था कि एक वर्ष तक यह दासी का काम करके तदनन्तर अपने-जैसे (योग्य) पति को प्राप्त करेगी। इसलिए साधु की अवश्य होनेवाली उस वाणी को, आपकी चरण-सेवा में लगी हुई इसमें फलीभूत देखकर मैं एक वर्ष के समय की प्रतीक्षा करती रही, इसलिए मैंने जो आप लोगों को इसकी बात नहीं बताई, वह मैं समझती हूँ ठीक ही किया।

१०५ राजा—आपकी चुप्पी ठीक ही रही।

१०६ कञ्चुकी—महाराज! बीच में यह कथा छिड़ जाने से जो एक बात

विदर्भगतमनुष्ठेयमवधारितमस्माभिः। देवस्य तावदभिप्रायं श्रोतु-मिच्छामि इति।

१०७ राजा— मौद्गल्य ! तत्रभवतोर्भ्रात्रोर्यज्ञसेनामाधवसेनयोर्द्वैराज्य-मवस्थापयितुकामोऽस्मि।

तौ पृथग्वरदाकूले शिष्टामुत्तरदक्षिणे।
नक्तंदिवं विभज्योभौ शीतोष्णकिरणाविव ॥ १३ ॥

जिसके बीच में यह दूसरा कथा-जिसे परिव्राजिका कर रही है—पड़ गई ऐसी। इदम् = यह बात अमात्यः + वज्ञा० = मंत्रीजी ने कहला भेजा है। संख्या ४७ में देखिए कि मन्त्री विदर्भराज से आई हुई भेंट में से दो लौंडियों का उल्लेख कर रहा था, उसने और भी सूचना भेजी थी, किन्तु इस बीच उन लौंडियों के साथ-साथ परिव्राजिका और मालविका की लम्बी कहानी छिड़ पड़ी। कञ्चुकी को यह ठीक नहीं लगा कि इस कहानी के बीच वह मन्त्री की दूसरी बात को भी कह दे। विदर्भ·गतम् = विदर्भदेश-सम्बन्धी अनुष्ठेयम् = किया जाने योग्य काम अवधारितम् + अस्माभिः = हमने निश्चित कर लिया है। तावत्+अभिप्रायम् = आपका विचार सुनना चाहता हूँ। याद रहे कि अग्नि-मित्र 'सचिवायत्तसिद्धि' राजा था। राज-सम्बन्धी सभी कार्य मन्त्रियों के हाथ में रहता है।

१०७ द्वयोः राज्ञोः भावः कर्म वा द्वैराज्यम् + राजन् + ष्यञ् = दोनों भाइयों का राज्य अर्थात् देश को दो भागों में बांट कर दोनों का पृथक्-पृथक् राज्य स्थापित करना चाहता हूँ।

तौ०—अन्वयः—शीतोष्णकिरणौ नक्तं दिवम् इव तौ उभौ उत्तर-दक्षिणे

मैं कह न सका वह यह है कि मन्त्रीजी यह भी कह रहे हैं कि विदर्भ-देश के सम्बन्ध में क्या किया जाय—इसका हमने निर्णय कर लिया है। मैं आपके विचार सुनना चाहता हूँ।

१०७ राजा—मौद्गल्य ! मैं यज्ञसेन और माधवसेन दोनों भाइयों के दो पृथक्-पृथक् राज्य स्थापित करना चाहता हूँ।

१०८ कञ्चुकी—देव ! एवममात्यपरिषदे विज्ञापयामि ।

(राजा अङ्गुल्यानुमन्यते । निष्क्रान्तः कञ्चुकी)

१०९ प्रथमा (जनान्तिकम्)—भट्टिदारिए दिट्ठिआ भट्टिदारओ

वरदा-कूले विभज्य पृथक् शिष्टाम् । (पथ्यावक्त्रम्)

शीतकिरणश्च उष्णकिरणश्च (द्वन्द्व में अन्तिम पद प्रत्येक से जुड़ता है) शीतोष्णकिरणौ = चाँद और सूरज । नक्तंदिवम इव=रात और दिन पर जैसे (शासन करते हैं) तौ उभौ=वे दोनों भाई, उत्तरं च दक्षिणं च (द्व०) उत्तर दक्षिणे=उत्तर और दक्षिण दिशा के वरदायाः कूले=वरदा नदी के दोनों तीरों को विभज्य=परस्पर बाँट कर शिष्टाम् √शास् (अदा प० शासन करना) + लोट् प्र० द्वि०=शासन करे, राज्य करे । देश के दो टुकड़े कर दिए जायँ । वरदा का दक्षिणं किनारे का भाग एक रखे और उत्तर के किनारे का भाग दूसरा—जिस तरह चन्द्र और सूर्य रात और दिन को बाँट कर शासन करते हैं वैसे ही यज्ञसेन और माधवसेन मिल कर विदर्भ पर राज्य करें । वरदा वही नदी है जिसे आजकल वरधा कहते हैं, जिसके किनारे पर शहर का नाम भी वरधा ही है, जहाँ महात्मा गाँधी का आश्रम भी है ।

१०८ अमात्यानां परिषद् तस्यै=मन्त्रि-मण्डल को सूचना दे देता हूँ । अङ्गुल्या + अनु०=अंगुली का संकेत करके स्वीकृति दे देता है ।

१०९ राज्यस्य अर्धं तस्मिन्, प्रतिष्ठां गम०=प्रतिष्ठित हो जाएँगे, गद्दी पर बैठ जाएँगे ।

वे दोनों वरदा नदी के उत्तर और दक्षिण दोनों देशों को परस्पर बाँट कर इस तरह शासन करें जैसे कि चन्द्र और सूर्य बाँट कर रात और दिन पर शासन किया करते हैं ॥१३॥

१०८ कञ्चुकी—महाराज ! मैं मन्त्री-परिषद् को यह सूचित कर देता हूँ ?

(राजा अंगुली से स्वीकृति दे देता है और कञ्चुकी चला जाता है)

अद्धरज्जे पदिट्ठं गमिस्सदि। [भर्तृ-दारिके ! दिष्ट्या भर्तृ-दारकोऽर्धराज्ये प्रतिष्ठां गमिष्यति ।]

११० मालविका—एत्तिअं दाव बहु मन्तव्वं जं जीविदसंसआदो भुत्तो। [एतावत्तावद्बहु मतव्यं यज्जीवितसंशयोन्मुक्तः ।]

१११ कञ्चुकी—(प्रविश्य) विजयतां देवः। अमात्यो विज्ञापयति। अहो कल्याणी देवस्य बुद्धिः। मन्त्रिपरिषदोऽप्येवमेव दर्शनम्। कुतः।

द्विधा विभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ

---

११० एतावत् + तावत् + बहु यत् जीवितस्य संशयः तस्मात् मुक्तः= जीवन के खतरे से मुक्त हो गए। माधवसेन की कारागार से मुक्ति ही बहुत बड़ी बात है, क्योंकि जीवन सबसे मुख्य होता है, आधा राज्य उन्हें मिल गया यह तो गौण बात है।

१११ कल्याणी = यह यहाँ विशेषण-शब्द है, इसलिए विशेष्य पद 'बुद्धि' के अनुसार स्त्रीलिंग बन गया। आपके विचार बड़े अच्छे हैं। **मन्त्रि-परिषदः + अपि + एवम् + एवं दर्शनम** = विचार हैं। अग्निमित्र विदर्भ देश को हड़पना नहीं चाहता, बल्कि उसे विदर्भ-राजकुमारों को सौंप देता है।

द्विधा० अन्वयः—द्विधा विभक्तां श्रियम् उद्वहन्तौ तौ नृपती (द्विधा विभक्तां) धुरम् (उद्वहन्तौ) रथाश्वौ इव परस्परावग्रह-निर्विकारौ संग्रहीतुः ते निदेशे स्थास्यतः। (उपजाति)

---

१०९ पहली—(एक तरफ) राजकुमारीजी ! बधाई। राजकुमार को आधा राज्य मिल जाएगा।

११० मालविका—अरी ! इतना ही बहुत समझो कि वे जीवन के खतरे से मुक्त हो गए हैं।

१११ कञ्चुकी—(प्रवेश करके) महाराज की जय हो। मन्त्रीजी कहते हैं कि महाराज का बहुत अच्छा विचार है। मन्त्री-परिषद् का भी ऐसा ही मत है, क्योंकि—

घुरं रथाश्वाविव संग्रहीतुः।
तौ स्थास्यतस्ते नृपती निदेशे
परस्परावग्रहनिर्विकारौ ॥ १४ ॥

११२ राजा—तेन हि मन्त्रिपरिषदं ब्रूहि। सेनान्ये वीरसेनाय लिख्यतामेवं क्रियतामिति।

द्विधा + वि०=दो भागों में विभक्त, श्रियम् उद्व०=राज्य-लक्ष्मी को धारण करते हुए तौ नृपती=वे दोनों राजा यज्ञसेन और माधवसेन। धुरम्=जूए को, रथस्य अश्वौ इव=रथ के दो घोड़ों की तरह, परस्परस्य अवग्रहे निर्विकारौ= एक दूसरे पर आक्रमण करने, टकराने अथवा बाधा पहुँचाने में विकार-रहित, उदासीन होते हुए। संग्रहीतुः=(१) नियामक, शासक (२) रथवाहक। ते निदेशे—आपकी आज्ञा स्थास्यतः=रहेंगे। अभिप्राय यह है कि ये दोनों भाई आप की सार्वभौमता के अधीन रहकर परस्पर कभी नहीं लड़ेंगे और आपकी ही आज्ञा पर चलेंगे जिस तरह कि रथ के जुए को बराबर कन्धों पर रखे हुए दो घोड़े परस्पर न टकराते हुए रथवाहक की आज्ञा पर ही चला करते हैं। राज्य की जुए से, दोनों भाइयों की दो घोड़ों से और अग्निमित्र की रथवाहक से तुलना की गई है।

११२ सेनां नयतीति सेनानीः तस्मै सेनापति के लिए। लिख्यताम् √लिख् लोट् (कर्मवा०)=लिख दिया जाय।

दो भागों में विभक्त राज्य-लक्ष्मी को धारण करते हुए वे दोनों भाई एक दूसरे पर आक्रमण करने का विचार छोड़कर अपने नियामक-सार्वभौम शासक—आपकी आज्ञा पर इस तरह रहेंगे, जैसे कि दो घोड़े बराबर विभक्त रथ के जुए को अपने ऊपर रख कर परस्पर न टकराते हुए रथवाहक की आज्ञा पर रहते हैं।

११२ राजा—इसलिए मन्त्रि-परिषद् को कहो कि सेनापति वीरसेन को लिख भेजें कि ऐसा कर दिया जाय।

११३ कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रम्य सप्राभृतकं लेखं गृहीत्वा पुनः प्रविश्य) अनुष्ठिता प्रभोराज्ञा। अयं पुनरिदानीं देवस्य सेनापतेः पुष्यमित्रस्य सकाशात्सप्राभृतको लेखः प्राप्तः। प्रत्यक्षीकरोत्वेनं देवः।

(राजा सहसोत्थाय प्राभृतकं सोपचारं परिगृह्य शिरसि कृत्वा परिजनायार्पयति लेखं च नाट्येन उद्वेष्टयति।)

११४ देवी (आत्मगतम्) अम्हहे तदोमुहं एव्व मे हिअअं। सुणिस्सं दाव गुरुअणकुसलाणन्दरं पुत्तस्स वसुमित्तस्स वुत्तन्दं। अदिभारे खु

११३सेनापतेः पुष्यमित्रस्य—इसके लिए देखिए टिप्पण सं० ५। प्राभृतम् एव प्राभृतकम् स्वार्थे क, प्राभृतकेन सहितः लेखः=उपहार, भेंट सहित एक पत्र प्राप्तः=आया है। प्रत्यक्षीकरोतु + एनं देवः=आप इसे देखें।

सहसा + उत्थाय=एकदम खड़ा होकर, उपचारेण सहितं यथा स्यात् तथा=बड़ी शिष्टता, आदर के साथ, परिगृह्य=ले करके, शिरसि कृत्वा=शिर पर रखकर। गुरुजनों के सभी पत्र शिर से लगाकर उनके प्रति आदरभाव प्रदर्शित किया जाता था और तत्काल पालन भी किया जाता था। परिजनाय + अर्पयति=नौकर के हाथ सौंप देता है, लेखं च उद्वेष्टयति=पत्र को खोलता है।

११४ ततः=लेखे एव (सप्तम्यर्थे तसिल्) मुखम्=अग्रं यस्य तत् (ब० व्री०) हृदयम्=मेरा मन पत्र की ओर ही लगा हुआ है। माँ होने के नाते रानी को अपने पुत्र के विषय में समाचार सुनने की बड़ी उत्कण्ठा है।

---

११३ कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा। (यह कह कर चला जाता है और फिर भेंट-सहित एक पत्र को लिये प्रवेश करता है) स्वामी की आज्ञा का पालन कर लिया है, किन्तु इसी समय महाराज सेनापति पुष्यमित्रजी का भेंट-सहित यह पत्र आया है। महाराज इसे देखें।

(राजा एकदम खड़े होकर आदर-सहित भेंट को लेकर और उसे शिर से लगा कर सेवक को सौंप देता है और पत्र खोलने का अभिनय करता है)

११४ देवी—(मन ही मन) अरे! मेरा मन तो उसी ओर गया हुआ

सेणावइणा णिउत्तो मे पुत्तओ। [अहो ततोमुखमेव मे हृदयम्। श्रोष्यामि तावद् गुरुजनकुशलानन्तरं पुत्रस्य वसुमित्रस्य वृत्तान्तम्। अतिभारे खलु सेनापतिना नियुक्तो मे पुत्रकः।]

११५ राजा (उपविश्य वाचयति)—स्वस्ति। यज्ञशरणात्सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्वज्यानुदर्शयति। विदितमस्तु। योऽसौ राजसूययज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं गोप्तारं वसुमित्रमादिश्य संवत्सरोपावर्तनीयो निरर्गलस्तुरगो विसृष्टः स सिन्धोर्दक्षिणे रोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनानां प्रार्थितः। ततः उभयोः सेनयोर्महानासीत्संमर्दः।

गुरुजनानां कुशलात् अनन्तरम्=पूज्यजनों के कुशल के वाद। अतिशयितः भारः तस्मिन्= बड़े भारी काम पर, बड़े उत्तरदायित्व पर नियुक्तः=लगा रखा है। अश्वमेध के अश्व की रक्षक-सेना का नेतृत्व सेनापति पुष्यमित्र ने वसुमित्र को दे रखा था और यह वड़ी जिम्मेदारी का काम था। पुत्र शब्द से 'क' प्रत्यय अल्पार्थ में है अर्थात् मेरा पुत्र आयु में छोटा है, पर कार्य वड़े भारी दायित्व का उसके पास है।

११५ स्वस्ति = किसी पत्र का प्रारम्भ पहले 'स्वस्ति' = 'कल्याण हो'-इस से होता था। अव भी पुराने लोग इसी तरह पत्र लिखा करते हैं। यज्ञस्य शरणं (गृहम्) तस्मात् = यज्ञ-गृह,यज्ञ-मण्डप से। जिस स्थान में पुष्यमित्र यज्ञ कर रहे हैं, वहाँ से उन्होंने विदिशा में अग्निमित्र को पत्र लिखा है।

है। पूज्य जनों के कुशल के वाद पुत्र वसुमित्र का समाचार सुनूँगी। सेनापति ने मेरे पुत्र को वड़ा कठिन काम सौंपा हुआ है।

११५ राजा—(वैठ कर पत्र बाँचने लगते हैं)

स्वस्ति, यज्ञ-मण्डप से सेनापति पुष्यमित्र विदिशा में स्थित चिरंजीवी पुत्र अग्निमित्र को स्नेहपूर्वक आलिंगन करके सूचित करता है—

तुम्हें विदित हो कि "राजसूय यज्ञ में वैठे हुए मैंने सौ राजपुत्रों से घिरे

(देवी विषाद रूपयति ।)

आज कल की तरह पहले भी जिस स्थान से पत्र लिखते थे, उसका उल्लेख कर दिया करते थे। विदिशा एव = वैदिशः (स्वार्थे अण्) वैदिशे तिष्ठतीति वैदिश + √स्था + क विदिशा में रह रहे स्नेहात् = प्रेमपूर्वक, परिष्वज्य = आलिंगन करके, गले लगाकर, अनुदर्शयति = सूचित करते हैं, अर्थात् अपना वृत्तान्त कहते हैं। पहले बड़ों द्वारा अपने छोटों को भेजे जाने वाले पत्रों का प्रारम्भ इसी तरह होता था और असली समाचार इसके बाद लिखते थे। यः + असौ राजसूयः यज्ञः तस्मिन् दीक्षितेन = राजसूय यज्ञ में बैठे हुए मैंने राज्ञां पुत्राः तेषां शतेन परिवृतम् = सौ राजपुत्रों से घिरे हुए अर्थात् सौ राजपुत्रों के साथ गोप्तारम् = (अश्वमेध के घोड़े का) रक्षक वसुमित्रम् + आदिश्य = वसुमित्र को नियुक्त कर के सम्वत्सरेण उपावर्तनीयः = एक वर्ष के भीतर-भीतर लाया जाने वाला, निर्गतम् अर्गलं यस्मात् तथाभूतः (ब० व्री)= अर्गल आगल, दरवाजों के पीछे बन्द करने के लिए लगाए जानेवाले लोहे के डंडे (चटखनी) को कहते हैं, परन्तु गौण रूप से यह शब्द अब सामान्यतः बन्धन, प्रतिबंध के लिए प्रयुक्त होने लगा है, जिस घोड़े पर कोई प्रतिबन्ध, रुकावट आदि नहीं थी। खुला घोड़ा छोड़ने का ही विधान है जिससे जहां इच्छा है, वह वहां चला जाय, विसृष्टः = छोड़ा हुआ, रोधसि = किनारे, किनारे के पास के देश में चरन् = चरता हुआ।

अश्वा०=अश्वारूढम् अनीकम् (मध्य प० लो०) तेन = यवनों की घुड़सवार सेना ने, प्रार्थितः=चाहा, माँगा, वह उनके देश में घुसा है, अतः उसे पकड़ना चाहा, यवन शब्द से यद्यपि आजकल मुसलमान जाति ली जाती है, परन्तु मूल-रूप में यवन ग्रीकों को कहा करते थे और बाद को यह शब्द किसी भी विदेशी

वसुमित्र को रक्षक बनाकर एक वर्ष में लौटा लाया जाने वाला जो घोड़ा खुला छोड़ रखा था, वह जब सिन्धु नदी के दक्षिणी तट पर चर रहा था, तो यवनों की अश्वारोही सेना ने उसे पकड़ना चाहा। फिर क्या था—दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध छिड़ गया"।

(महारानी दुःख का अभिनय करती हैं)

११६ राजा—कथमीदृशं संवृत्तम्। (शेष पुनर्वाचयति)

ततः परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः ॥ १५ ॥

११७ देवी—इमिणा दाणिं अस्ससइ मे हिअअं। [अनेनेदानीमाश्वसिति मे हृदयम्।]

के लिए प्रयुक्त होने लगा। इतिहास से पता चलता है कि तीसरी शती (ख्रीष्ट-पूर्व) में ग्रीकों ने भारत के पश्चिमी भाग को जीत लिया था, जिसमें सिन्ध और कुछ भाग पञ्जाब का भी आ जाता है। दूसरी शती (ख्रीष्ट-पूर्व) तक उनका इन देशों में राज्य रहा है। इन यवनों का उल्लेख कालिदास ने रघु-वंश में भी कर रखा है और इन्हे 'पारसीक' भी कहा है। **महान् + आसीन् + संमर्दः** = बड़ा युद्ध छिड़ गया।

११६ ततः० **अन्वयः**—ततः धन्विना वसुमित्रेण परान् पराजित्य प्रसह्य ह्रियमाणः मे वाजिराजः निवर्तितः। (पथ्यावक्त्रम्)

ततः=युद्ध छिड़ने के बाद **धनुः अस्य अस्तीति धन्वी तेन धन्विना**=धनुर्धारी वसुमित्र ने **परान् पराजित्य**=शत्रुओं को जीत कर, पछाड कर, मार भगा कर **प्रसह्य**=बलात् जबर्दस्ती **ह्रियमाणः**=हरा जाता हुआ, ले जाया जाता हुआ। **वाजिषु राजा वाजिराजः** राजन् शब्द समास में अकारान्त बन कर 'राम' आदि की तरह चलता है। **निवर्तितः**= नि + √वृत् + णिच् + त (कर्मणि) लौटा लिया, वापस ले लिया।

११७ **अनेन + इदानीम् + आश्वसिति** = अब ज़रा हृदय को धैर्य मिला।

---

११६ **राजा**—यह ऐसा कैसे हुआ ? (फिर शेष पत्र बाँचने लगता है।)

"इसके बाद धनुर्धारी वसुमित्र ने यवनों को पछाड़ कर उनके द्वारा बलात् हरा जाता हुआ अपना श्रेष्ठ घोड़ा वापस ले लिया" ॥१५॥

११७ **देवी**—यह सुन कर अब हृदय को धीरज हुआ।

११८ राजा (लेखशेषं वाचयति)–सोऽहमिदानीमंशुमतेव सगरः पौत्रेण प्रत्याहृताश्वो यक्ष्ये। तदिदानीमकालहीनं विगतरोषचेतसा भवता वधूजनेन सह यज्ञसेवनायागन्तव्यमिति।

---

११८ लेखस्य शेषम्=बचे हुए भाग को। सः + अहम् = इदानीम् अंशुमता + इव सगरः पौत्रेण प्रत्याहृतः अश्वो यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) यक्ष्ये=यज्ञ करूँगा। मेरा पोता मेरे अश्वमेधी घोड़े को शत्रुओं से छुड़ा कर ऐसे ही लाया जैसे कि पहले सगर का पौत्र अंशुमान् सगर के अश्वमेध घोड़े को छुड़ा कर लाया था। पुराणों मे कहानी आती है कि सगर राजा ने एक बार अश्वमेध यज्ञ किया था। उसने घोड़े को छोड़ा, तो इन्द्र उसे हर ले गया और पाताल मे अपनी योग-समाधि में स्थित कपिल मुनि के आश्रम मे बांध दिया। यह सगर का सौवाँ यज्ञ था। शत-यज्ञ पूरे हो जाने पर यज्ञ करने वाला स्वर्ग मे इन्द्र-पद प्राप्त कर लेता है, इसलिए इन्द्र ने उसके सौवें यज्ञ को पूरा नहीं होने दिया। सगर के साठ हजार पुत्र घोड़े की तलाश में निकल पड़े और कहीं भी भूतल में न पाकर जब पाताल में गये, तो वहाँ घोड़े को कपिल के आश्रम मे बँधा पाया। उन्होंने यह समझ कर कि यह मुनि ही घोड़े का चोर है, उनके लिए बड़े अपशब्द मुँह से निकाले। मुनि की समाधि भंग हो गई और उन्होंने अपना अपमान करने वाले उन सभी रजपुत्रों को शाप देकर भस्म कर डाला। फिर सगर का पौत्र अंशुमान् गया। मुनि से क्षमा माँगी और घोड़ा वापस लाकर तब दादा से सौवाँ यज्ञ पूरा करा पाया। तत् + इदानीम् + न कालेन हीनं यथा स्यात् तथा (क्रियावि०)=बिना समय खोये (Without loss of time) बिना विलम्ब के; ठीक समय पर। विगतः रोषः यस्मात् तथाभूतम् (ब० व्री०) चेत यस्य तेन (ब० व्री०)=बिना क्रोध के,

---

११८ राजा—(शेष पत्र को बाँचता है) "मेरा पौत्र घोड़ा वापिस ले आया है इसलिए अब मैं उसी तरह यज्ञ करूँगा जिस तरह की पौत्र अंशुमान् के द्वारा घोड़ा ले जाने पर सगर ने किया था। तो तुम्हें शान्त-मन होकर बिना विलम्ब के सपरिवार यज्ञ देखने आ जाना चाहिए"।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि ।

११६ परिव्राजिका—दिष्ट्या पुत्रविजयेन दम्पती वर्धेते ।

(देवीं विलोक्य)

शान्त-चित्त हो कर । यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया कि पिता-पुत्र के बीच कौन-सी वैमनस्य को बात चल रही थी । प्रो० पण्डित के अनुसार हो सकता है कि पुष्य-मित्र के वसुमित्र को रक्षक—सेनापति बनाने पर अग्निमित्र नाराज हो बैठा हो, क्योंकि यह काम बड़े खतरे का हुआ करता है, किन्तु हमें अप्रसन्नता का यह कारण ठीक नहीं जँचता है, क्योंकि क्षत्रिय वीर के लिए अश्वमेधी अश्व का रक्षक बनना एक बड़े गौरव की बात है, अप्रसन्नता की नहीं । प्रो० टानी आदि का कहना है कि पिता पुत्र के बीच राज्य की धर्म-नीति पर मत-भेद था । पुष्यमित्र श्रौत-स्मार्त धर्म का प्रवल समर्थक था और बौद्ध धर्म का उच्छेदक था जबकि अग्निमित्र बौद्ध-धर्म का समर्थक । यह कारण भी हमारे विचार में ठीक नहीं लगता । हिन्दू-धर्म आरम्भ से ही इतना सहिष्णु चला आ रहा है कि उसने कभी अन्य धर्म पर आक्रमण नहीं किया । पुष्यमित्र के बौद्धों पर किये गये अत्याचारों की कहानी इन पाश्चात्यों की मनगढ़न्त ही समझिए । दूसरे, अग्निमित्र पिता का पत्र आते ही कितनी श्रद्धा और आदर-दृष्टि से उसे ग्रहण करता है । नाटक में कहीं भी हमने पिता-पुत्रों के मध्य किसी तरह का वैमनस्य नहीं पाया है । हो सकता है कि घोड़े पर यवनों के आक्रमण से अग्निमित्र को रोष न आ जाय, इस विचार से ही पुष्यमित्र ने 'विगत-रोष-चेतसा' लिखा हो । वैसे यज्ञ-जैसे पवित्र कार्यों में शान्त-चित्त से ही सम्मिलित होना—यह सामान्य-सी ही बात है । वधू-जनेन सह=अपनी बहुओं, रानियों अर्थात् परिवार-सहित । यज्ञस्य सेवनम् तस्मै = यज्ञ की सेवा, दर्शन के लिए ।

११६ दिष्ट्या वध्' का अर्थ बधाई देना होता है । दम्पती जाया च पतिश्च

राजा—मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया है ।

११६ परिव्राजिका आप दोनों पति-पत्नियों को पुत्र की विजय पर बधाई । (रानी की ओर देख कर)

भर्त्रासि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः ॥ १६ ॥

१२० देवी—होदि परितुट्ठोम्ह पिदरं अणुगदो वच्छोत्ति। [भवति ! परितुष्टाऽस्मि पितरमनुगतो वत्स इति।]

१२१ राजा—मौद्गल्य ! कलभेन खलु यूथपतिरनुकृतः।

दम्पती (द्वन्द्व) जाया शब्द को विकल्प से 'जम्' और 'दम्' हो जाता है। इस तरह दम्पती और जम्पती दोनों प्रयोग मिलते हैं।

भर्त्रा० अन्वयः = भर्त्रा वीर-पत्नीनां श्लाघ्यानां धुरि स्थापितः असि; वीरसूः इति अयं शब्दः तनयात् त्वाम् उपस्थितः। (पथ्यावक्त्रम्)

भर्त्रा – पति द्वारा वीराणां पत्न्यः तासाम् (ष० तत्पु०)=वीरों की पत्नियों के श्लाघितुं योग्या√श्लाघ् + य तासाम् = श्लाघनीय, प्रशंसनीय, सराहनीय, धुरि = धुर् शब्द का सप्तमी एक व० = अग्र पंक्ति में, सबसे आगे स्थापिता असि = बिठा रखा है अर्थात् अपने वीर पति के कारण आप वीर-पत्नियों में श्रेष्ठ गिनी जाती हैं। वीरम् सूते इति वीर + √सू + क्विप् (कर्तरि)=वीर पुत्र पैदा करने वाली। वीरमाता अयं शब्दः = यह पद तनयात् =पुत्र से (कारण में पञ्चमी) त्वाम् उप० = आपको प्राप्त हुआ है अर्थात् यवनों के साथ युद्ध में वीरता दिखा कर आज आप को पुत्र के कारण 'वीरमाता' पद भी प्राप्त हो गया है।

१२१ कलभेन = हाथी के बच्चे ने, यूथस्य पतिः = हाथियों के झुण्ड का

भर्ता ने अबतक आपको प्रशंसनीय वीर-पत्नियों की अग्रिम पंक्ति में स्थान दे रखा था, पर अब पुत्र के कारण आपको 'वीरमाता' पद भी प्राप्त हो गया है ॥ १६ ॥

१२० देवी—भगवती ! हर्ष की बात है कि बच्चा पिता की तरह ही निकला।

१२१ राजा—मौद्गल्य ! हाथी के बच्चे ने हाथियों के सरदार-जैसा ही काम किया है।

१२१ कञ्चुकी—

नैतावता वीरविजृम्भितेन
चित्तस्य नो विस्मयमादधाति।
यस्याप्रधृष्यः प्रभवस्त्वमुच्चै-
र्वह्नेरपां दग्धुरिवोरुजन्मा ॥ १७ ॥

नेता की अनुकृतः = नक़ल की अर्थात् जिस प्रकार हाथी का बच्चा प्रधान हाथी का काम कर दे, उसी प्रकार मेरे बच्चे ने भी श्रेष्ठ वीर पुरुषों का-सा काम किया है। इससे अग्निमित्र का अभिमान ही सिद्ध होता है, इसलिए किसी-किसी पुस्तक में यह वाक्य परिव्राजिका का बताया गया है और वही ठीक भी लगता है।

१२२ नैता० —अन्वयः—(सः) एतावता वीर-विजृम्भितेन नः चित्तस्य विस्मयं न आदधाति; अपां दग्धुः वह्नेः ऊरु-जन्मा इव अस्य त्वम् अप्रधृष्यः उच्चैः प्रभवः। (इन्द्रवज्रा)

(वह) एतावता=इतने मात्र वीराणां विजृम्भितम् तेन = वीरों के कार्य से न आदधाति=हमारे मन में आश्चर्य उत्पन्न नहीं करता। अपां दग्धुः वह्नेः= पानी को जला देने वाली आग के ऊरुजन्मा इव = और्व मुनि की तरह यस्य = जिस वसुमित्र के त्वम् अप्रधृष्यः = न प्रधर्षयितुं शक्य इति अप्रधृष्यः = न दबाए हराए जा सकने वाले आप प्रभवः = जनक पिता हैं। कञ्चुकी चाटु-कारिता पर उतर आया है और कहता है कि वसुमित्र के इतनी-मात्र विजय पर आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। इतने बड़े वीर पिता का पुत्र यदि इतनी वीरता का कार्य कर बैठा है, तो यह स्वाभाविक ही है, कोई असाधारण नहीं। तुलना के लिए वह और्व ऋषि को लेता है, जिससे ऐसी वाडवाग्नि पैदा हुई, जो

---

१२२ कञ्चुकी—कुमार की इतनी मात्र वीरता का काम तो मेरे मन में कोई आश्चर्य नहीं कर रहा है जब कि उसके जन्मदाता आपने इतने बड़े अजेय वीर हैं जैसे कि वाडवानल के जन्मदाता और्व ऋषि थे ॥ १७ ॥

१२३ राजा—मौद्गल्य ! यज्ञसेनश्यालमुररीकृत्य मुच्यन्तां सर्वे बन्धनस्थाः ।

१२४ कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

समुद्रजल को बुझा देती है। पुराणों में वाडवाग्नि की उत्पत्ति और्व से यों बतलाई गई है। भृगु कृतवीर्य राजा के कुल-पुरोहित थे, जिन को राजा ने बहुत-सी सम्पत्ति दे दी थी। कृतवीर्य के वंशजों को अपनी सम्पत्ति पुरोहित के वंशजों के पास गई अखरी, इसलिए उन्होंने सभी भृगु-वंशियों को मार-डाला। यहाँ तक कि गर्भस्थ बच्चे भी नहीं रखें। च्यवन की पत्नी आरुणी उस समय गर्भवती थी। डर के मारे उसने क्या किया कि गर्भ के बच्चे को अपने ऊरु-जाँघ में छिपा लिया। इस तरह वह बच गया। जब बच्चा उससे पैदा हुआ, तो उससे इतना बड़ा तेज निकला कि सब के सब कृतवीर्य के वंशज चौंधिया कर अन्धे हो गए। ऊरु से उत्पन्न होने के कारण ही बालक और्व अथवा ऊरु-जन्मा कहलाया। जब वह अपने तेज से सारे विश्व को जला डालने की धमकी देने लगा, तो उसके पूर्वजों ने उसे रोक कर शान्त कर दिया और उसे अपने तेज को समुद्र में डाल देने को मना लिया। जब वह तेज समुद्र में पड़ा, तो घोड़ी के मुख की जैसी आकृति उसको बन गई और अभी तक वह समुद्र के गर्भ में छिपा हुआ पड़ा है तथा समुद्र के अतिरिक्त जल को सुखा कर उसे सीमा के भीतर ही रखे हुए हैं। वड़वा घोड़ी को कहते हैं, इसलिए वड़वा के सम्बन्ध से अग्नि का नाम वड़वाग्नि या वड़वानल पड़ा।

२३ यज्ञसेनस्य श्यालम् + उररीकृत्य=उसको स्वीकार करके अर्थात् उसे भी अन्तर्गत करके, बन्धने तिष्ठन्तीति बन्धनस्थाः=कारागार में बन्द किए हुए अर्थात् कैदियों को मुच्यन्ताम् (कर्म)=छोड़ दिया जाय।

---

१२३ राजा—मौद्गल्य ! यज्ञसेन के साले से लेकर सभी बन्दी-गण छोड़ दिए जाएँ।

१२४ कञ्चुकी—जैसी देव की आज्ञा। (चला जाता है)

१२५ देवी—जअसेणे गच्छ इरावदिप्पमुहाणं अन्देउरा णं पुत्तस्स विअअवुत्तन्दं णिवेदेहि। [जयसेने ! गच्छ इरावतीप्रमुखानामन्तःपुराणां पुत्रस्य विजयवृत्तान्तं निवेदय।]

१२६ प्रतिहारी—तह [तथा।] (इति प्रस्थिता)

१२७ देवी—एहि दाव [एहि तावत्।]

१२८ प्रतीहारी—(प्रतिनिवृत्य) इअम्हि। [इयमस्मि।]

१२९ देवी—(जनान्तिकम्) जं मए असोअदोहलणिओए पडिण्णादं मालविआए त से अहिअणं अ णिवेदिअ मह वअणेण इरावदिं अणुणेहि।

---

१२५ इरावती प्रमुखा येषां तानि (ब० व्री०)=इरावती आदि अन्तःपुराणाम्=अन्तःपुर की रानियों को। विजयस्य वृत्तान्तम् = विजय का समाचार।

१२९ अशोक-दोहदस्य नियोगे=अशोक की साध पूरी करने के काम में लगे हुए। अभिजनम्=कुलीनता। मम वचनन=मेरी ओर से। अनुनय=मना आओ। त्वया + अहं सत्यात् + न परिभ्रं० = परि + √भ्रंश् + णिच् + तव्य + स्त्री = आप मुझे अपनी प्रतिज्ञा से, वचनों से न गिराइये। रानी का हृदय मालविका के प्रति पिघल गया है और ईर्ष्या के स्थान में सहानुभूति जागृत

---

१२५ देवी—जयसेना ! जाओ, इरावती आदि रनिवास की सभी रानियों को पुत्र की विजय कह दो।

१२६ प्रतीहारी—अच्छा। (चल पड़ी)

१२७ देवी—ठहरो, जरा इधर आना।

१२८ प्रतीहारी—(लौट कर) आ गई हूँ।

१२९ देवी—(अलग) मैंने अशोक की साध पूरी करते समय मालविका को जो वचन दे रखा है, उसे तथा मालविका के उच्च कुल की बात बता कर मेरी ओर से जाकर इरावती को मनाओ और कहो कि मुझे सत्य वचन से न गिराया जाय।

तुए अहं सच्चादो ण परिब्भंसइदव्वेत्ति । [यन्मयाशोकदोहदनियोगे प्रतिशातं मालविकायै तत् अस्या अभिजनं निवेद्य मम वचनेनेरावतीमनुनय त्वयाऽहं सत्यान्न परिभ्रंशयितव्येति]।

१३० प्रतीहारी—जं भट्टिणी आणवेदि । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) भट्टिणी पुत्तविजअणिमित्तेण परितोसेग अन्देउराणं आभलणाणं मञ्जूसम्हि संवुत्ता । [यद्भट्टिन्याज्ञापयति । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) भट्टिनि ! पुत्र-विजयनिमित्तेन परितोषणदन्तःपुराणामाभरणानां मञ्जूषास्मि संवृत्ता ।]

हो उठी है । मालविका के कुल का रहस्य खुल जाने से वह अब दासी नहीं, वल्कि रानी बनने योग्य सिद्ध हो गई है । कहीं इरावती रोड़ा न अटकावे, इसलिए उसकी सम्मति और स्वीकृति भी लेनी आवश्यक समझती है ।

१३० यत् + भट्टिनी + आज्ञापयति । पुत्रस्य विजयः निमित्तं यस्य तथाभूतेन (व० व्री०) = पुत्र की विजय से पैदा हुए । परितोषेण = हर्ष से । अन्तःपुराणाम् = रानियों के । आभरणानाम् = (पुरस्कार में दिए गए) गहनों की मञ्जूषा + अस्मि संवृत्ता = पेटी, सन्दूकड़ी बन गई हूँ । अन्तःपुर में जब प्रतीहारी ने कुमार का प्रिय समाचार सुनाया, तो वह पुरस्कार में मिलने वाले गहनों से लद गई । अब नाटक का घटना-व्यापार तीव्र गति से चलने लगा है, कवि बिखरे हुए सभी सूत्रों को बटोर कर जल्दी ही उद्देश्य की तरफ लाने की सोचने लग गया है । तभी प्रतीहारी भीतर जाती है और तभी भूषणों की पेटी बन कर आ जाती है । इतनी त्वरा अस्वाभाविक-सी लगती है । साथ ही तब तक रंगमंच के पात्रों का चुपचाप रहना भी अनाटकीय ही है ।

---

१३० प्रतीहारी—जैसी स्वामिनी की आज्ञा (चली जाती है और फिर वापस आकर) स्वामिनी ! पुत्र-विजय की प्रसन्नता में रानियों और राज-माताओं ने मुझे (पुरस्कार स्वरूप) इतने अधिक आभूषण मिले हैं कि मैं तो आभूषणों की एक पिटारी ही बन गई हूँ ।

१३१ देवी—किं एत्थ अच्चरिअं। णं साहारणो ताणं मह अ एसो अब्भुदओ। [किमत्राश्चर्यम्। ननु साधारणस्तासां मम चैषोऽभ्युदयः।]

१३२ प्रतीहारी (जनान्तिकम्)—भट्टिणी इरावदी विण्णवेदि। सरिसं खु देवीए पहवंदीए तुह वअणं पुढमसङ्कप्पिदं ण जुज्जइ अण्णहा कादुंति। [भट्टिनि! इरावती विज्ञापयति। सदृशं खलु देव्याः प्रभवन्त्याः तव वचनं प्रथमसंकल्पितं न युज्यतेऽन्यथाकर्तुमिति।]

---

१३१ किम् + अत्र + आश्चर्यम्। साधारणः + तासां मम च + एषः + अभ्युदयः = कुमार की विजय से प्राप्त होने वाली यह प्रतिष्ठा, यह मान, यह गौरव तो सभी रानियों के लिए एक-जैसा है, क्योंकि वे भी उसे अपना ही पुत्र समझती हैं।

१३२ देव्याः प्रभवन्त्याः = आप प्रभुता-सम्पन्न हैं, राज्य की सार्वभौम मालकिन हैं, आप जो चाहें कर सकती हैं, वह सब आपकी महिमा—प्रभुता—के अनुकूल है। इसमें इरावती का कुछ हल्का-सा ताना छिपा हुआ है। यदि रानी मालविका को उनकी सौत बनाना चाहती ही हैं, तो इस पर बेचारी इरावती कर ही क्या सकती है। उसका आहत हृदय सचमुच शान्त नहीं हुआ है, अन्यथा नाटककार उसे भी इस समय रंगमंच पर लाकर उसका शान्त चित्त दिखा सकता था और पति के नव-विवाह में सम्मिलित कर सकता था। प्रथमं यथा स्यात् तथा संकल्पितम् जैसा कि पहले संकल्प=विचार कर रखा है अर्थात् अपना दिया हुआ वचन, अन्यथा कर्तुम् = उलटना, पलटना, झूठा करना, न युज्यते = उचित, युक्त नहीं है।

---

१३१ देवी—इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है? यह गौरव तो जैसा मेरा वैसा उनका।

१३२ प्रतीहारी—(अलग) स्वामिनी! इरावतीजी कहती हैं कि आप सर्वशक्ति-सम्पन्न पटरानी हैं, जो करेंगी उचित ही होगा। हाँ, जहाँ तक मालविका को पहले से ही दिए गए वचन का प्रश्न है, अब उसे पलटना ठीक नहीं है।

१३३ देवी—भअवदि तुए अणुण्णादा इच्छामि अज्जसुमदिणा पुढम-संभाविदं अज्जउत्तस्स मालविअं पडिवादेदुं। [भगवति ! त्वयानुज्ञाता इच्छाम्यार्यसुमतिना प्रथमसंभावितामार्यपुत्रस्य मालविकां प्रतिपादयितुम् ।]

१३४ परिव्राजिका—इदानीमपि त्वमेवास्याः प्रभवसि ।

१३५ देवी (मालविकां हस्ते गृहीत्वा)—अज्जउत्तो इदं पिअणिवेदणाणुरूवं पारितोसिअं पडिच्छदु । [आर्यपुत्र इदं प्रियनिवेदनानुरूपं पारितोषिकम् प्रतीच्छतु ।] (राजा सव्रीड जोषमास्ते)

---

१३३ त्वया अनुज्ञाता = आपकी अनुमति हो, आप आज्ञा दें, तो इच्छामि आय० प्रथमं यथा स्यात् तथा संभाविताम् = आर्य वसुमती ने जैसी पहली सम्भावना—विचार—कर रखा था । प्रतिपा०=प्रति + √पद् + णिच् + तुम् = देना, उनके साथ विवाह कर देना ।

१३४ इदानीम् + अपि + त्वम् + एव = अस्याः प्रभवसि = अब भी जब कि दासी के स्थान में राजकुमारी होना इसका सिद्ध हो गया है, आपका इस पर वैसा ही अधिकार है जैसे इसके दासी बने रहने पर था। आप पट-रानी हैं, इसलिए अब भी यह आपके ही अधीन है और बराबर अधीन ही रहेगी।

१३५ प्रियस्य निवेदनं तस्य अनुरूपम् = कुमार के सम्बन्ध में जो प्रिय समाचार, विजय का वृत्तान्त सुनाया गया है उसके योग्य पारितोषिकम् = पुरस्कार, इनाम । प्रती० = प्रति + इष + लोट् = ग्रहण कीजिए, लीजिए,

---

१३३ देवी—भगवती आप आज्ञा दें, तो मैं मालविका आर्यपुत्र को देना चाहती हूँ जैसा कि आर्य वसुमती ने पहले से सोच रखा था।

१३४ परिव्राजिका—अब भी इस पर आपका ही अधिकार है।

१३५ देवी—(मालविका को हाथ पकड़ कर) आर्यपुत्र ! आपने कुमार का जो प्रिय समाचार सुनाया है, उसके लिए योग्य पुरस्कार स्वीकार कीजिए।

(राजा लज्जा के मारे चुप खड़े रहते हैं)

१३६ देवी—(सस्मितम्) किं अवधीरेदि मं अज्जउत्तो । [किमवधीरयति मामार्यपुत्रः ।]

१३७ विदूषकः—होदि एसो लोअव्ववहारो सव्वो वि णववरो लज्जादुरो होदित्ति । [भवति, एष लोकव्यवहारः सर्वोऽपि नववरो लज्जातुरो भवतीति ।]

(राजा विदूषकमवेक्षते)

१३८ विदूषकः—अहवा देवीए किददेवीसद्दं मालविअं अत्तभवं

स्वीकार कीजिए । व्रीडया सहितं यथा स्यात् तथा = लज्जा के साथ, जोषम् (अव्यय) = चुप आस्ते = √आस् + लट् = खड़ा रहता है अर्थात् पुरस्कार हाथ में नहीं पकड़ता ।

१३६ किम् + अवधीरयति = क्या अनादर करते हो ? मेरा पुरस्कार स्वीकार नहीं है क्या जो चुपचाप खड़े हो और लेते नहीं हो ?

१३७ लोके व्यवहारः = दुनिया में चली आ रही वात, प्रथा । सर्वः + अपि नवश्चासौ वरः = नया वर, दुलहा । लज्जया आतुरः = लज्जा के वश, लज्जा-पूर्ण । विदूषक तत्काल राजा के संकोच के कारण को स्पष्ट कर देता है कि सभी वरों में यह वात पाई जाती है । मौन का अर्थ स्वीकृति ही होता है, अनादर नहीं, किन्तु राजा विदूषक की ओर देखकर उससे यह भी स्पष्ट करा देना चाहता है कि वह मालविका को रानी के रूप में ही ग्रहण करना चाहता है न कि दासी के रूप में जिस रूप में कि वह अब तक रही है ।

१३८ कृतः देवी इति शब्दः यस्याः = जिसके लिए रानी का पद किया

---

१३६ देवी—(मुस्कराकर) क्या आर्यपुत्र मेरा अनादर कर रहे हैं ?

१३७ विदूषक—महारानी ! यह तो संसार की प्रथा ही है कि सभी नये-नये दुलहे लजा जाते हैं ।

(राजा विदूषक की ओर देखता है)

१३८ विदूषक—अथवा यह भी वात है कि महाराजा मालविकाजी को

पडिग्गहीदुं इच्छदि। [अथवा देव्या कृतदेवीशब्दां मालविकामत्रभवान् प्रतिग्रहीतुमिच्छति।]

१३९ देवी—एदाए राअदारिआए अहिअणेण एव्व दिण्णो देवीसद्दो। किं पुनरुत्तेण। [एतस्या राजदारिकाया अभिजनेनैव दत्तो देवीशब्दः। किं पुनरुक्तेन।]

१४० परिव्राजिका—मा मैवम्।

अप्याकरसमुत्पन्ना मणिजातिरसंस्कृता।
जातरूपेण कल्याणि! न हि संयोगमर्हति॥ १८॥

गया, अर्थात् मालविका की कुलीनता तथा सौजन्य को ध्यान में रखते हुए उसे 'रानी' पद मिल जाना चाहिए और स्तर में वह धारिणी से किसी तरह कम न रहे। यह बात राजा रानी से स्वीकार कराना चाहता है।

१३९ पुनः + उक्तेन = दोबारा कहने से क्या अर्थात् उसका राजकुमारी होना ही यह सिद्ध कर देता है कि वह रानी ही बनेगी। राजकुमारियाँ रानी ही बना करती हैं, यह उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

१४० अप्या० अन्वयः—(हे) कल्याणि! आकर-समुत्पन्ना अपि मणि-जातिः असंस्कृता जातरूपेण संयोगं न अर्हति। (पथ्यावक्त्रम्)

हे कल्याणि = सुन्दरी! मंगलकारिणी! आकरात् समुत्पन्नः = खान से उत्पन्न हुई मणीनां जातिः = मणियों की जाति, असंस्कृता = बिना उसका संस्कार किये अर्थात् शाण पर रखकर ठीक किए बिना, जातरूपेण = सोने

तभी ग्रहण करना चाहते हैं, जब आप इन्हें 'रानी' पद भी दे दें।

१३९ देवी—अरे, ये तो राजकुमारी हैं, अतः इन्हें जन्मने ही 'रानी' पद दे रखा है। दोहराने की क्या आवश्यकता?

१४० परिव्राजिका—नहीं, नहीं, यों न कहिए।

सुन्दरी! रत्नों की जाति खानों से पैदा होती है; फिर भी जब तक उनका संस्कार नहीं किया जाता, तब तक वे सोने पर जड़ने योग्य नहीं होते॥ १८॥

१४१ देवी—मरिसेदु भवअदि। अब्भुदअकहाए जं मए ण लक्खिदं। जअसेणे गच्छ तुमं दाव कोसेअपत्तोण्णं से सिग्घ उवहर। [मर्षयतु भगवती। अभ्युदयकथया यन्मया न लक्षितम्। जयसेने! गच्छ त्वं तावत्कौशेय-पत्रोर्णमस्यै शीघ्रमुपहर।]

१४२ प्रतीहारी—छं देवी आणवेदि। देवि एदम्। [यद्देव्याज्ञापयति। (इति निष्क्रम्य पत्रोर्णं गृहीत्वा पुनः प्रविश्य) देवि एतत्।]

१४३ देवी—(मालविकामवगुण्ठ्य) दाणिं अज्जउत्तो पडिच्छदु। [इदानीमार्यपुत्रः प्रतीच्छतु।]

के साथ संयोगं न अर्हति = जड़ने योग्य नहीं हुआ करती है। परिव्राजिका रानी की गलती ठीक कर देती है। राजघराने में जन्म होने से निःसन्देह मालविका रानी ही बनने योग्य है, फिर भी विवाह-संस्कार तो करना ही होता है। रत्न जाति-मात्र से ही सोने पर नहीं जड़ दिए जाते हैं, उन्हें शाण पर रख कर, घिस कर, रगड़ कर ही जड़ते हैं। मालविका बनी मणि और राजा बना सोना। देखिए, रघुवंश—'रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन' ६।७९।

१४१ कौशेयं च तत् पत्रोर्णम् = पत्रोर्ण रेशमी वस्त्र को कहते हैं, पर रेशम कितने ही प्रकार की होती है, यहां रेशम कौशेय कहा गया जो असली हुआ करती है, नकली नहीं। रेशमी कीड़ों के बुने अण्डाकार गोले को कोश-ककून कहते हैं। उन से जो रेशम निकले, वह कौशेय कहलाती है जैसे काश्मीरी सिल्क।

---

१४१ देवी—भगवती! मुझे क्षमा कीजिएगा। कुमार की गौरव-कथा सुनते हुए मुझे इस बात का ध्यान नहीं रहा। जयसेना! जाओ और शीघ्र इनके लिए रेशमी वस्त्र तो ले आओ।

१४२ प्रतीहारी—जैसी महारानीजी की आज्ञा। (चली जाती है और शीघ्र ही रेशमी वस्त्र लेकर आती है) महारानीजी! ये रेशमी वस्त्र हैं।

१४३ देवी—(मालविका का घूँघट निकाल कर) अब आर्यपुत्र ग्रहण करें।

१४४ राजा—देवि त्वच्छासनादप्रत्युत्तरा वयम् ।

१४५ परिव्राजिका—हन्त प्रतिगृहीता ।

१४६ विदूषकः–अम्हो देवीए अणुऊलदा । [अहो देव्या अनुकूलता ।]

(देवी परिजनमवलोकयति)

१४७ परिजनः—(मालविकामुपेत्य) जेदु भट्टिणी । [जयतु भट्टिनी ।]

(देवी परिव्राजिकां निर्वर्णयति)

---

१४४ त्वत् + शासनात् + अप्रत्युत्तराः=न प्रत्युत्तरं येषां ते वः (व० व्री०) आपकी आज्ञा शिरोधार्य हैं, उसे हम मोड़ नहीं सकते, उत्तर न में नहीं दे सकते । राजा फिर मक्कारी दिखाने लगता है कि मैं इसे जो ग्रहण कर रहा हूँ वह इसलिए कि आप की आज्ञा जो है । यह धूर्तता की पराकाष्ठा नहीं तो क्या ?

१४५ हन्त = अव्यय, प्रसन्नता में, प्रतिगृहीता = स्वीकार कर ली है । वेचारी परिव्राजिका को अव चैन हुआ जवकि वह अपनी चिराभिलाषा पूरी हुई देख रही है । वह दरवार में जो अव तक सेवा करती रही उसका कारण था मालविका को सुख-सौभाग्य प्राप्ति और कुछ नहीं । पूरी स्वामि-भक्त निकली ।

१४६ अनुकूलता = विदूषक को आश्चर्य हो जाता है कि किस तरह रानी धारिणी ने अपने हृदय की उदारता दिखाई, अपने पति के सुख के लिए अपने व्यक्तिगत सुख का वलिदान कर दिया ।

---

१४४ राजा—देवी ! आपकी आज्ञा है, हम कुछ उत्तर नहीं दे सकते ।

१४५ परिव्राजिका—प्रसन्नता की वात है कि स्वीकार कर ली है।

१४६ विदूषक—आश्चर्य है कि महारानी कितनी भली हैं ।

(महारानी दास-दासियों की तरफ देखती हैं)

१४७ दास-दासियाँ—(मालविका के पास जाकर) स्वामिनी की जय हो।

(महारानी परिव्राजिका की ओर देखने लग जाती है)

१५० देवी—णिउणिए ! अवस्सं ताए सन्देसं सेविदुं अज्जउत्तो जाणिस्सदि । [निपुणिके ! अवश्य तस्याः संदेशं सेवितुमार्यपुत्रो ज्ञास्यति ।]

१५१ निपुणिका—जं देवी आणवेदि । [यद्देव्याज्ञापयति ।] (इति निष्क्रान्ता)

२५२ परिव्राजिका—देव ! अहममुना भवत्संबन्धेन चरितार्थं माधवसेनं सभाजयितुमिच्छामि यदि मे तव प्रसादः ।

अब राजा से क्षमा माँग रही है, परन्तु उसके सन्देश में उसके हृदय की गहरी टीस सुनाई पड़ती है। वह हृदय से तो प्रसन्न नहीं है, क्योंकि उसकी छाती पर दाल दलने के लिए नई सौत धर दी गई है, परन्तु उसके लिए अब चारा भी तो कोई न रहा। वह राजा के प्रेम से तो गई—यह वह जानती है, केवल इतना ही अब माँगती है कि राजा उसके प्रति सद्भाव रखें, उस पर प्रसन्न रहें। यदि सचमुच ही वह धारिणी की तरह शान्त हो गई होती, तो स्वयं विवाह-मण्डप में आ जाती। कवि भी उसके तेज स्वभाव को देख कर ही उसे रंग-मंच पर इस विचार से नहीं लाता कि बना-बनाया सारा काम कहीं गुड़-गोबर न कर दे।

१५० भवता सम्बन्धः तेन = आपके साथ यह विवाह-सम्बन्ध हो जाने के कारण। चरितः अर्थो यस्य सः (ब० ब्रो०) जिसका लक्ष्य पूरा हो गया है। सभाजयितुम्=बधाई देना, अभिनन्दन करना।

कहला भेजा है कि मैंने शिष्टाचार भंग करके (अर्थात् महाराजाका निरादर करके) बड़ा अपराध किया है और स्वामी की इच्छा के अनुकूल आचरण नहीं किया है। अब स्वामी का मनोरथ पूरा हो गया है, इसलिए मुझ पर प्रसन्न हो जाने की कृपा करें।

१५० देवी—निपुणिका ! उन्होंने जो संदेश भेजा है, उसे स्वीकार करना आर्यपुत्र जानते ही हैं।

१५१ निपुणिका—जैसी महारानी की आज्ञा। (चली जाती है)

१५२ परिव्राजिका—महाराज ! आपके साथ इस सम्बन्ध के बन जाने से

१५३ देवी—भअवदि ण जुत्तं अम्हे परिच्चदुं। [भगवति न युक्त-मस्मान् परित्यक्तुम्।]

१५४ राजा—भगवति ! मदीयेषु लेखेषु तत्रभवतस्त्वामुद्दिश्य सभाजनाक्षराणि पातयिष्यामि।

१५५ परिव्राजिका—युवयोः स्नेहेन परवानयं जनः।

१५६ देवी—आणवेदु अज्जउत्तो किं भूओ वि पियं अणुचिट्ठामि। [आज्ञापयत्वार्यपुत्रः किं भूयोऽपि प्रियमनुतिष्ठामि।]

---

१५४ मम इमा मदीया ये लेखाः = अपने पत्रों में त्वाम् + उद्दिश्य आपको लक्ष्य करके, आपकी तरफ से सभाजनस्य अक्षराणि = बधाई के शब्द √पत् + णिच्+लृट्=डलवा देंगे, लिखवा देंगे। अर्थात् हम अपने पत्र में आपकी ओर से उन्हें बधाई लिखवा देंगे। इसलिए आपको इस बात के लिए स्वयं वहाँ जाने की आवश्यकता नहीं।

१५५ परवान् + अयम् =अधीन हूँ अर्थात् आपका मुझ पर जो अपार स्नेह है उसके कारण मैं आपके वश में हूँ, यहीं आप लोगों के साथ रहूँगी।

१५६ आज्ञापयतु + आर्यपुत्रः=आर्यपुत्र आज्ञा करें। भूयः + अपि=फिर भी, मालविका को देने के अतिरिक्त कुछ और भी प्रियम् = प्रिय बात, इच्छा।

माधवसेन की इच्छा पूरी हो गयी है, इसलिए यदि आप कृपा करके आज्ञा दें, तो मैं उन्हें बधाई देना चाहती हूँ।

१५३ देवी—भगवती ! हमें छोड़ जाना ठीक नहीं है।

१५४ राजा—भगवति ! हम अपने पत्रों में माधवसेनजी के लिए आपकी तरफ से बधाई लिखकर भिजवा देंगे।

१५५ परिव्राजिका—आप दोनों के स्नेह के आगे मैं लाचार हूँ।

१५६ देवी—आर्यपुत्र ! आज्ञा दीजिए, अब आपको और कौन-सी प्रिय बात करूँ ?

१५७ राजा—किमतः परमपि प्रियमस्ति । तथापीदमस्तु ।

त्वं मे प्रसादसुमुखी भव देवि ! नित्य-
मेतावदेव मृगये प्रतिपक्षहेतोः ।

(भरतवाक्यम्)

आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानां
संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे ॥ २० ॥

---

१५७ अतः परम् = अर्थात् प्रियतमा मालविका मुझे दे दी है, इससे अधिक प्रिय बात मेरे लिए क्या हो सकती है ?

त्वम्—अन्वयः—(हे) देवि ! त्वं मे प्रसाद-सुमुखी नित्यं भव, एतावत् एव प्रतिपक्ष-हेतोः मृगये प्रजानाम् इति-विगम-प्रभृति आशास्यम् अग्निमित्रे गोप्तरि न खलु सम्पत्स्यते इति न । (वसन्ततिलका)

प्रसादेन सुष्ठु मुखं यस्याः सा (ब० ब्री०) = प्रसन्नता से जिसका चेहरा खिला हुआ रहता है ऐसी नित्यं भव = हमेशा रहा करना । प्रतिपक्षस्य हेतोः =सपत्नी के कारण एतावत् एव = इतना ही, मृगये = ढूँढ़ता हूँ, मांगता हूँ, चाहता हूँ । राजा को राज्य की तरफ से किसी भी विपत्ति की शंका या वैमनस्य की बात नहीं है, सिर्फ वैमनस्य की बात है तो घर की तरफ सेही । सौत लड़ कर, झगड़ कर पति को परेशान करती रहती हैं, इसलिए रानी धारिणी से यह

---

१५७ राजा—इससे अधिक मेरी प्रिय बात क्या है ? फिर भी मैं यह चाहता हूँ :—

हे देवी ! तुम मेरे प्रति सदा प्रसन्न-मुख रहा करना, तुम्हारी सौत की तरफ से तुम से मैं यही मांगता हूँ ।

(भरतवाक्य)

अग्निमित्र के राजा रहते-रहते ऐसी आशा नहीं की जा सकती है कि ईति-आदि विपत्तियों का अभाव न हो ॥२०॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति पञ्चमोऽङ्कः ॥

राजा माँगता है कि घर में बिल्कुल शान्ति रहे। भरतानां वाक्यम् = भरत नटों, कलाकारों को कहते हैं, नाटक के अन्त में वे इकट्ठे होकर सम्मिलित प्रार्थना करते हैं उसे 'भरतवाक्यम्' कहते हैं। ईतीनां विगमः प्रभृति यत्र तादृशम् (ब० व्री०) आशास्यम् = आशा किए जाने योग्य अर्थात् मनोरथ, कामना। गोपायते इति गोप्ता तस्मिन्=रक्षक रहते 'न सम्पत्स्यन्ते' इति न अर्थात् कोई भी ईति नहीं होगी—यह निश्चय है। ईतियाँ छ होती हैं—अतिवृष्टि-रनावृष्टिः शलभा मूषकाः खगाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥

॥ पाँचवाँ अङ्क समाप्त ॥

(सब के सब चले जाते हैं)

॥ पाँचवाँ अङ्क समाप्त ॥



परिशिष्टम्

(क)

अकारादिक्रम से नाटक में प्रयुक्त सूक्तियों की सूची

अंक-पद्य अथवा गद्य संख्या

१. अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात् ।
नवसंरोहणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् ॥ (१–८)

२. अतिमात्रभासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादनलः ।
अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशापरिगृहीतः ॥ (१–१३)

३. अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिध्यता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति ।
परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ॥ (३–१५)

४. अनुरागोऽनुरागेण परीक्षितव्यः (३–१०३)

५. अन्योन्यकलहितयोर्मत्तहस्तिनोरेकतरस्मिन्ननिर्जिते
कुत उपशमः । (१–१०२)

६. अयं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव ।
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि ॥ (१–९)

७. अहो कुम्भीलकैः कामुकैश्च परिहरणीया खलु चन्द्रिका । (४–९७)

८. अहो अविश्वसनीयाः पुरुषाः । (३–१४७)

९. अहो दुरासदो राजमहिमा । (१–६८)

१०. अहो परिभवोपहारिणो विनिपाताः । (५–९९)

११. अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति । (२–१७)

१२. आगामि सुखं वा दुःखं वा हृदयं समर्थीकरोति । (५–५२)

१३. उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः ।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु ॥ (२–६)

१४. कर्मगृहीतेन कुम्भीलकेन सन्धिच्छेदनं शिक्षितोऽस्मीति वक्तव्यं भवति । (३–१४८)
१५. कामं खलु सर्वस्यापि कुलविद्या बहुमता । (१–२८)
१६. कार्त्स्न्येन निर्वर्णयितुं च रूपमिच्छन्ति तत्पूर्वसमागमानाम् ।
न च प्रियेष्वायतलोचनानां समग्रपातीनि विलोचनानि ॥ (४–८)
१७. किं नु खलु दर्दुरा व्याहरन्तीति देवः पृथिवीं विस्मरति । (४–१७०)
१८. कुतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः । (४–१०८)
१९. चन्दनं खलु मया पादुकापरिभोगेण दूषितम् (५–६४)
२०. आम्राङ्कुरं विचिन्वत्योरावयोः पिपीलिकाभिर्दष्टम् । (३–७६)
२१. तनुभृतामीदृशी लोकयात्रा । (५–९२)
२२. न शोच्यस्तत्रभवान् सफलीकृतभर्तृपिण्डः । (५–९२)
२३. नन्वाकृतिविशेषेष्वादरः पदं करोति । (१–२२)
२४. न शोभते प्रणयिजने निरपेक्षता (३–१५३)
२५. न हि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गजः । (१–४६)
२६. न हि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम् ।
कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ॥ (४–६)
२७. निसर्गनिपुणाः स्त्रियः । (३–२३)
२८. पण्डितपरितोषप्रत्यया ननु मूढा जातिः । (२–३४)
२९. पत्तने विद्यमानेऽपि ग्रामे रत्नपरीक्षा । (१–९३)
३०. पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः ।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥ (१–६)
३१. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धिः ॥ (१–२)
३२. प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः ।
अन्यसरितां शतानि हि समुद्रगाः प्रापयन्त्यब्धिम् ॥ (५–१९)
३३. प्रायः समानविद्याः परस्परयशःपुरोभागाः ॥ (१–२०)
३४. बन्धनभ्रष्टो गृहकपोतको बिडालिकालोके पतितः । (४–१७८)

३५. भ्रमरसंबाध इति वसन्तावतारसर्वस्वभूतः किं नाम्रप्रसवोऽवतंसनीयः। (३–१०७)

३६. मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनम्। (३–३६)

३७. मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः।
पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः॥ (२–७)

३८. मया नाम मुग्धचातकेनेव शुष्कघनगर्जितेऽन्तरिक्षे जलपानमिष्टम्। (२–३२)

३९. रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः। (४–१४२)

४०. लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति॥ (१–१७)

४१. विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयति। (१–१११)

४२. श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥ (१–१६)

४३. सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय। (१–११८)

४४. सर्वोऽपि नववरो लज्जातुरो भवति। (५–४१)

४५. साधु त्वं दरिद्र आतुर इव वैद्येनोपनीयमानमौषधमिच्छसि। (२–४१)

४६. सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशदर्शने न निपुणो भवति। (१–१२१)

४७. स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः। (३–१४)

(ख)

नाटकीय पारिभाषिक शब्दों की संक्षिप्त व्याख्या

नान्दी

यह नाटक का एक पारिभाषिक शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति निम्नलिखित है—

'नन्दन्ते स्तूयन्ते देवता अस्यां='नान्दी', जिसमें देवताओं का अभिनन्दन किया जाए। आचार्य विश्वनाथ ने नान्दी की परिभाषा यों की है—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥

अर्थात्—

ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए आशीर्वादात्मक वाक्य से युक्त नाटक के आरम्भ में की देव-ब्राह्मण-नृपादि की माङ्गलिक प्रार्थना को 'नान्दी' कहते हैं।

सूत्रधार

यह नाट्यशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसकी व्युत्पत्ति निम्नलिखित है—

सूत्रं धारयतीति = सूत्रधारः, अर्थात् नाटक का वह प्रधान नट जो नाटकीय कथावस्तु के भिन्न-भिन्न उपकरणों के सूत्र को सँभालता है उसे 'सूत्रधार' कहा जाता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार 'सूत्रधार' की परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है—

नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते॥

अर्थात्—

नाट्य के भिन्न-भिन्न उपकरणों को सूत्र कहते हैं और जो नट उन्हें सँभालता है उसे सूत्रधार कहते हैं।

सूत्रधार की एक और भी सरल एवं संक्षिप्त परिभाषा दी गई है वह इस प्रकार है—

वर्णनीय कथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते।
रङ्गभूमिं समासाद्य सूत्रधारः स उच्यते॥

अर्थात्—

वह प्रधान नट-विशेष, जो सर्वप्रथम रंगमञ्च पर आकर वर्णनीय कथासूत्र की सूचना देता है, सूत्रधार कहा जाता है। इसे हम रंगमंचव्यवस्थापक (Stage-Manager) भी कह सकते हैं।

प्रस्तावना

प्रस्तूयते = उपस्थाप्यते नाटकस्य कथावस्तु यत्र सा प्रस्तावना, अर्थात् जिसमें नाटक की कथावस्तु को प्रस्तुत किया जाय, उसे 'प्रस्तावना' कहते हैं। जैसे कहा भी है—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्वक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥

अर्थात्—

नाटक का वह भाग जिसमें नटी, विदूषक या पारिपार्श्विक अपने प्रस्तुत कार्य के सम्बन्ध में सुन्दर एवं रोचक शब्दों में सूत्रधार के साथ वार्तालाप करते हैं, उसे 'आमुख' या 'प्रस्तावना' कहते हैं। इसे नाटक की भूमिका (Introduction) कह सकते हैं।

नेपथ्य

कुशीलव-कुटुम्बस्य स्थलं नेपथ्यमुच्यते।

अर्थात्—

रंगमंच के समीप के उस स्थान को, जहाँ पर नट लोग अपनी वेशभूषा धारण करते हैं 'नेपथ्य' (Green Room) कहते हैं।

विष्कम्भक

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः।
शुद्धः स्यात् स तु संकीर्णो नीचमध्यप्रकल्पितः॥

अर्थात्—

विष्कम्भक नाटक में किसी भी अंक के आदि में आने वाला वह भाग है, जिसमें मध्यम श्रेणी के एक या दो पात्रों द्वारा पारस्परिक वार्तालाप में भूत या भविष्यत् की नाटकीय कथावस्तु से सम्बद्ध घटनाओं को सूचित किया जाता है। यह दो प्रकार का होता है:—

१. शुद्ध विष्कम्भक। २. संकीर्ण या मिश्र विष्कम्भक। शुद्ध विष्कम्भक वह होता है, जिसमें दोनों पात्र मध्यम श्रेणी के हो। शुद्ध विष्कम्भक में संस्कृत भाषा का ही प्रयोग होता है।

मिश्र या संकीर्ण विष्कम्भक वह होता है जिसमें एक पात्र मध्यम श्रेणी का हो और एक निम्न श्रेणी का। मिश्र विष्कम्भक में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग होता है। देखिए अंक १ ४० टिप्पण।

प्रवेशक

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा॥

अर्थात्—

प्रवेशक नाटक में दो अङ्कों के बीच में आने वाला वह भाग है, जिस में निम्नकोटि के पात्र अपनी निम्न प्रकार की उक्तियों से नाटकीय कथावस्तु से सम्बद्ध भूत या भविष्यत् की घटनाओं की सूचना देते हैं। क्योंकि इसमें निम्नकोटि के पात्र होते हैं, इसलिए इसकी भाषा प्राकृत है और क्योंकि इसका प्रयोग दो अङ्कों के बीच में होता है, इसलिए प्रथम अंक के आरम्भ में कभी नहीं आता। देखिए अंक ३ संख्या १२ टिप्पण।

प्रवेशक और विष्कम्भक में भेद

प्रवेशक नाटक में दो अङ्कों के बीच में आने वाला वह भाग है, जिसमें निम्न कोटि के पात्र पारस्परिक वार्तालाप द्वारा नाटकीय कथावस्तु से सम्बद्ध भूत या भविष्यत् की घटनाओं की सूचना देते हैं। इसकी भाषा सदा प्राकृत होती है और यह नाटक के प्रथम अंक के आदि में कभी नहीं आता।

परन्तु विष्कम्भक में अङ्क के आदि में मध्यम कोटि के पात्र पारस्परिक वार्तालाप द्वारा नाटकीय कथावस्तु से सम्बद्ध भूत या भविष्यत् की घटनाओं की सूचना देते हैं। इसमें मध्यम श्रेणी के पात्रों के होने के कारण संस्कृत भाषा का प्रयोग होता है। जहाँ पर मध्यम तथा निम्न दोनों श्रेणी के पात्रहोते हैं, वहाँ संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग होता है। क्योंकि इसके लिए दो अङ्कों के बीच में आने का नियम नहीं है, इसलिए यह प्रथम अङ्क के आदि में भी आ सकता है। जहाँ पर मध्यम श्रेणी के पात्र होते हैं, उसे शुद्ध और जहाँ पर मध्यम तथा निम्न श्रेणी के मिले हुए होते हैं, उसे मिश्र या संकीर्ण विष्कम्भक कहते हैं। प्रवेशक में इस प्रकार का कोई भेद नहीं होता। मिश्र विष्कम्भक के लिए देखिए अङ्क १, ४० टिप्पण।

प्रवेशक और विष्कम्भक के विषय में इतना और जान लेना आवश्यक है कि नाटकीय कथावस्तु के साधारणतया दो भेद किये हैं:—

१. दृश्य, २. सूच्य। जो भाग बड़ा सरस और रोचक होता है, वही रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाता है, उसे दृश्य कहते हैं और जो भाग कुछ नीरस और अरुचिकर होता है, परन्तु नाटकीय कथावस्तु के पौर्वापर्य की शृंखला को समझने के लिए जिसका जानना अत्यावश्यक है, उसका रंगमंच पर प्रदर्शन नहीं किया जाता, प्रत्युत विभिन्न प्रकार से उसकी सूचना-मात्र दी जाती है। सूचना देने के लिए संस्कृत नट्यशास्त्रकारों ने पांच प्रकार (=१. विष्कम्भक, २. चूलिका ३. अङ्कास्य, ४. अङ्कावतार, ५. प्रवेशक) माने हैं। इन्हीं पांच प्रकारों में से विष्कम्भक और प्रवेशक दो प्रकार हैं।

प्रकाशम्

इसका वास्तविक अर्थ समझने के लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि अभिनय की आवश्यकता के अनुसार नाटकीय कथावस्तु को तीन भागों में बांट गया है:—

१. सर्वश्राव्य, २. नियतश्राव्य, ३. अश्राव्य।

इसमें प्रथम अर्थात् सर्वश्राव्य नाटकीय कथावस्तु का वह भाग है जिसका

रंगमंच के सभी पात्रों को सुनाना अभीष्ट होता है। इसी को प्रदर्शित करने के लिए 'प्रकाशम्' यह शब्द प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है 'प्रकट रूप में'।

जनान्तिकम्

यह एक नाटकीय पारिभाषिक शब्द है, जो कि रंगमंच पर प्रदर्शित किये जाने वाले 'नियतश्राव्य' कथावस्तु के लिए, अर्थात् कथावस्तु के उस भाग के लिये जो रंगमंच पर सबको नहीं, प्रत्युत कुछ नियत व्यक्तियों को ही सुनाया जाता है, प्रत्युक्त होता है। भाव यह कि 'जनान्तिकम्' इस नाट्योक्ति का प्रयोग वहाँ होता है जहाँ पर कोई पात्र रङ्गमञ्च पर स्थित अन्य पात्रों से किसी बात को छिपाने के लिए एक ओर को होकर शनैः-शनैः किसी पात्र से बात करता है। इसकी परिभाषा दशरूपककार ने इस प्रकार की है :—

त्रिपताककरेणाऽन्यानपवार्यान्तरा कथाम्।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात् जनान्ते तज्जनान्तिकम्॥

अर्थात्—

रङ्गमञ्च पर किसी कथा के चालू होने पर जब कोई पात्र तीन अँगुली उठाये हुए अपने हाथ से दूसरों की दृष्टि को अपनी ओर से बचाकर किसी पात्र के समीप में होकर सम्भाषण करता है, तो उसे 'जनान्तिकम्' कहते हैं।

स्वगतम्

इसका प्रयोग कथावस्तु के उस भाग के लिए होता है, जो किसी भी पात्र को नहीं सुनाया जाता इसके द्वारा स्थिति-विशेष में पात्र-विशेष के मानसिक भावों की अभिव्यक्ति होती है। इससे पात्र-विशेष के मानसिक भावों की झलक मिलती है जिससे उस पात्र के चरित्र की अभिव्यक्ति होती है। कभी-कभी स्वगत-सम्भाषण दर्शकों के लिए नाटकीय कथावस्तु के पौर्वापौर्य की शृंखला बांधने में भी सहायक सिद्ध होता है। 'स्वगत' 'मन ही मन बोलना' होता है।

अपवारितकम्

इसकी परिभाषा साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रकार की है:—

....................तद् भवेदपवारितम् ।
रहस्यं तु यद्वदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ॥

अर्थात्—

अन्य व्यक्तियों की ओर ये मुंह फेर कर किसी पात्र-विशेष के प्रति जो किसी गुप्त रहस्य का प्रकाशन किया जाता है, उसे 'अपवारितकम्' कहते हैं ।

कञ्चुकी

यह एक नाटकीय पारिभाषिक शब्द है जिसकी परिभाषा नाट्यशास्त्रप्रणेता भरत मुनि ने निम्न प्रकार से दी है :—

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः ।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥

अर्थात्—

कञ्चुकी उस कार्य-कुशल व्यक्ति को कहते हैं, जो जाति से सर्वगुणसम्पन्न ब्राह्मण हो और राजा के अन्तःपुर में भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों के लिए नियुक्त हो ।

'कञ्चुक' शब्द एक लम्बे चोगे के लिए प्रयुक्त होता है । प्राचीन काल में राजाओं के अन्तःपुर में नियुक्त प्रबन्धक 'कञ्चुक' पहना करता था । इसलिए उसे कञ्चुकी कहा करते थे ।

भरतवाक्य

यह शब्द संस्कृत नाट्य-साहित्य में नाटक के अन्त में आने वाले उस श्लोक के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें राष्ट्र की समृद्धि के लिए नाटक के किसी प्रधान पात्र के द्वारा प्रार्थना की जाती है । नाट्य-शास्त्र के प्रणेता भरतमुनि के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए ही इस अन्तिम श्लोक को भरतवाक्य कहा जाता है ।

कुछ विद्वानों के अनुसार 'भरत' अर्थात् नाटक के किसी नट की उक्ति होने के कारण ही इसे 'भरतवाक्य' कहा जाता है (तु० जी० के० भट्ट) । इस पद में कभी-कभी कवि के जीवन के सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण संकेत भी मिल जाते हैं । यह नाटक-समाप्ति पर शुभ-कामना होती है ।

(ग)

संक्षिप्त छन्दोविज्ञान

संस्कृत-साहित्य में प्राचीन काल से छन्दों को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भारतवर्ष की प्राचीनतम साहित्यिक रचना 'ऋग्वेद' आदि से अन्त तक छन्दोमय है। उसका प्रत्येक मन्त्र छन्दोमय है। इसलिए हम यहां पर पाठकों की सुविधा के लिए छन्दों के सम्बन्ध में दो-चार शब्द लिखने के पश्चात् प्रस्तुत नाटक में प्रयुक्त छन्दों की परिभाषा एवं उनके उदाहरण आदि भी देना उचित समझते हैं।

वैदिक एवं अलौकिक छन्दों में भेद

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, समस्त 'ऋग्वेद' छन्दों में निबद्ध है। इसके अतिरिक्त सामवेद भी छन्दों में ही लिखा गया है। यजुर्वेद गद्य है तथा अथर्ववेद में कहीं गद्य कहीं पद्य है। वह भी अधिकांश कविता-बद्ध ही है। वैदिक साहित्य के उपरान्त अब हम लौकिक साहित्य में आते हैं, तो वहां पर भी हमें अनेक छन्दों का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार हम छन्दों को साधारणतया दो भिन्न भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

१. वैदिक। २. लौकिक।

इन दोनों प्रकार के छन्दों पर कुछ सूक्ष्म दृष्टि डालने पर इनमें परस्पर कुछ भेद स्पष्ट दिखाई देता है। इसलिए इसकी पारस्परिक विभिन्नता के सम्बन्ध में एक-दो निम्न निर्दिष्ट बातें ध्यान में रखनी चाहिए :—

वैदिक छन्दों में वर्णों की संख्या प्रधान होती है। उनमें लौकिक छन्दों के, समान लघु या गुरु वर्णों का विचार नहीं होता।

दूसरी ओर लौकिक वार्णिक छन्दों का वर्णों की संख्या के साथ-साथ लघु और गुरु का भी विचार किया जाता है। एक उदाहरण से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगी। उदाहरण के लिए अनुष्टुप् छन्द को ही लीजिए। इसका वैदिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के साहित्यों में प्रयोग होता है। दोनों में इसके

चार-चार पाद (चरण) होते हैं और प्रत्येक चरण में आठ-आठ वर्ण होते हैं। इस प्रकार इस समस्त श्लोक में बत्तीस वर्ण होते हैं। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में वैदिक अनुष्टुप् का लक्षण निम्न प्रकार से किया गया है :—

द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् चत्वारोऽष्टाक्षराः समाः ॥

अर्थात्—अनुष्टुप् छन्द में बत्तीस वर्ण होते हैं और उनके चारों चरण समान रूप में आठ-आठ वर्ण के होते हैं।

यद्यपि लौकिक अनुष्टुप् में भी चार चरण और प्रत्येक चरण में आठ-आठ वर्ण होते हैं, परन्तु इसके प्रत्येक पाद का पाँचवाँ वर्ण लघु और छठा गुरु होता है। दूसरे और चौथे पाद में सातवाँ वर्ण लघु और अन्य दो पादों में अर्थात् प्रथम और तृतीय में सातवाँ वर्ण दीर्घ होता है, जैसे—

। ऽऽ । ऽ ।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च यत्र पुष्पाश्च सम्पदः।

। ऽ ऽ । ऽ

वैराजा नाम ते लोकास्तैजसाः सन्तु ते शिवाः ॥

ऊपर दिये गये श्लोक में लगाये हुए चिह्नों से स्पष्ट होता है कि इसमें अनुष्टुप् छन्द को ऊपर-निर्दिष्ट परिभाषा ठीक-ठीक घटती है और इस छन्द में वर्णों की लघुता और गुरुता पर इसकी परिभाषा विशेष रूप से निर्भर है।

लौकिक छन्दों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें

लौकिक संस्कृत-काव्य-क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले छन्दों के सुगम परिज्ञान के लिए छन्दः-शास्त्र के आचार्यों ने आठ गणों की कल्पना की है। प्रत्येक गण में तीन अक्षर (Syllables) होते हैं। ये सब अक्षर दीर्घ भी हो सकते हैं, ह्रस्व भी हो सकते हैं और आदि, मध्य या अन्त में ह्रस्व एवं दीर्घ भी हो सकते हैं। इन गणों की कल्पना से यह लाभ है कि छन्दों की परिभाषा करते समय प्रत्येक छन्द में यह नहीं कहना पड़ता कि 'अमुक छन्द के पहले दीर्घ, फिर ह्रस्व, पुनः दीर्घ और पुनः ह्रस्व—इत्यादि प्रकार से वर्णों का क्रम होता है। इस प्रकार परिभाषाएँ करने से परिभाषाएँ बहुत लम्बी होती हैं। इसलिए इस गौरव से बचने के लिए और संक्षेप से विभिन्न छन्दों की परिभाषा करने के लिए इन गणों की कल्पना बहुत

हो महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि गणों की कल्पना कर लेने पर किसी छन्द की परिभाषा बताने के लिए संक्षेप में इतना कहना पर्याप्त है कि 'अमुक छन्द में प्रत्येक पाद में में ये-ये गण इस क्रम से रखे जाते हैं, जैसे—वसन्ततिलका छन्द में वर्णों का क्रम 'तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु' इस प्रकार होता है। इसी प्रकार अन्य छन्दों की भी बड़ी सरलता से संक्षिप्त परिभाषाएँ दी जा सकती हैं।

ऊपर निर्दिष्ट आठ गणों के लक्षण निम्नलिखित एक ही श्लोक में बड़ी स्पष्टता से दिए गए हैं—

मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो
भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः
सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः॥

अर्थात्—

१. म (मगण) में तीनों वर्ण दीर्घ (गुरु) होते हैं।	SSS
२. न (नगण) में तीनों वर्ण लघु होते हैं।	।।।
३. भ (भगण) में आदि गुरु और पुनः दोनों लघु होते हैं।	S।।
४. य (यगण) में आदि वर्ण लघु और बाकी दोनों गुरु होते हैं।	।SS
५. ज (जगण) में मध्य में गुरु और दोनों ओर लघु वर्ण होते हैं।	।S।
६. र (रगण में मध्य में लघु और दोनों ओर दीर्घ वर्ण होते हैं।	S।S
७. स सगण) में अन्त में गुरु और पहले दो वर्ण लघु होते हैं।	।।S
८. त (तगण) में अन्त मे लघु और पहले दो वर्ण गुरु होते हैं।	SS।

नोट—ऊपर दी गई गणों की परिभाषा के अन्त मे प्रदर्शित प्रकार के चिह्नों में 'S' यह चिह्न गुरु का होता है और '।' यह चिह्न लघु का होता है।

छन्दों को साधारण रूप से निम्न दो भागों में विभक्त किया गया है—

१. वार्णिक छन्द। २. मात्रिक छन्द।

जैसा कि 'वार्णिक' इस शब्द से ही स्पष्ट है, वार्णिक छन्दों में प्रत्येक पाद में वर्णों की संख्या नियत होती है।

इसी प्रकार मात्रिक छन्दों के प्रत्येक पाद में मात्राओं की संख्या नियत होती है।

मात्रायें गिनने की विधि

मात्राओं की गणना करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि ह्रस्व स्वर की एक मात्रा होती है और दीर्घ स्वर की दो मात्राएँ होती हैं, परन्तु यदि किसी ह्रस्व से परे संयुक्त व्यञ्जन हो, तो उस ह्रस्व स्वर को भी छन्दःशास्त्र के अनुसार दीर्घ गिना जाता है और उसकी दो मात्राएं होती हैं, जैसे---'अङ्क' इस शब्द में 'अ' यद्यपि ह्रस्व है तथापि 'ङ्' और 'क' इन संयुक्त वर्णों के परे होने पर इसे दीर्घ माना जाता है।

प्रत्येक श्लोक में चार पाद होते हैं, जिनमें प्रथम और तृतीय को विषम तथा द्वितीय और चतुर्थ को सम पाद कहते हैं।

छन्दों के विषय में दो-चार प्रारम्भिक बातें, जिनका संकेत ऊपर किया जा चुका है, ध्यान में रखकर छन्दों की परिभाषा आदि को पाठक भली प्रकार समझ सकेंगे।

अब नीचे 'मालविकाग्निमित्र' में प्रयुक्त छन्दों की परिभाषाएँ पृथक्-पृथक् दी जाती हैं।

१--अनुष्टुप्--

नोट--इसे श्लोक छन्द या गाथा छन्द भी कहते हैं।

परिभाषा--

श्लोके षष्टं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

अर्थात्--

अनुष्टुप् या श्लोक छन्द में प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं जिनमें छठा अक्षर सर्वत्र गुरु और पाँचवां लघु होता है। दूसरे और चौथे पाद में सातवां अक्षर ह्रस्व तथा अन्य दो पादों में, अर्थात् प्रथम तथा तृतीय पाद में सातवां अक्षर दीर्घ होता है, जैसे---

उभावप्यभिनयाचार्यौ परस्परजयोद्यतौ।
त्वां द्रष्टुमिच्छतः साक्षाद् भावाविव शरीरिणौ॥१-१०॥

इस श्लोक के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर हैं और प्रत्येक पाद का पंचम अक्षर लघु तथा छठा गुरु है। दूसरे और चौथे पाद का सप्तम अक्षर

लघु है तथा प्रथम और तृतीय पाद का सप्तम अक्षर गुरु है।

पथ्यावक्त्र —

युजोश्चतुर्थतो जेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम् ॥

यह एक अनुष्टुप् जाति का छन्द है। इसमें यही विशेषता है कि इसके 'युजोः' समपादों अर्थात् द्वितीय-चतुर्थ पादों में चतुर्थ अक्षर के बाद जगण (।ऽ।) होता है जैसे—

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुषः प्रतिपत्तयः ॥४-४॥

२—इन्द्रवज्रा—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।

अर्थात्—

इन्द्रवज्रा छन्द में प्रत्येक पाद में वर्णों का क्रम दो तगण, एक जगण और अन्त में दो गुरु, इस प्रकार होता है।

उपेन्द्रवज्रा—

उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।

उपेन्द्रवज्रा में जगण, तगण, जगण और दो गुरु होते हैं। इन दोनों के मेल से उपजाति बन जाता है, जैसे—

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषरूपा।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥१-१६॥

३—औपछन्दसिक—

पर्यन्ते यौ तथैव शेष-
मौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्।

अर्थात्—

औपछन्दसिक छन्द में वर्णक्रम वियोगिनी छन्द के समान होता है। उसकी अपेक्षा इस छन्द में केवल इतना ही अन्तर होता है कि इसके प्रत्येक पाद के अन्त में रगण और यगण अवश्य होते हैं और शेष वर्ण-क्रम आदि वियोगिनी के समान होता है अथवा दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यह एक अर्धसम

छन्द है, जिसके प्रथम और तृतीय पाद में क्रमशः दो सगण, एक जगण और अन्त में दो गुरु होते हैं, द्वितीय और चतुर्थ पाद में क्रमशः एक सगण, एक भगण, एक रगण और अन्त में एक यगण होता है।

नोट—इस छन्द को सुन्दरी या मालभारिणी भी कहते हैं—

विषमे ससजा गुरुः समे चेत्
सभरा येन तु मालभारणीयम् ॥

क रुजा हृदयप्रमाथिनी क च ते विश्वसनीयमायुधम्।
मृदु तीक्ष्णतरं यदुच्यते तदिदं मन्मथ दृश्यते त्वयि ॥८-२॥

४ पुष्पिताग्रा –

अयुजि नयुगरेफतो यकारो
युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।

अर्थात्—पुष्पिताग्रा छन्द में विषम (अयुज्) पाद में, अर्थात् प्रथम तथा तृतीय पाद में, दो नगण, एक रगण तथा एक यगण और सम (युज्) पाद में अर्थात् द्वितीय एवं चतुर्थ पाद में न, ज, ज, र और अन्त में गुरु, इस प्रकार वर्णों का क्रम होता है। जैसे—

न च न परिचितो न चाप्यगम्यः चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णाः ॥१-११॥

५. द्रुतविलंबित—

द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।

अर्थात्—

द्रुतविलम्बित छन्द में वर्णों का क्रम न, भ, भ और रगण इस प्रकार होता है, जैसे—

अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी -लघुभिराभरणैः प्रतिभाति मे।
उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका, गतहिमैरिव चैत्रविभावरी ॥५-७॥

६. प्रहर्षिणी—

त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्।

अर्थात्—

प्रहर्षिणी छन्द में वर्णों का क्रम म, न, ज, र और गुरु इस प्रकार होता है और तीसरे तथा दस अक्षर पर यति होती है, जैसे—

जीमूतस्तनित-विशंकिभिर्मयूरै—
रुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्लादिन्युपहितमध्यम स्वरोत्था
मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥ १-२१ ॥

७-पृथ्वी—

जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।

अर्थात्—

पृथ्वी छन्द में प्रत्येक पाद में वर्णों का क्रम ज, स, ज, स, य और अन्त में लघु और गुरु—इस प्रकार होता है और आठवें तथा उसके आगे नवें अक्षर पर यति होती है, जैसे—

अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराराविणा
नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन सम्भावितः।
अशोक! यदि सद्य एव कुसुमैन संपत्स्यसे
वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम् ॥ ३-१७ ॥

८-मालिनी—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

अर्थात्—

मालिनी छन्द में वर्णों का क्रम न, न, म, य य, इस प्रकार होता है और आठवें तथा उससे आगे सातवें अक्षर पर यति होती है, जैसे—

जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये
वचनमभिनयन्त्या स्वांग-निर्देश-पूर्वम्।
प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणी संनिकर्षाद्
अहमिव सुकुमार-प्रार्थना-व्याजमुक्तः ॥ २-५ ॥

९-मन्दाक्रान्ता—

मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्।

अर्थात्—

मन्दाक्रान्ता छन्द में वर्णों का क्रम म, भ, न, दो तगण और अन्त में दो गुरु, इस प्रकार होता है और चार, छः तथा सात पर यति होती है, जैसे—

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षम्
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥२–६॥

१०–शार्दूलविक्रीडित—

सूर्याश्वैर्यदि मसजाः सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।

अर्थात्—

शार्दूलविक्रीडित छन्द के वर्णों का क्रम म, स, ज, स, त, त और गुरु, इस प्रकार होता है और बारहवें तथा सातवें अक्षर पर यति (विराम) होता है, जैसे—

हस्तं कम्पवती रुणद्धि रशनाव्यापारलोलांगुलिम्
हस्तौ स्वौ नयति स्तनावरणतामालिंग्यमाना बलात्।
पातुं पक्ष्मल-चक्षुरुन्नमयतः साचीकरोत्याननम्
व्याजेनाप्यभिलाषपूरणसुखं निर्वर्तयत्येव मे ॥४–१५॥

नोट—ऊपर दिये गये लक्षण में 'सूर्याश्वैः' इस पद का 'बारह' और सात यह अर्थ होता है, क्योंकि एक वर्ष में बारह महीने होने के कारण महीनों के भेद से सूर्य के भी बारह भेद मान लिए जाते हैं और 'अश्व' शब्द 'सात' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, क्योंकि पौराणिक परम्परा के अनुसार सूर्य के सात घोड़े माने गए हैं।

११–वंशस्थ—

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।

अर्थात्—

वंशस्थ छन्द के प्रत्येक पाद में वर्णों का क्रम ज, त, ज, र—इस प्रकार होता है।

अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिध्यता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति ।
परस्पर-प्राप्ति-निराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ॥३-१५॥

१२. वसन्ततिलका —

उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।

अर्थात्—

वसन्ततिलका छन्द के प्रत्येक पाद में वर्णो का क्रम तगण, भगण, जगण, जगण और अन्त में दो गुरु, इस प्रकार होता है, जैसे—

द्वारे नियुक्तपुरुषानुमतप्रवेशः,
सिंहासनान्तिकचरेण सहोपसर्पन् ।
तेजोभिरस्य विनिवर्तित-दृष्टिपातै-
र्वाक्याहते पुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि ॥१-१२॥

१३. शिखरिणी—

रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी ।

अर्थात्—

शिखरिणी छन्द में वर्णो का क्रम य, म, न, स, भ और अन्त में लघु तथा गुरु इस प्रकार होता है तथा छठे और ग्यारहवें पर यति (विराम) होती है, जैसे-

शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिंगनसुखे
भवेत्सास्त्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति ।
तया सारंगाक्ष्या त्वमसि न कदाचित् विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय-परितापं वहसि किम् ॥३-६॥

१४. हरिणी—

नसमरसला गः षड्वेदैर्हरिणी मता ।

अर्थात्—

हरिणी छन्द में वर्णो का क्रम न, स, म, र, स तथा लघु एवं गुरु इस प्रकार होता है और पहले छठे, फिर चौथे और सातवें पर यति होती है, जैसे—

विरचितपदं वीरप्रीत्या सुरोपमसूरिभिः
चरितमुभयोर्मध्येकृत्य स्थितं क्रथकैशिकान् ।
तव हृतवतो दण्डानीकैर्विदर्भपतेः श्रियं
परिघ-गुरुभिर्दोर्भिः शौरेः प्रसह्य च रुक्मिणीम् ॥ ५–२ ॥

१६ शालिनी—

मात्तौ गौ चेच्छालिनी भोगिलोकैः ।

शालिनी छन्द में वर्णों का क्रम मगण, दो तगण, और अन्त में दो गुरु—इस प्रकार होता है और आठ तथा तीन वर्ण पर यति होती है ।

नायं देव्या भाजनत्वं न नेयः
सत्काराणामीदृशानामशोकः
यः सावज्ञो माधवश्रीनियोगे
पुष्पैः शंसत्यादरं त्वन्नियोगे ॥

१६. आर्या—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥

अर्थात्—

आर्या छन्द में प्रथम और तृतीय पाद में बारह-बारह मात्राएँ होती हैं और द्वितीय पाद में अठारह तथा चतुर्थ में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं, जैसे—

किसलयमृदोर्विलासिनि निहितस्य पादपस्कन्धे ।
चरणस्य न ते बाधा सम्प्रति वामोरु वामस्य ॥३–१८॥

इस श्लोक में मात्राएँ गिनने से ज्ञात होगा कि इसमें प्रथम तथा तृतीय पाद में बारह-बारह मात्राएँ हैं और द्वितीय में अठारह तथा चतुर्थ में पन्द्रह मात्राएँ हैं ।

नोट—मात्रिक छन्दों मे मात्राएँ गिनने को विधि पहले ही लिखी जा चुकी है । पाठक उसे वहीं मे देखने का कष्ट करें ।

२०. रुचिरा—

रुचिरा छन्द का लक्षण निम्न प्रकार से है—

जभौ सजौ गीति रुचिरा चतुर्ग्रहैः ॥

अर्थात्

रुचिरा छन्द में वर्णों का क्रम जगण, भगण, सगण, जगण और अन्त में गुरु तथा ४-९ वर्णों पर यति इस प्रकार होता है, जैसे—

कदा मुखं वरतनु कारणाद्दते
तवागतं क्षणमपि कोपपात्रताम् ।
अपर्वणि ग्रहकलुषेन्दुमण्डला
विभावरी कथय कथं भविष्यति ॥ ४–१६ ॥

२१. अपरवक्त्र—

अपरवक्त्र छन्द की परिभाषा निम्न प्रकार से है—

अयुजि ननरला गुरुः समे
तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ ॥

अर्थात् अपरवक्त्र छन्द में विषम पादों में, अर्थात् प्रथम और तृतीय पादों में वर्णों का क्रम दो नगण, एक रगण और अन्त में एक लघु तथा सम पादों में अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ पादों में नगण, दो जगण और अन्त में रगण इस प्रकार होता है. जैसे :—

शठ इति मयि तावदस्तु ते
परिचयवत्यवधीरणा प्रिये ।
चरणपतितया न चण्डि तां
विसृजसि मेखलयापि याचिता ॥३–२०॥

२२. स्रग्धरा—

स्रग्धरा छन्द का लक्षण निम्न प्रकार से है—

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ।

र्थात् स्रग्धरा छन्द में वर्णों का क्रम म, र, भ, न तथा तीन यगण - इस स होता है और प्रत्येक सातवें वर्ण पर यति होती है, जैसे—

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिका-पद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभि परिचय-द्वेषि-पारावतानि।
बिन्दूत्क्षेपान्पिपासुः परिपतति शिखी भ्रान्तिमद्वारियंत्रम्
सर्वैरुस्रैः समग्रस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ॥२-१२॥

औपच्छन्दसिकम्—
पर्यन्ते यौ तथैव शेष त्वौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्।

अर्थात् यदि विषमपाद की छः मात्राओं के अनन्तर और समपाद की आठ मात्राओंके अनन्तर रगण, यगण हों तो उसे औपच्छन्दसिक कहते हैं। यह वैतालीय प्रकरण का छन्द है। जैसे—

चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः पश्य वयस्य रागरेखाम्।
प्रथमामिव पल्लवप्रसूतिं हरदग्धस्य मनोभवद्रुमस्य ॥३-२१॥

(घ)

अकारादिक्रम से मालविकाग्निमित्र की श्लोक-सूची

कार्यालय प्राचार्य,
राजकीय स्वायत्तशाषी,
महाविद्यालय, कोटा



अपील

कृपया पुस्तक लेने से पूर्व इसके संभावित अप्राप्य पृष्ठ, चित्र आदि की पूर्णतया जांच करले। यदि गड़वड़ी मिले तो तुरन्त सूचित करे। अन्यथा जमा करते समय पाई गई कमी के लिये छात्र स्वंय जिम्मेदार होगा।